श्री रत्नाकर कवि विरचित कानडी ग्रंथ

अपराजितेश्वर शतक

(उत्तर खंड)

टीकाकार एवं विवेचक—

श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज

प्रकाशक:—

सोहनलाल नेमचन्द जैन कागजी,

चावड़ी बाज़ार, देहली।

प्रति १००० } वीरनिर्वाण सं० २४८२
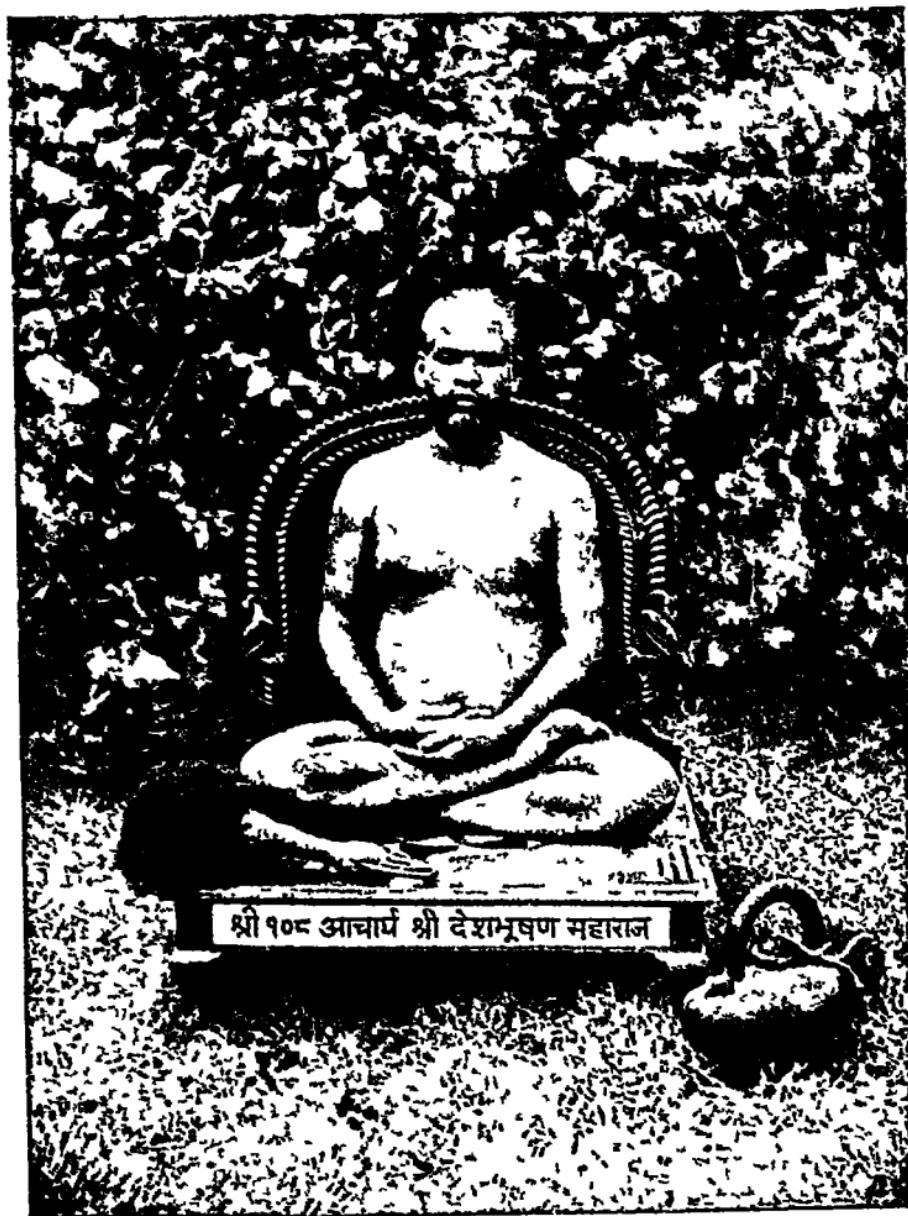
प्राक्कथन

कानड़ी भाषा के महान और सरस कवि श्री रत्नाकर वर्णी महोदय ने अपराजितेश्वरशतक नामक स्तुतिकाव्य की १२७ पद्योंमें रचना की। उस कानड़ी स्तुति काव्य का विशद विवेचन के साथ हिन्दी अनुवाद श्री १०८ श्री दिगबर जैन आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने किया है जिसके ६५ पद्य तो ६०० पृष्ठों में विशद विवेचनके साथगतवर्ष प्रकाशित हो चुके। इन ६५ पद्योंपर आपने यह विशद भाषा विक्रम सवत् २०११ के जयपुर चातुर्मास में अथक परिश्रम के साथ लिखा और जयपुर निवासी श्री राधा किशनजी टकसाली, उनकी धर्मपत्नी श्री रामदेवी और उनके पुत्र श्री हरीशचन्द्रजी ने अपने द्रव्यसे प्रकाशित कराया। उक्त विवेचन रूप भाषा में उक्त महाराज जी ने विविध विषयों पर प्रकाश डाल कर ग्रन्थको अत्यन्त उपयोगी और लाभकारी बनाया जिससे लाभ उठानेवाले बधु सदैव कृतज्ञ और आभारी रहेंगे।

इस वर्ष आचार्य जी ने भारत की राजधानी देहली में चातुर्मास किया है। साधु समुदाय को चातुर्मास के अतिरिक्त अन्य समय में एक स्थान पर ठहरने का अवसर नहीं मिलता। अन्य समय मे वे अनेक स्थानों मे विहार करते रहते हैं जिससे न तो लिखने का ही अधिक अवसर मिलता और न प्रकाश न की ही सुव्यवस्था बैठ सकती है। आचार्य श्री अपना सारा समय धर्मोपदेश और स्वाध्याय में ही लगाते हैं। जयपुर में भी अहोरात्र

आपका समय लिखने पढ़ने में ही बीतता था और देहली में भी उक्त कार्य में ही व्यतीत होता हुआ दीखा। इस चातुर्मास में दो बार देहली आने और महाराज जी से संपर्क स्थापित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ परन्तु दोनों ही बार आप अपने ध्याना-ध्ययनादि कार्य में तल्लीन और निमग्न पाये गये।

धर्मोपदेश, सामायिक, आहार आदि से अवशिष्ट समय में आप सदैव ध्यानाध्ययन, स्वाध्याय, लेखन आदि में ही तत्पर रहते हुये पाये। जयपुर में भी ऐसा ही होते देखा तो देहली में भी ऐसा ही! इसी स्वाध्यायाभिरुचि से आपने उक्त अपराजितेश्वरशतक के अवशिष्ट भाग पर यह पठनीय विशद भाषा लिखा है, जो समस्त धर्म बंधुओं के समक्ष है।

समस्त संप्रदायों के साधुओं की चर्या में निर्ग्रन्थ दिगंबर जैन साधु की चर्या अत्यन्त कठिनतम होती है। साधु का जैसा आदर्श स्वरूप होना चाहिये वैसा दिगम्बर जैन साधु में मिलता है। दिगम्बर जैन धर्म की आधारशिला, उसके आदर्श सिद्धान्त हैं। इस सैद्धांतिक धर्म के परमोच्च साधु के लिये २८ मूलगुण परमावश्यक होते हैं। इन २८ मूलगुणों में भी नग्नता केशलुं-चन आदि महान् गुण परम वीतरागता और शरीर-निःस्पृहता के प्रत्यक्ष द्योतक हैं। वास्तव में जिनके हृदय में अन्तर्बाह्य राग द्वेष परिग्रहादि से विरक्ति होती है वे ही इस परमोच्च पदके अधि-कारी होते हैं।

किसी के विषय में भी बात बना देना या उसकी समा-

लोचना जितना सरल है उतना उसका उत्तरदायित्व अपनी ओरसे निभाना सरल नहीं है। आजकल के बहुत से लोग आत्मरुचि की न्यूनता अथवा अभाव से ऐसे महान् त्याग के धारण करने वालों की समालोचना एवं अवहेलना इसीलिए करते रहते हैं कि उनका अपना गौरव उस त्याग से छिप जाता है।

आजकल लोग अपनी ओर न देखकर दूसरों की ओर देखने के अधिक अभ्यासी हो गये हैं। चाहे अपने में साधारण से साधारण आठ मूलगुण भी न हो परन्तु मुनियों में चौरासी लाख अट्ठाईस सारे के सारे निरतिचार ही देखना चाहते हैं। और मुनियों की परीक्षा में सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान जज से भी अधिक छानबीन करते हैं।

श्री १०८ आचार्य वर्य श्री शांतिसागर जी महाराज को उनके जीवन काल में जिन लोगों ने नहीं परखा और रात दिन समालोचनामें ही समय विताते रहे आज वे उनके गुणों पर न्योछावर हो रहे हैं। जिस जगद्वंदनीय लोकोत्तर महापुरुष ने अपने संयम की रक्षा के लिए प्राणों तक की जरा भी चिंता नहीं की और नेत्र ज्योति नष्टप्राय होते ही शरीर में किसी अन्य व्याधि या रोग के विना ही आजीवन सल्लेखना धारण कर ली, क्या ये साधारण वातें हैं? ३५ दिन तक निराहार अवस्था में रहकर बराबर आत्मलीनता में जागृत रहना और साधूचित समस्त कृत-कर्म करते रहना एवं सर्वथा आत्मजागृत अवस्था में प्राण-विसर्जन करना कोई खेल नहीं है।

श्री १०८ श्री देशभूषण जी महाराज जी उक्त आचार्य श्री के ही प्रशिष्य हैं। आप एक शांत वीतरागी महात्मा हैं। साथ में कानड़ी और मराठी भाषा के महान् विद्वान् भी हैं। आपने भरतेश वैभव, रत्नाकरशतक, परमात्म प्रकाश, धर्मामृत, निर्वाण-लक्ष्मीपति स्तुति, निरजनस्तुति आदि कानड़ी भाषा के महान् ग्रथों का हिन्दी, गुजराती, मराठी भाषाओं में अनुवाद किया है। अपराजितेश्वरशतक पर यह महाभाष्य आपके हाथमें है ही। गुरु शिष्य सवाद, चिन्मय चिंतामणि, अहिंसा का दिव्य सदेश, महावीर दिव्य सदेश आदि स्वतंत्र रचनायें भी आपने की हैं। चार वर्ष से चातुर्मास में जो आप दैनिक प्रवचन करते हैं उनका सार भाग भी जो प्रकाशित होता है वह भी महान् ग्रंथ के रूप में लोकोपकारी होता है। आप सस्कृत भाषा के भी पूर्ण ज्ञाता हैं आपका स्वभाव मृदुल, और अक्रोधमय शांत होने से आप में लोकप्रियता भी अच्छी है। आप प्रवचन और उपदेश देने में एक हैं। आपके तप, त्याग और उपदेश से प्रभावित होकर भारत के प्रमुख उद्योगपति श्री० सेठ जुगलकिशोर जी बिडला महोदय ने आपको नई देहली में स्थित बिडलामन्दिर के गीता भवन में आमन्त्रित कर ता० १६ अक्टूबर १६५५ को प्रवचन कराया जिसे १५००० हजार व्यक्तियों ने सुन कर लाभ उठाया।

आप गृहस्थावस्था में बेलगांव जिले के कोथलपुर गांव के रहनेवाले हैं। आपके पिता का नाम सत्यगौडा और माता का अक्कावती था, जो दोनों ही धर्मपरायण थे। आप का जन्म

संवत् १९६५ में हुआ और नाम बालगौंडा रक्खा गया। आप की माता आप को तीन मास की अवस्था में ही छोड़कर स्वर्गस्थ होगईं जिससे आप को माता का सुख तथा लालन पालन प्राप्त न हो सका। आप की मातामही (नानी) ने आपको पाला पोसा परन्तु ९ वर्ष की अवस्था जब आप की थी तो आप के पिता को भी काल ने अपना ग्रास बना लिया। आप के पिता संपत्ति-शाली और गांव के मुखिया थे। श्री सत्यगौडा के निधन से सारे गांव में शोक छा गया परन्तु विधि का विधान टल नहीं सकता था। आप की सपत्ति और कारबार की देख रेख आप के नाना ने ही की। आपके नाना ने आप को १६ वर्ष की उम्र तक मराठी और कानड़ी भाषा में शिक्षा दिला कर इन भाषाओं का विद्वान बनाया परन्तु आप को धर्म में रुचि बिल्कुल न थी, सगति भी आप की अच्छे लोगों से नहीं रही फलतः आप सदाचार से शून्य रहकर देव शास्त्र गुरु और देव दर्शन आदि सभी से दूर हो गये।

दैवयोग से एक बार उन्हीं दिनों श्री १०८ श्री दिगम्बर जैन मुनिराज श्री जयकीर्ति महाराज का शुभागमन हो गया। थोड़े दिन तो आप उनके पास गये ही नहीं परन्तु एक दिन उन के उपदेश सुनने का प्रसंग आ ही गया बस, उसी उपदेश ने आप के हृदय में धर्म का बीज डालने का काम दिया। उस उपदेश का ऐसा प्रभाव हुआ कि आप फिर तो प्रतिदिन जाने

लगे। इस प्रकार आप पर उक्त मुनि महाराज के उपदेशों का रंग जम गया।

आप वयस्कताके निकट पहुँचते जाते थे, संपन्न और प्रतिष्ठित प्रमुख घराने के थे ही सो विवाह की चर्चा चलने लगी। आप के नाना नानी ने संबंध निश्चित करके वाग्दान करना चाहा परन्तु आपने ज्योंही उनके प्रस्ताव को स्वीकार करने में आनाकानी की, कि आप पर चारों ओर से पर्याप्त दवाव इस लिए डलवाया गया कि आप विवाह करना स्वीकार करलें। आप के मित्रों ने भी जिनकी कि संगत में पहले रहा करते थे, बहुत दवाया परन्तु आपने सबको एक ही उत्तर दिया कि मैं सांसारिक झंझट में न पड़कर आत्मा के कल्याणकी ओर बढ़ूँगा। मेरी दृष्टि मुक्तवधू की तरफ है। मैं तो इस घर में भी रहना नहीं चाहता। मुझे इस धन सम्पत्ति से कोई प्रयोजन नहीं है। सारांश यह है कि बहुत कुछ समझाने पर भी आप न मान कर केवल १७ वर्ष की आयु में ही उक्त मुनि महाराज के साथ साथ वहां से चल दिये।

महाराज जी ने इन्हे भव्य जानकर धर्म शास्त्रों को पढ़ने का आदेश दिया और तदर्थ व्यवस्था की। आप ने कुछ दिनों में ही आवश्यक धर्म शास्त्रों का अभ्यास कर महाराज जी से ब्रह्मचारी पद की दीक्षा देने की प्रार्थना की, जिसे गुरुदेव ने स्वीकार कर आपको ब्रह्मचारी पद दे दिया। अब आप सप्तम श्रावक श्रेणीमें

पहुँच ब्रह्मचारी हो गये। ब्रह्मचर्य अवस्था में आप अपना भोजनादि का खर्चा अपने घर से ही मंगाकर करते थे।

थोड़े दिन ब्रह्मचारी अवस्था में रह कर जब रामटेक क्षेत्र में उक्त महाराज जी के साथ २ पहुँचे तो आपने और भी ऊँचा उठने की प्रार्थना की और गुरुदेव से मुनिदीक्षा देने को कहा। गुरुदेव ने पात्र समझ कर भी कहा कि अभी थोड़े दिन और अभ्यास करो, पीछे मुनि दीक्षा देंगे परन्तु आप जब न माने और बहुत ही अनुरोध किया तो गुरुदेव ने आप को मुनि दीक्षा तो न दी किन्तु श्रावक की अंतिम एकादशवीं श्रेणी (ऐलक-पद) की दीक्षा दी। यद्यपि आप मुनि दीक्षा ही चाहते थे और इस पद से संतुष्ट नहीं थे, तथापि गुरुदेव ने जो दिया उसी में संतोष मानकर ऐलक बने परन्तु एक वर्ष बाद ही आप जब सम्मेद-शिखरजी सिद्ध क्षेत्र पर पहुँचे तो फिर गुरुमहाराज से मुनि दीक्षा देने की सानुरोध प्रार्थना की जिसे गुरु महाराज को स्वीकार करना पड़ा और आप को मुनिदीक्षा दी। जब आप की आयु केवल २० वर्ष की थी, गुरुदेव ने आप को दीक्षित नाम श्री देशभूषण महाराज के नाम से घोषित किया। वास्तव में देश-भूषण ही हैं। २० वर्ष की युवावस्था में महान् कठोर तपस्या और त्यागवाली मुनिदीक्षा ले लेना कोई साधारण बात नहीं।

वीतराग साधु देशकी विभूतियां हैं। आज के भौतिक युग में वास्तविक त्यागी तपस्वियों की जितनी आवश्यकता है उतनी

ज्ञानियों की नहीं क्योंकि वर्तमानयुग में ज्ञान प्रसार से भी अधिक चारित्र के निर्माण की आवश्यकता है। जनता को चारित्र की ओर सन्मुख सच्चे वीतरागी तपस्वी चारित्रधारी ही कर सकते हैं।

मुनिजन से चारित्रोत्थान की दिशा में जनता को बड़ा भारी लाभ पहुँचता है। मुनिराजों के यत्र तत्र बिहार से चारित्र की दिशा में जन जागृति की बहुत कुछ रक्षा और उन्नति हुई है, त्याग की ओर जन भावना की भावना और प्रवृत्ति बढ़ी है। जो कि परमावश्यक थी ही और रहेगी।

श्री १०८ श्री देशभूषण जी महाराज ने इस अपराजितेश्वर शतक नाम के उत्तर खड में भी पिपठिपु लोगों के लिये बहुत कुछ सामग्री दी है। अनेक विषयोंपर पठनीय विवेचन कर गागर में सागर भरने की कहावत को चरितार्थ किया है।

इस पुस्तक के प्रकाशन व्यय के सबंध में श्री० लाला सोहन-लालजी जैन तथा आपके सुपुत्र श्री होशियारसिंह जी, नेमीचन्द्र जी, पृथ्वीसिंह जी और श्री रामशरणदास जी को धन्यवाद दिये विना नहीं रहा जा सकता। विदित हुआ है कि आपने ३८ रिम कागज की इस ग्रंथ के लिए भेंट की है। छपाई बाइंडिंग आदि में जो व्यय हुआ उसके दान दाता अपना नाम गुप्त ही रखना चाहते हैं अतः उनका नाम प्रकाशित करने में

असमर्थता है। उक्त सभी सज्जन धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रंथ का मुद्रण, संशोधन आदि सभी कार्य देहली में हुआ है अतः इस कार्य में जिन जिन का भी सहयोग रहा है, वे सभी धन्यवादार्ह हैं।

जयपुर
दीपमालिका वि० संवत् २०१२

गुरुचरणसरोरुह चचरीक
इन्द्रलाल शास्त्री, विद्यालंकार
प्रधान सम्पादक 'अहिंसा' पत्र

नम्र निवेदन

दक्षिण प्रान्त की कर्नाटक और तामिल दो प्रमुख भाषाएं हैं। जिस प्रकार तामिल साहित्य में कुरल एक मोहक कलापूर्ण ख्याति प्राप्त काव्य ग्रन्थ है उसी प्रकार अपराजितेश्वर शतक एक मनोहर आध्यात्मिक सरस ग्रन्थ है।

कर्नाटक साहित्य में रत्न, होएण, पम्प ये तीन महान् कवि हुए। जिन की वाङ्मय त्रिवेणी ने जो मधुर आह्लादमयी धारा प्रवाहित की उसकी शुभ शीतल विन्दुओं ने आत्मा मे स्वाभाविक शान्ति उत्पन्न की। इन्हीं कविरत्नों में रत्नाकर नाम के श्रेष्ठ कवि हुये। जिन की अनूठी और मौलिक रचनाएं हिन्दी के सर्वोच्च कवि गो० तुलसीदास जी के समान दक्षिण भारत में सर्वत्र पढ़ी जाती हैं। उन्होंने कर्नाटक भाषा में चित्ताकर्षक मनोमुग्धकारी साहित्य की रचना की। कवि का हृदय जिनेन्द्र भक्ति से परिपूर्ण है। वे स्वाभाविक कवि हैं। भाषा, भाव और विषय इन सभी विषयों पर उनका पूर्ण अधिकार है। उनकी शैली अपूर्व है। हृदय को प्रफुल्लित करने वाली जिस भक्ति गंगा का प्रवाह उन्होंने अपराजित शतक में बहाया है उसका विलक्षण सौंदर्य हमें पग पग पर देखनेको मिलता है। कर्नाटक भाषा बड़ी कर्ण सुखद और हृदय को बलात् अपनी ओर आकर्षित करने वाली है। जैनाचार्यों ने कर्नाटक भाषा में अपार साहित्य लिखा है। लेकिन उत्तरभारत के विद्वान् उस से अपरिचित हैं।

गत वर्ष अपराजित शतक का प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका यह अपराजित शतक का द्वितीय भाग है। कवि का दूसरा ग्रन्थ-

भरतेश वैभव है । जो चक्रवर्ती सम्राट् भरत के वैभव और भारत भूमि का गुणगान करने वाला अलौकिक महाकाव्य है। परमपूज्य तपोनिधि आचार्य देशभूषणजी महाराज ने प्रथम और दूसरे ग्रन्थ रत्न का राष्ट्रभाषा में अनुवाद करके दक्षिण और उत्तर प्रांत के सम्बंधों को अत्यन्त मधुर बना दिया है। भारतदेश की सांस्कृति एकता कितनी गहरी है, यह इसके अवलोकन से लोगों के दिलों में स्पष्ट हो जायगी। दक्षिण और उत्तर भारत को जोड़ने में इससे बड़ी सहायता मिलेगी।

प्राचीन काल में दक्षिण भारत में अनेक प्रतिभासम्पन्न दिग्गज और धुरन्धर विद्वान् हुये जिन्होंने सस्कृत प्राकृत, तामिल और कर्नाटक भाषा में अपार साहित्य लिखा।

संस्कृत और प्राकृत भाषा का बहुत कुछ साहित्य प्रकाश में भी आ गया है। लेकिन कर्नाटक और तामिल साहित्य अभी तक भली प्रकार प्रकाश में नहीं आया है। आचार्य महाराज ने जो महत्वपूर्ण कदम इस ओर उठाया है वह सभी प्रकार से श्लाघ्यनीय है। एक समय था जब कि भारतवर्ष की विभिन्न दिशाओं नगरों और आश्रमों में हजारों निर्ग्रन्थ तपस्वियों और यतिओं का समूह पैदल विहार करता हुआ गाँव और शहरों में मोक्ष मार्ग का संदेश देता था। वे यतीश्वर जिनकी दिशायें अम्बर हैं, तप और समाधि ही जिनका धनुष है, क्षमादि दश धर्म जिनकी प्रत्यंचा है। महाव्रत ही जिनका बाण है, व्रत समिति-गुप्ति जिनका कवच है, यथाजात बालक के सदृश नग्न,

निस्पृह लोकोपकारी परम वीतरागी निःशङ्क अहिंसाके पक्के उपासक, सिंहवृत्ति, अध्यात्मरत तथा चन्द्रमा के समान शान्तिदायक सुख शान्ति का सन्देश देना ही जिनका व्यवसाय है वे मुनीश्वर जिस समय विहार करते थे उस समय जनसाधारण का चारित्र और श्रद्धान बड़ा ही उज्ज्वल था। जनता सुखी थी। ऐसे ही परमोपकारी साधुओं द्वारा जो उत्तम ग्रन्थ रत्नों का निर्माण हुआ उसके फल स्वरूप विविध विषयों पर ग्रन्थ-रचनाएँ हुईं। इसलिए आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक, दर्शन, विज्ञान, धर्म-शास्त्र, आचार पुराण, चारित्र, इतिहास, भूगोल, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, छंद, अलङ्कार, कोष, यन्त्र-तन्त्र, प्रतिष्ठा, आयुर्वेद, अष्टाङ्ग, रस, राजनीति व्यवहार भक्ति, स्तुति, जीवशास्त्र, पशुजात, वनस्पति, यात्रा सम्बन्धी विशाल साहित्य विविध शैलियों से तैयार किया गया।

सुन्दर गद्य, पद्य, चम्पू गीति प्रबन्ध, मुक्तक, महाकाव्य के रूपमें वीरवाणी चित्तको आह्लादकारी होकर अन्तस्तलमें प्रवेश करें इसी पवित्र भावना से विशालवाङमय का निर्माण किया गया। इस पवित्र साहित्यके फलस्वरूप जैनों का यश, वैभव शिक्षा सस्कृति गौरव, वीरता आदि सभी वृद्धि को प्राप्त हुई।

लेकिन आज हमारा ध्यान उस साहित्यकी ओर से हटता जाता है। दक्षिणी भारत का विशाल साहित्य मंदिरों के सरस्वती भवनोंमें और उपाध्यायों के घरोंमें बिखरा हुआ है। इसका संग्रह और नवीन ढग से प्रकाशित होने की अत्यन्त आवश्यकता है। सैकड़ों वर्षोंसे प्रकाश और धूप का सम्पर्क न मिलने के कारण

भंडारों में रक्खाहुआ साहित्य दिनोंदिन जर्जर हो रहा है यदि उस ओर शीघ्र ध्यान नहीं दिया गया तो ज्ञान की महान् क्षति होगी।

इसलिये उस महत्त्वपूर्ण साहित्य के प्रकाशन का बड़ा ही माहात्म्य है। रससिद्ध यतियों की वाणी अज्ञानांधार को दूरकर देती है। और हृदयके पट को खोल देती है। ऐसे सर्वोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन होने से जन साधारण का बडा उपकार होता है। परमपूज्यआचार्य देशभूषण जी महाराजने इस ग्रंथ की विस्तृत व्याख्या करके एक बड़ा ही कल्याणकारी कार्य किया है। आप की सतत स्वाध्यायशील प्रवृत्ति है। निरन्तर ज्ञान ध्यान में लीन रहते हैं। इस वर्ष भारत की राजधानी दिल्ली में आपका चातुर्मास हुआ। आपके उपदेशामृत से हजारों जैन अजैन भाई लाभ उठा रहे हैं। आप कई भाषाओं में निष्णांत, कुशलवक्ता, और तेजस्वी साधुरत्न हैं। आप से हमारी करबद्ध प्रार्थना है कि आप इसी प्रकार दक्षिणी भाषाओं के साहित्य का प्रकाशन कर एक अत्यन्त आवश्कीय कार्य को पूर्ण कर वीर शासनका उद्योत करें। आशा है इस पवित्र ग्रन्थ के स्वाध्याय से जनता अधिक लाभ उठायेगी। क्योंकि इसग्रंथ मे सरल रूप में जिन शासन का रहस्य भरा हुआ है।

कूंचा सेठ, दिल्ली
दीपावली, वीर नि०स० २४८२

निवेदक—
सुमेरचन्द जैन शास्त्री
साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ

दो शब्द

परमपूज्य तपोनिधि विद्यालंकार बालब्रह्मचारी श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज ने देहली जैन समाज की ओर से प्रार्थना करने पर लक्ष्मीचन्द कागजी व शम्भूनाथ कागजी के द्वारा जयपुर से विहार करके ता० २६ मई सन् १९५५ तदनुसार जेष्ठशुक्ला ८ सम्वत २०१२ वीर सं०२४८१ रविवारको प्रात:काल जयध्वनिके साथ श्री दि० जैन मन्दिरजी बड़ा कूचा सेठ देहली में पदार्पण किया। देहली के बाजारों में से विराट जलूस के साथ देहली की अपार जनता आचार्य श्री का स्वागत करने के लिये हजारों की संख्या में उपस्थित थी।

देहली जैन समाज के प्रमुख २ सज्जनों तथा समस्त जैन समाज की प्रार्थना पर आचार्य श्री ने चातुर्मास करने की स्वीकारता प्रदान की। चातुर्मास के अन्तर्गत आचार्य श्री ने अपनी अमृतमयी वाणीसे उपदेशद्वारा जैन व अजैन हरेकमानव प्राणियों को कल्याण के मार्ग पर लगा दिया। यहां तक कि महाराज श्री के अमृतमयी उपदेश की घोषणा को सुनकर भारतवर्ष के प्रमुख सेठ श्री जुगलकिशोर जी बिड़ला, महाराज के दर्शनार्थ कई बार पधारे और आपकी दिव्यवाणी को सुनकर इतने प्रभावित हुये कि महाराज श्री का सानुरोध प्रार्थना करके अपने बिलड़ा मन्दिर नई देहली में उपदेश कराया जिसमें जैन अजैन कई हजारोंकी संख्या में उपस्थित थे।

आचार्य श्री ने अपने उपदेश में श्रावकों का कर्तव्य और क्रियाकांड को भली प्रकार बताया।

आचार्य श्री अनेक भाषाओं कानड़ी, गुजराती, बंगाली, मराठी, सस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी आदि के ज्ञाता हैं। आप अपने उपदेश में जटिल से जटिल शकाओं का अनेक युक्तियों द्वारा भली प्रकार समाधान करदेते हैं। आप के तपश्चरण और सौम्य प्रकृति से हर व्यक्ति दर्शन मात्रसे प्रभावित हो जाता है इस समय विशेष रूप से समाज के नवयुवकों में धर्म भावना जाग्रत हुई है और उन्होंने धर्म समाज तथा महाराजजी की सच्चे हृदयसे सेवा करते हुए सच्चारित्र-धारण की। नवयुवकों का सन्मार्ग पर लगना आचार्य श्री को ही श्रेय है। इन नवयुवकों द्वारा ही धर्म प्रभावना इतनी हुई है कि इन्होंने धर्म प्रेम से ही आचार्य श्री के अनेकों उपदेश दशधर्मादि की व्याख्यान दश लक्षण पर्वमें रेकार्ड भी भरे यही नहीं, २३ अक्तूबर को एक विशाल पंडाल में आचार्य श्री का केशलोंच परेड के मैदान में कराया, जिससे अजैन भी जैन धर्मके चारित्र की क्रियाओं से प्रभावित हुए और हजारों की संख्या में जैनों के अतिरिक्त अजैन भी श्रद्धान्वित हुये।

आचार्य श्री का अधिकतर समय नवीन २ ग्रन्थों की रचना तथा एक भाषा से दूसरी भाषा के अनुवाद करने में व्यतीत होता है।

महाराजश्री ने इस अपराजितेश्वरशतक नामकद्वितीय खण्डकी

रचना देहली में चातुर्मास के अन्तर्गत जैन धर्मशाला नये मन्दिर जी में की है, जिसमें सर्वतत्त्वों के सार भरे हुए हैं।

जिन प्राणियों की धर्म मार्ग की ओर कुछ भी रुचि नहीं थी आप के दर्शन करने और उपदेश सुनने मात्र से ही उनकी भक्ति दिनों दिन बढ़ती गई।

चातुर्मास में देहली प्रान्त तथा अन्य दूर २ प्रान्तों के सभी नर नारी आचार्य श्री के दर्शनार्थ बराबर आते रहे। आचार्य श्री का चातुर्मास होने से देहली के समस्त स्थानों में धर्म की विशेष जाग्रति हुई।

पूज्य आचार्य श्री ने देहली पधारकर जो देहली निवासियों का धर्म उपकार किया है उसके लिये समस्त देहली दि० जैन समाज अत्यन्त आभारी है।

इस ग्रन्थ के छपवाने में जिन धर्म प्रेमियों ने गुप्तदान देकर सहायता की है उनको कोटिश: धन्यवाद है, जिन पर महाराज श्री ने पूर्ण आशीर्वाद व्यक्त किया है।

किशोरीलाल जैन B.Com
सबजीमण्डी, देहली।

बिरला भवन नई दिल्ली में परम पूज्य श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज के उपदेश का दृश्य।
श्रीमान् दानवीर सेठ जुगलकिशोरजी बिरला पगड़ी बांधे हुए बीच में बैठे हैं।

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

विषय पृष्ठ

जैन रक्षा स्तोत्र

श्रीजिनं भक्तितो नत्वा, त्रैलोक्याह्लादकारकं ।
जैन रक्षामहं वक्ष्ये, देहिनां देहिरक्षकं ॥ १ ॥
ॐ ह्रीं आदीश्वरः पातु, शिरसि सर्वदा मम ।
ॐ ह्रीं श्रीं अजितो देवो, भालं रक्षतु शर्मदा ॥ २ ॥
नेत्रयोः रक्षको भूयात्, ॐ आं क्रों संभवो जिनः ।
रक्षेत् घ्राणेंद्रिये ॐ ह्रीं, श्रीं क्लीं ब्लूं अभिनन्दनः ॥ ३ ॥
सुजिव्हे सुमुखे पातु, सुमतिः प्रणवान्वितः ।
कर्णयोः पातु ॐ ह्रीं श्रीं, रक्तः पद्मप्रभः प्रभुः ॥ ४ ॥
सुपार्श्व सप्तमं पातु, ग्रीवायां ह्रीं श्रियाश्रितः ।
पातु चन्द्रप्रभु श्रीं ह्रीं, क्रौं (क्रों) पूर्व स्कंधयोर्मम ॥५॥
सुविधिः शीतलोनाथो, रक्षको करपंकजे ।
ॐ क्षां क्षीं क्षूं युतोकामं, चिदानन्दमयौ शुभौ ॥ ६ ।
श्रेयांस वासुपूज्यौ च, हृदये सदयं समा ।
भूयाद् रक्षा करो वारं, सारं श्री प्रणवान्वितो ॥ ७ ।

विमलोऽनन्त नाथौ च, मायाबीजसमन्वितौ ।
उदरे सुन्दरे स स्व, रक्षायाः कारको मतौ ॥ ८ ॥
श्री धर्म शांति नाम्नौच, नाभि पंके रुहे सतां ।
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं हंसयुक्तौ, पुनः पातां पुनः पुनः ॥९॥
श्री कुन्थु अरनाथौ तु, सुगुरो सुकटी तटे ।
भवेतामवको भूरि, ॐ ह्रौं क्लीं सहितो जिनौ ॥ १० ॥
मे पातांचारु जंघायां, श्री मल्लि मुनिसुव्रतौ ।
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूँ ततो ह्रः, क्लूं क्लीं श्रीं युक्तौ कृपा करौ ॥११
यत्नतो रक्षको जानू, श्री नमि नेमिनायकौ ।
राज राजीमतीमुक्तौ, प्रणवाक्षर पूर्वकौ ॥ १२ ॥
श्री पार्श्वेशमहावीरौ, पातामं ह्रौं सुमातदौ ।
ॐ ह्रीं श्रीं च तथा भ्रूं क्लीं, ह्रां ह्रः श्रां श्रः युतोजिनो ॥१३
रक्षा करा यथा स्थाने, भवन्तु जिननायकाः ।
कर्मक्षय करा ध्याता, भीतानां भयवारकाः ॥ १४ ॥
जैन रक्षा लिखित्वैषा, मस्तके यस्तु धारयेत् ।
रविवद्दीप्यते लोके, श्रीमान् विश्वप्रियो भवेत् ॥ १५ ॥
तस्योग्ररोग वैताला, शाकिनी भूत राक्षसाः ।
एते दोषा न दृश्यन्ति, रक्षकाश्च भवंत्यमी ॥ १६ ॥

अग्निसर्पभयात्पापा, भूपाला चोर विग्रहान् ।
एते दोषाः प्रणश्यन्ति, रक्षकाश्च भवन्त्यमी ॥ १७ ॥
जैन रक्षामिमां भक्त्या, प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
इच्छितान् लभते कामान्, सम्पदश्च पदे पदे ॥ १८ ॥
श्रावणे शुक्ल चाष्टम्यां, प्रारंभ्येत् स्तोत्रमुत्तमं ।
अभिषेकं तु जिनेन्द्राणां, कारयेद्दिवसाष्टकं ॥ १९ ॥
ब्रह्मचर्यं विधातव्यमेकभुक्तं तथैव च ।
शुचिना शुभ्रवस्त्रेण, वालंकारेण शोभनं ॥ २० ॥
नरो वापि तथा नारी, शुद्धभाव युतोपि सन् ।
दिनं दिनं तथा कुर्यात्, जाप्यं सर्वार्थसिद्धये ॥ २१ ॥
एकायां तु विधातव्य, मुद्यापनमहोत्सवं ।
पूजा विधि समायुक्तं, कर्तव्यं सज्जनै जनैः ॥ २२ ॥

॥ इति श्री जैन रक्षा स्तोत्रं समाप्तम् ॥

श्री वीतरागाय नमः

रत्नाकरकविविरचितः—

अपराजितेश्वर शतक

(कानड़ी भाषा)

का

[श्री १०८ आचार्य देशभूषण मुनि महाराजजी के द्वारा]

हिन्दी अनुवाद तथा विवेचन

(उत्तर खंड)

गळिसुवनेय्दे पापसुकृतंगळनुण्बनेरळ्फलंगळं ।
मळवशनागि देहि सुखि दुःखिकषायि विनाशिकामिपु- ।।
ल्पुळु सति गंडुपंडलेनलितु वहुस्थितियप्पनात्मना ।
मळकुळमं कळल्चे सुखि यप्पनला अपराजितेश्वरा ! ।।६६।।

अर्थः—हे अपराजितेश्वर ! यह जीव पाप और पुण्य दोनों का अच्छी तरह संपादन कर दोनों के फल का अनुभव करता है ।

यह आत्मा कर्मके आधीन होकर शरीरधारी सुखी-दुःखी क्रोध मान माया लोभ इत्यादि कषाय वाला तथा नाशवत, कामी, विकारी, एकेन्द्रिय घास, कीटक, स्त्री, पुरुष और नपुंसक ऐसे अनेक प्रकार की अवस्था को धारण करनेवाला कहलाता है। अर्थात् वह अपने निजस्वरूप का अच्छी तरह प्रेमपूर्वक आप अपने अन्दर देखकर उस कर्म रूपी समूह को नाश करने से क्या वह अपने निजस्वरूप को प्राप्त नहीं होगा? अवश्य होगा ॥६६॥

66. O, Aparajiteshwar ! The promising Jiva who has comitted the auspicious & the unauspicious acts experience the fruits of both. This soul being enslaved by karmas, gets incarnated in various bodies, becomes happy & miserable, gets filled with anger, pride etc., the passions. If he contemplates upon his own nature then would he not destroy the karmas & realise his own self? Would certainly.

विवेचन —ग्रन्थकार कहते हैं कि जिन्होंने पाप और पुण्य को अच्छी तरह सपादन कर उसके द्वारा होने वाले शुभाशुभ फल का अनुभव किया है, उसी के निमित्त यह आत्मा कर्मवश होकर सुखी, दुःखी, क्रोधी, मानी, लोभी. राव, रंक, पशु-पक्षी, कामी, कीटक, नरक, तिर्यंच, मनुष्य-देव, पृथ्वी, हाथी, घोड़े, सिंह,

इत्यादि पर्याय धारण करते हुए अनेक योनियों में भ्रमण करते अनेक कष्ट सहते हुए अनेक अवस्था को प्राप्त होता है। अगर यह आत्मा अपने कर्म शत्रु को अच्छी तरह पहचान कर स्वपर भेदज्ञानरूपी छैनी के द्वारा दूर करने का प्रयत्न करेगा तो अवश्य ही कर्म-रहित होकर अपने निर्मल निजानंद आत्म स्वरूप को प्राप्त होगा। प्रवचनसार मे भी कहा है कि—

जदि सति हि पुण्णाणिय, परिणाम समुब्भवाणिविविहाणि।
जनयन्ति विसय तण्हं, जीवाणं देवदंताणं ॥ ७४ ॥

यदि इस जीव के शुभोपयोग से अनेक तरह के पुण्य सचय होते हैं तो भले ही उत्पन्न होवें, इस में कुछ विशेषता नहीं है, क्योंकि वे पुण्य देवताओ से लेकर सब संसारी जीव को तृष्णा उत्पन्न करने वाले हैं और जहां तृष्णा है वहां ही दु.ख है, क्योंकि तृष्णा के विना इन्द्रियों के रूपादि विषयों में प्रवृत्ति ही नहीं होती। जैसे जोंक तृष्णा के बिना विकार युक्त अर्थात् खराब रुधिर का पान नहीं करती, इसी प्रकार ससारी जीवों की विषयों में प्रवृत्ति तृष्णा के विना नहीं होती है। इस कारण पुण्य तृष्णा का घर है अर्थात् पुण्य भी पापका बीज है चारों गतियों का कारण है। जैसे कहा भी है कि—

तृष्णा वैतरणी नदी, यम स्वरूप है रोष।
कामधेनु विद्या अहे, नन्दन वन संतोष ॥

तृष्णा मिटे संतोष ते, सेवे अति बढ़ जाय ।
तृष्णा से अग्नि न बुझे, तृण विहीन बुझ जाय ॥

यह तृष्णा वैतरणी नदी के समान भयंकर, यमराज के समान महान् दुःख का कारण है और संतोष काम धेनु कल्पवृक्ष व नंदन बन के समान है। जब तक तृष्णा नहीं मिटेगी तब तक संतोष सेवनीय नहीं होगा। जैसे अग्नि की तृष्णा तृण से नहीं बुझती है, उसी तरह इस तृष्णावान् जीव की शान्ति इस क्षणिक बाह्य पदार्थों से नहीं बुझती है। इस तृष्णा की पूर्ति के लिये यह जीव कहा कहां नहीं जाता, और किन-किन की सेवा नहीं करता सो कहा भी है:—

भ्रांतं देशमनेकदुर्गविषमं, प्राप्तं न किंचित्फलं ।
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं, सेवा कृता निष्फलं ॥
भुक्तं मानविवर्जित परगृहेष्वाशंकया काकवात् ।
तृष्णे ! जृम्भसि पापकर्मनिचितो नद्यापि संतुष्यति ॥

तृष्णावान् मानव प्राणी तृष्णा की पूर्ति के लिये अपने उत्तम कुल, उत्तम देश, उत्तम जाति, अभिमान, अपनी नीति, आचार विचार, मान मर्यादा इत्यादि का उल्लंघन करके अनेक देश विदेश, विषम दुर्ग, पहाड, किला, भयानक जंगल, पहाड़ों के बडे बड़े कंदराओं में प्रवेश करता है और तृष्णा की पूर्ति में काक

और स्वानवत् अर्थात् कुत्ते और कौवे के अनुसार घर घर जाकर भोजन करता है नीचोंकी सेवा-सुश्रूषा करता रहता है और तृष्णा को वुझानेकेलिये अनेक लोगोंके द्वारा छल कपट मायाचार करता है, परन्तु इतना करने पर भी तृष्णा की पूर्ति नहीं होती है। यह तृष्णा महान् वलवान है इस तृष्णा ने ही संसारी जीवात्मा को डुवाया है, जव तक यह तृष्णा नहीं मिटेगी तव तर्क व्रत नेम किस काम का ?कहा भी है कि :—

नाशंवरत्वे न सितांवरत्वे, न तर्क शास्त्रे न च तत्ववादे।
न पक्षसेवा श्रमणेन मुक्तिः कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥

न अम्वर के त्याग से, न श्वेताम्बर से, न तर्क शास्त्र के वेत्ता होने से, और न तत्व सम्बन्धी जानकारी से, सेवा करने वाले सेवा-श्रमी हो इन सभी से मुक्ति नहीं होती है, किन्तु इन कषाय रागादि तृष्णा के त्याग, वाह्य आभ्यन्तर निर्मल व्रत नियम, संयम त्याग तथा आत्मज्ञान के पहिचान से मुक्ति होती है। इस ऊपर की वेश-भूषा से बिना कषाय जीते मुक्ति नहीं होती है। कहा भी है :—

वदन्तु शास्त्राणि, यजन्तु देवान्,
कुर्वन्तु कर्माणि, भजन्तु देवताः।
आत्मैक वोधेन विनापि मुक्ति र्न-
सिद्धयति वर्ष शतांतरेऽपि ॥

कोई मनुष्य अनेक तर्क शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, गणित शास्त्र, नाटक, काव्यालंकार, छद शास्त्र तथा सपूर्ण चौसठ कला के महान् विद्वान् शास्त्रवेत्ता ही सभाजनों को अपने वाक्य या वक्तृत्व कलाओं से वाक्य चतुराई से विभोर करने वाले भी भगवान्की पूजा अर्चा भक्ति नित्य नियम व्रत संयम मे चतुर भी क्यों न हो, चार प्रकार के दान देने में चतुर दानी हो, विशेप धर्म के क्रिया कॉड करने में तत्पर भी क्यों न हो ? परन्तु एक आत्म ज्ञान के पहचाने विना यह सभी पुण्य कर्मवंध के लिये कारण हैं अर्थात् देव गति इत्यादि को वॉध कर अन्त में ससार का ही कारण है। यह क्रियाकांड दु:खको देनेवाले हैं और हजारों वर्ष तप करने पर भी आत्म सिद्धि इस जीव को अत्यन्तदूर है ऐसे समझना चाहिये। इस ससार में वही धन्य है कि जिन्होंने अपने आत्म-स्वरूप को रुचि पूर्वक पहचान लिया है व्यवहार और निश्चय दोनों मार्ग को ठीक समझ कर अपने लक्ष को आत्म तत्व फल की तरफ रक्खा हो लक्ष्य में अलक्ष्य न हो वही मनुष्य धन्य है जैसे कि —

ते धन्या भुवि, परमार्थ निश्चितेहाः।
शेपास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्ति ॥

जो मनुष्य परमार्थ वस्तु के लिये निश्चय पूर्वक प्रयत्न करते हैं वे पृथ्वी में भाग्यशाली गिने जाने जाते हैं। और शेष आत्म

रुचि से भिन्न अज्ञानी जीव अज्ञ रूपी अर्थात् मिथ्या रूपी अन्धेरी कोठरी में सदैव भटकते रहते है ऐसा समझना चाहिये। तत्व भावना में भी कहा है कि —

मृत्युत्पत्तिवियोगसंगमभयव्याध्यादि शोकादयः ।
सूद्यंते जिनशांसनेन सहसा संसार विच्छेदिना ॥
सूर्यणेव समस्त लोचन पथप्रध्वंसवद्धोदया ।
हन्यन्ते तिमिरोत्कराः सुखहरा नक्षत्रविद्योपिणा ॥१६॥

भगवान जिनेन्द्र देव द्वारा कहा हुआ जैन धर्म की महिमा अवर्णनीय है, इसलिये उपमा सूर्य से दी गई है, अन्य कोई भी वस्तु इसकी उपमा के लिये तुलनात्मक नहीं है। सूर्य के सामने जैसे और नक्षत्रों का तेज छिपा रहता है वैसे जैन धर्म के स्याद्वाद नय गर्भित-अनेकात उपदेश के सामने एकांत तत्व को पोखने वाले मतों का तेज लुप्त हो जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से बड़ा भारी रात्रि का 'अन्धकार जिस के कारण से आँखो के रहते हुए भी प्राणी देख नहीं सकते है व जो देखने के सुख को रोकने वाला है सो एक दम दूर हो जाता है। उसी तरह जिन शासन के सेवन से जन्म मरणादि दुःखों से संसार का ही नाश हो जाता है। संसार का कारणराग द्वेप मोह है। जिन शासन वीतराग विज्ञान है। अथवा अभेद रत्नत्रयमई है। अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान या शुद्धात्मानुभव है। जिस समय स्वानुभव

जगता है तब तुरन्त मन का क्लेश व शोकादि भावों को हटा देता है। स्वानुभाव से ही पापों का नाश होता है। यह स्वानुभव ही उच्च श्रेणी पर पहुँचा हुआ शुक्ल ध्यान कहलाता है जिसके प्रताप से घातिया कर्मों का नाश होकर यह जीव अर्हंत हो जाता है, फिर शेष चार अघातिया कर्मों का भी क्षय कर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। अब इसका न जन्म हो ता है न मरण होता है। यह जीव सिद्ध पदमे निश्चलता से अन्तकाल स्थित रहता है, और अपने आत्मीक आनन्द का विलास करता है। जिस जैन-धर्म के सेवन से यहाँ भी सुख होता है और परलोक में भी सुख होता है उसकी ओर श्रद्धाभाव रख कर उसका आचरण करना निरंतर उचित है। जो इस मानव जन्म को पाकर जिन शासनरूपी जहाज पर चढ़ जाते हैं वे अवश्य नि'शंक होकर संसार समुद्र को तय करते चले जाते हैं। अतएव हरएक बुद्धिमान प्राणी को जैन धर्म से प्रेम करना उचित है, यह आत्म स्वातन्त्र्य का पाठ सिखाता है और अहिंसा के अद्भुत भाव को जगाता है। यह अन्यथा पथ से बिलकुल हटा देता है । यह जीव को समदर्शी व वीतरागी बना देता है। यह सासारिक सुख-दु.खों के भीतर भी समताभाव रखने की युक्ति बता देता है। यह अपने निश्चय-दृष्टिरूपी शस्त्र से रागद्वेष के कुभावों को विध्वस कर डालता है। यह निरतर ज्ञान रस को पिलाता है, तृष्णा की दाह को शमन कराता है और जीव को निर्भय बनाकर साहसी और निराकुल

करा देता है। इस जैनधर्म की महिमा अपार है वचन अगोचर है, अनेक सांसारिक तृष्णा अर्थात् वासनाओं को मिटाकर कर्म रूपी मैल को बिल्कुल साफ करके हमेशा अमल बनाने वाला है। अंधेरी कोठरी में पड़े हुए वस्तु को दिखाने वाले दीपक के समान है, इसलिये भव्य जीव को इस भगवान् के कहे वाणीरूपी दीपक के ऊपर विश्वास रखकर अगर इस वाणीरूपी दीपक को हृदयरूपी कोठरी में प्रवेश करायेगा तो अनादि कालसे आठों कर्मरूपी मलीन शरीर के कोने में पड़ा हुआ है, जब इस अखंड अविनाशी आत्मा नन्द निधि का दर्शन होगा, तब बाह्य इन्द्रिय क्षणिक सुख के द्वारा आत्मा को दुःख देकर चारों गतिरूपी भंवर में भ्रमण करने वाला यह चक्कर मिट जायेगा और आत्मानन्द रूपी महान् अमृतमयका पान करते हुए अपने आत्म-ज्योति में आप ही प्रकाश को प्राप्त होगा।

इस आत्म प्राप्ति की सिद्धि कौन कर सकता है और कौन मनुष्य योग्य है ?

इस की प्राप्ति दिगम्बर मुनि ही कर सकते हैं अन्य कोई नहीं है। तत्व भावना में कहा भी है कि:—

चित्रारंभप्रचयनपरा सर्वदालोकयात्रा।
यस्य स्वान्ते स्फुरति न मुनेर्मुध्यातौ लोकयात्राम् ॥

कृत्वात्मानं स्थिरतरमसावात्मतत्वप्रचारे ।
क्षिप्त्वाशेषं कनिलनिचयं ब्रह्मसिद्धिं प्रयाति ॥ २० ॥

यहां आचार्य ने बताया है कि आत्म सिद्धि उसी को हो सकती है जो उसके लिये भले प्रकार पुरुषार्थ करता है । मुनिगण ही आत्मसिद्धि पाने के अधिकारी हैं । गृहस्थी आरम्भ परि-ग्रह के मैल से मलीन रहते हुए गजस्नानवत् आचरण करते हैं । यदि उन्होंने कुछ ध्यानादि करके पाप धोया भी तो दूसरे समय आरम्भ में उलझकर फिर पापों का बन्ध कर लिया । इसलिये वे ही सच्चे साधू आत्म सिद्धि प्राप्त कर मोक्ष को पा सकते हैं, जिन के अतरग में संसार के सब प्रकार के आरम्भ से ऐसी उदासीनता हो गई है कि कभी किसी मसि असि कृषि वाणिज्य आदि कर्म का व रसोई पानी बनवाने आदि का रचमात्र भी विचार नहीं करते हैं । वे जानते हैं कि ये ससार के व्यवहार रागद्वेष को बढ़ाने वाले, चिन्ता में फँसाने वाले और स्वानुभाव रूप मोक्ष की यात्रा के मार्ग से हटाने वाले हैं । इसलिए वे राज्य-पाट गृह नगर आदि को छोड़ कर अत्यन्त दूर एकान्त निर्जना वनों मे निवास करते हैं, अपने मन मे रात्रि-दिवस मुक्ति सुन्दरी के मिलने की उत्कण्ठा मे लगे रहते हैं, वे साधूजन अपने ही आत्मा के स्वरूप का विचार करते हैं और उसी आत्मानुभव में थिरता पाने का उद्यम करते हैं, जितना २ आत्मानुभव वढ़ता जाता है और वीतराग

की वृद्धि होती जाती है, उतना-उतना ही कर्मों का अधिक क्षय होता जाता है और बन्धका अभाव होता जाता है। आत्म-समाधि रूपी नौका पर चढ़े हुए साधु आत्मानन्द के पाते हुए बड़े सुख से इस ससार की विशाल यात्रा को उल्लघन करके मोक्ष पर पहुच जाते हैं।

प्रयोजन कहने का यह है कि जो ब्रह्मानन्द के स्वाद के चाहने वाले हैं उनको सर्व आरम्भ परिग्रह से विरक्त होकर साधुके चरित्र को पालते हुए आत्म ध्यान का अभ्यास बढ़ाना जरूरी है। जिन साधुओं की दृष्टि सदा आत्मानुभव की तरफ लगी रहती है वे ही साधु शीघ्र मुक्ति को पहुँच जाते हैं।

जैसा कि श्री पद्मनंदि मुनि ने सबोध चन्द्रोदय मे कहा है कि:—

आत्मबोध शुचितीर्थमद्भुतम् स्नानमत्र कुरुतोत्तमं बुधाः।
यत्र यात्यपर तीर्थ कोटिभिः आत्मयत्मपि मलं तदन्तरम् ॥

हे बुद्धिमानो ! आत्मज्ञान रूपी पवित्र तीर्थ एक आश्चर्यकारी तीर्थ है, इसमें बराबर भले प्रकार स्नान करो जो कर्ममल अन्तरङ्ग में है व जिस को अन्य करोड़ों तीर्थ धो नहीं सकते, उस मैल को यह आत्मज्ञान रूपी तीर्थ धो देता है।

जो इन्द्रियों में आशक्त है वह अज्ञानी मूर्ख जीव कभी भी आत्म सिद्धि को नहीं पाता है। सार समुच्चय में कहा भी है कि—

वरं हालाहलं भुक्तं विषं छतद्भावनाशनम् ।
न तु भोगविषं भुक्तमनन्त भवदुःखदम् ॥७६॥

जो मूर्ख इन्द्रियों के विषयों के सुख में आसक्त होकर न्याय अन्याय धर्म अधर्म का विचार नहीं रखते हैं, निरर्गल होकर भोगों में लिप्त हो जाते है और धर्म कार्य से विमुख रहते हैं वे ऐसा तीव्र मिथ्यात्वादि कर्मों का वध करते हैं, जिस कर्म के उदय से अनन्त जन्मों में एकेन्द्रियादि के कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसी लिए यहाँ कहा गया है कि कदाचित् विष खाके मर जाना अच्छा है क्यों कि उससे इसी जन्म में शरीर का नाश होगा परन्तु विषयभोगों में लिप्त होना अच्छा नहीं, जो भविष्य में महान् दुखदाई है।

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखानासे न तत्सुखम् ।
तच्च कर्म विबन्धाय दुःखदानैक पण्डितम् ॥७७॥

यहां असली सच्चे सुख की तरफ आचार्य लक्ष्य कराते हैं कि वही सच्चा आनन्द है जो हरएक आत्मा का स्वभाव है व जिसे प्रत्येक आत्मा अपने आत्मा के अनुभव से ही प्राप्त कर सकता है। इस सुख के भोग में कभी कष्ट नहीं होता है न वर्तमान में होता है न भविष्य मे होता है, क्योंकि इस सुख के भोग से कर्मों की निर्जरा हो जाती है। मुक्तात्माओं को यही सुख है, जब कि इन्द्रियों के भोगों से जो सुख प्रगट होता है, वह वास्तव में सुख सा

दीखता है परन्तु सुख नहीं है। अपने राग भाव की पीड़ा न सह सकने के कारण यह प्राणी इन्द्रिय भोग करता है, उससे वर्तमान की पीड़ा कुछ क्षण के लिए शमन हो जाती है। कुछ ही देर पीछे तृष्णा के वेग से पीड़ा और अधिक हो जाती है अतएव इन्द्रियों का भोग चित्र के ताप को बढ़ाने वाला ही है। तथा तीव्र राग से अशुभ कर्मों का बंध हो जाता है जिस से भावी काल मे भी दुःख होगा। इसलिए ज्ञानी जीव को इन्द्रिय सुख को असार व दु ख रूप व संसार वर्द्धक जानकर इससे श्रद्धा हटा लेनी चाहिए, केवल अतीन्द्रिय आत्मीक सुख की ही प्राप्ति की कामना रखनी चाहिए।

सार यह है कि अज्ञानी संसारी जीव पुण्य को अपना सुख मानकर हमेशा पुण्य पाप का आत्मा के साथ लेप कराता रहता है और हमेशा शरीर धारी होकर जन्म-मरण के आधीन रहता है उनको सुख का मार्ग लेशमात्र भी नहीं मिलता जैसे भैंस स्वादिष्ट रस भरित गन्ने के स्वाद को न खाकर केवल उसी हरी पत्ते को ही खाकर अपने को सुखी मानती है, उसी तरह अज्ञानी संसारी आत्मा अपने पासकी निजानन्द आत्म स्वाद को छोडकर इन्द्रियजन्य साता असाता क्षणिक तथा दु खमय सुख का ही स्वाद ग्रहण करता है।

ज्ञानी आत्मा अपने किये हुए पुण्य के फल को अच्छी तरह अनुभव करते हुए वन्ध को प्राप्त नहीं होता है और उनका पुण्य कर्म क्षय के लिये कारण होता है, इसका कारण यह है कि

ज्ञानी जीव भेद विज्ञान के द्वारा कर्म मल को अच्छी तरह शोध कर अपने स्वरूप की प्राप्ति कर सुखी बनता है। अज्ञानी जीव पुण्य फल को ही अपना मान कर हमेशा शरीर धारी बन कर गतियों में भ्रमण किया करते हैं।

आगे श्लोक मे ऐसा आत्म व्यवहार मूर्तिक है और निश्चय दृष्टि से अमूर्तिक है ऐसा बतलाते हैं :—

कर्मनिबंधनागियुमबंधनमूर्तने मूर्तनागियुं ।
कूर्मे विषाद मिर्दुममलं नभदंतिरे सून्य नागियुं ।
धर्मगुणातिशायिक निदात्मन वर्तनेयद्भुतक्केसा–
सिर्मडियद्भुतं तिळियवल्लिदनारपराजितेश्वरा ! ॥६७॥

अर्थ—हे पराजितेश्वर ! व्यवहार दृष्टि से यह आत्मा कर्म से बद्ध है और निश्चय दृष्टि से आठों गुणों से युक्त है। परन्तु यह आत्मा कर्म बद्ध से रहित है, मूर्तिक होने पर भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अमूर्त और शाश्वत है। सासारिक अवस्था की अपेक्षा से हर्ष-विषाद से युक्त होने पर भी यह आत्मा निर्मल तथा निर्विकारी है। आकाश के समान शून्य होने पर भी अतिशय आत्मा के धर्म गुणों से युक्त है। इन शुद्ध आत्म स्वरूप की स्थिति तथा इनके कितने गुण हैं वे सभी आश्चर्यकारक हैं, इनकी महिमा को कौन जान सकताहै ? ॥ ६७ ॥

67. O, Aparajiteshvar ! From the Vyavhar (empirical) point of view, this soul is bound with karmas, possesses a form, is pleased or miserable, but from the nischaya (transcendentral) point of view, it is possessed of eightfold attributes, devoid of bondage, formless,, eternal, pure, & faultless. The attributes of soul in its purity are so wonderful that they are really beyond description.

विवेचन—ग्रंथकार कहते हैं कि यह आत्मा व्यवहार की दृष्टि से कर्म बद्ध है और निश्चय नयसे अनत गुण युक्त निरजन अनन्त ज्ञान शक्ति को धारण करने वाला नित्यानन्द मय, शुद्ध परमात्मा स्वरूप, नित्य है। इस निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा की स्थिति कर्म बद्ध नहीं है मूर्त होते हुए भी अमूर्त है, हर्ष विषाद होते हुए भी हमेशा निर्मल है आकाश के समान शून्य होते हुए भी अतिशयवान ज्ञान दर्शन उपयोगमय तथा ज्ञान गुण के भडार से युक्त अनत गुण की खान है और नित्य निरामय है तथा इस की महिमा अगाध और आश्चर्य कारक है। सचमुच में इस की महिमा को कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

शका—यह आत्मा कर्म से बद्धाबद्ध किस तरह रहता है, अगर यह आत्मा हमेशा बद्धाबद्ध इन दोनों रूप में रहेगा तो

सिद्ध अवस्था कभी भी इन को नहीं हो सकती। इसलिये इस आत्मा को बद्धाबद्ध ही कहना चाहिए। सिद्ध रूप कभी नहीं कहना चाहिये ?

लेकिन इस प्रकार यह शका ठीक नहीं है । कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने पचास्तिकाय में वतलाया है किः—

जीवा ससारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा ।
उवओगलक्खणाविय देहादेहप्पविचारा ॥११७॥

जीव समुदाय दो प्रकार का है पहला संसार में रहने वाला ससारी और दूसरा मुक्ति को प्राप्त कर सिद्ध चैतन्यमई है । उपयोग रूप भी हैं शरीर भोगी भी है और शरीर भोग रहित भी है। जो संसारी है वह शरीर सहित है तथा जो सिद्ध है वह शरीर रहित है।

विशेपार्थ—ग्रथकार ने चेतनात्मक का दो प्रकार विशेपण करके यह अर्थ किया है कि यह संसारी जीव अशुद्ध चेतनामई तथा मुक्ति जीव शुद्ध चेतनामई है। अशुद्धचेतना के दो भेद है। कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। राग द्वेपपूर्वक कार्य करनेका जो अनुभव है वह कर्मचेतना है तथा सुखी दुःखी होने रूप अनुभव जो करना है वह कर्म फल चेतना है।

आत्मा के शुद्ध ज्ञानानन्दमई स्वभाव का अनुभव जो है वह

शुद्ध ज्ञान चेतना है। चैतन्य गुणके भीतर होनेवाली परिणति को उपयोग कहते हैं। कहा भी है :—

"चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः"

मुक्त जीवों के केवल ज्ञान और केवल दर्शन उपयोग है जब कि ससारी जीव अशुद्ध या क्षयोपशम रूप मतिज्ञानादि उपयोग सहित हैं। ससारी जीव देह रहित आत्मतत्त्व से विपरीत शरीरों के धारी हैं जब कि सिद्ध जीव सर्व प्रकार शरीर से रहित हैं।

भावार्थ—यद्यपि जाति की अपेक्षा जीव द्रव्य एक है क्योंकि जीवत्त्व या जीवपना सभी जीवों में पाया जाता है, तथापि अपने अपने गुण पर्यायों के धारी जीव द्रव्य अनन्तानंत हैं, सब की सत्ता भिन्न २ है। हर एक जीव यद्यपि शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा एक दूसरे के समान हैं तथापि आकार या प्रदेशों की अपेक्षा सब भिन्न २ है। हरएक जीव अपने भीतर होने वाले परिणामों का आप स्वामी है। एक के भावों का स्वामी दूसरा नहीं हो सकता है। जब जिस जीव में अशुद्ध भाव होता है तब वही जीव कर्मों का बन्ध करता है, उसी समय यदि दूसरे जीव में वीतराग भाव होता है तब वह कर्मों की निर्जरा करता है। जब कोई जीव सम्यग्दृष्टी है और आत्मा के स्वाद में मग्न है तब वह आत्मानन्द का लाभ कर रहा है उसी समय एक मिथ्यादृष्टी जीव आत्मा को भूला हुआ विषय सुख में लीन हो विषय सुख भोग रहा है तभी

दूसरा कोई विषयों में सहकारी सामग्री को न पाकर शोकातुर हो दु ख को भोग रहा है। प्रयोजन यह है कि हर एक जीव अपने हित तथा अहित का आप ही अधिकारी या जिम्मेदार है। एक दूसरे को उपदेश देकर प्रेरणा तो कर सकता है पर बलात्कार कोई किसी के भावों को नहीं पलट सकता। जब तक उसके स्वयं परिणाम न बदलेंगे तब तक वह पर के उपदेश से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता है।

जगत् का प्रवाह अनादि है इसलिये अनादि से ही दो प्रकार के जीव पाये जाते है—ससारी और सिद्ध। अनादि प्रवाह रूप अवस्था मे हम जैसे यह नहीं कह सकते कि कभी वृक्ष न था बीज ही था व कभी बीज न था वृक्ष ही था; किन्तु यही मानना होगा कि बीज और वृक्ष दोनों अनादि हैं इसी तरह जगत् में संसारी और सिद्ध दो प्रकार के जीव सदा से हैं। हम यह नहीं कह सकते कि किसी समय मात्र संसारी ही जीव थे सिद्ध जीव नहीं थे। अनादि जगत् के प्रवाह में जैसे संसार अनादि है वैसे ससार से छूटने का मार्ग भी अनादि है। सदा ही विदेह में तीर्थंकरों का उपदेश होता रहता है। भरत और ऐरावत में हर एक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में चौबीस तीर्थंकर होते रहते हैं। जैसे एक वृक्ष से उपजे अनेक चने होते हैं उन में से कोई भून लिये जाते हैं और कोई बोये जाते हैं। जो भुन जाते हैं उन से फिर वृक्ष नहीं होता है तथा जो बोये जाते हैं उन से वृक्ष होता

है, वैसे ही नित्य निगोद से निकले हुये जीव जो कोई मोक्ष मार्ग का सेवन करते है वे कभी न कभी शुद्ध और मुक्त हो जाते हैं, जो कर्मों को बाँधते ही रहते है वे पुनः पुनः जन्म मरण करते रहते हैं। जैसे हम यह नहीं कह सकते कि किसी समय चने भूने नहीं जाते थे या खाये नहीं जातेथे वैसे हम यह भी नहीं कह सकते कि किसी समय सब जीव संसारी ही थे कोई भी सिद्ध न था—अनादि कालीन जगत् का प्रवाह सिद्ध होता है। यह सादि है ऐसा प्रमाण व युक्तियों से सिद्ध नहीं होता अतएव सिद्ध और संसारी दोनोंको अनादिसे ही मानना होगा। हरएक जीव उपयोग का धारी है। जो ज्ञान-शक्ति जीव में है वह किसी न किसी भाव रूप परिणमन किया करती हैं। उपयोग को देखकर ही जीव की सत्ता का निर्णय होता है। इसलिये उपयोग जीव का लक्षण है। जब कोई आदमी किसी वस्तु की गंध अपनी नासिका इन्द्रिय-द्वारा मतिज्ञान के उपयोग से ग्रहण कर सकता है तभी यह अनु-मान करता है—कि शरीर में जानने वाला जीव विराज मान है। जब हम किसी मनुष्य को देखते हुए, चलते हुए, लिखते हुए, पढ़ते हुए, काम करते हुए देखते है तब हमको यही अनुमान होता है कि इस जीव का ज्ञानोपयोग इन कार्यों में उपयुक्त है, बस हम को जीव की सत्ता का निश्चय हो जाता है। जो मृतक प्राणी सुंघाने से सूंघता नहीं, खिलाने से खाता नहीं, जगाने से जागता नहीं, कहने से सुनता नहीं वह यही अनुमान कराता है

कि उपयोग का धारी जीव जो इस शरीर का स्वामी था वह इस शरीर को छोड़ गया है क्योंकि यहां उसके उपयोग लक्षण का अभाव है। इसी कारण से गाथा मे जीवों का लक्षण उपयोगमई कहा है। सिद्ध या मुक्त जीवों का उपयोग अपने आत्मा के भोग में तन्मय है इसलिये वे भी शुद्ध ज्ञान दर्शनोपयोगमई हैं। जहाँ तक तैजस-कार्मण शरीर का सम्बन्ध है वहीं तक ससार है। ये दोनों कारण शरीरके हैं। इन्हींके कारण से अन्य तीन शरीर औदारिक, वैक्रियिक और आहारक होते हैं व काम करते हैं—इन दोनों शरीरो का बिलकुल छूट जाना मुक्ति है। मुक्त जीवों में कार्माण शरीर नहीं रहता है इसलिये वे कभी भी फिर संसार अवस्था में नहीं आ सकते हैं। जिनके साथ कार्मण देह है और जो उन कर्मों के असर से किसी जगह रहते हैं, उनको उस कर्म के असर हटने पर और दूसरे बॉधे हुये आयु और गति कर्म के उदय के असर से उस खास अवस्था को छोड़ कर दूसरी गति में आना पड़ता है। सिद्ध जीव किसी कर्म के असर से नहीं जीते हैं। वे कर्म रहित होकर अपने शुद्ध जीवत्व गुण से सदा जीते हैं इस लिये वे कभी संसारी नहीं हो सकते हैं—उनके पॉचों ही प्रकार का शरीर नहीं होता है। संसारी जीव जब अशुद्ध चेतना के भोगी हैं तब मुक्त या शुद्ध जीव शुद्ध ज्ञान चेतना के भोगी हैं। मिथ्यादृष्टी संसारी जीवों के तो कर्म चेतना और कर्म फल चेतना ही उपभोग है—वे रात दिन या तो किसी कार्य को राग द्वेष

पूर्वक करने में मग्न रहते है या अपने को सुखी या दुःखी मानने में अनुरक्त हैं। सम्यग्दृष्टी संसारी जीव जब तक निर्विकल्प समाधि मे न पहुँचे उन दोनों चेतनाओं को विना मोह या मिथ्या भाव को पाये हुये भोगते रहते हैं। स्वानुभव के काल में ज्ञान चेतना को भी भोगते हैं परन्तु शुद्ध ज्ञान चेतना का भोग अरहंत और सिद्ध परमात्मा ही के हैं। इस तरह इस गाथा में जीव पदार्थ का कुछ स्वरूप वर्णन किया गया है।

पद्मनन्दि मुनि ने अपने ज्ञानसार में भी कहा है कि:—

जीवो कम्मणिवद्धो चउगइसंसारे घोरे ।
वुड्डई दुक्खाक्कंतो अलहंतोणाणवोहित्थं ।।२०।।

ससारी जीव कर्मों से वंधा हुआ चतुर्गतिमय भयानक संसार मे दुःखों को भोगता हुआ तथा ज्ञान के अनुभव को न पाता हुआ बूड़ा रहता है। यह आत्मा दो प्रकार है:—

दुविहो तह परमप्प सयलेतह णिक्कलोत्तिणायव्वो ।
सयलो अरुहसरुवो सिद्धो पुणुणिक्कलो भणिओ ।।२२।।

जरमरण जम्मरहिओ कम्मविहीणो विमुक्कवावारो ।
चउगइगमणागमणो णिरंजणो णिरुवमो . सिद्धो ।।२३।।

परमट्ठ गुणे हिं जुदो अनंतगुणभायाणो निरालंबो ।
णिच्छेओ णिब्भेओ अणंदिदो मुणह परमप्प ॥३४॥

परमात्मा दो प्रकार का है—एक सकल परमात्मा अर्थात् शरीर सहित—दूसरा निकल या शरीर रहित, ऐसा जानो । सकल परमात्मा अरहन्त हैं तथा निकल परमात्मा सिद्ध भगवान्को कहते हैं । जो जन्म, जरा, मरण से रहित है, कर्मों से शून्य है, हलन चलनादि व्यापार रहित है, चार गतियों में आने जाने से रहित है, रागद्वेपादि मल रहित निरजन है, तथा उपमा रहित है वह सिद्ध है । जो उत्तम सम्यक्त्व आदि आठगुण सहित है, और भी अनन्त गुणोंका पात्र है, परके आलव रहित है, जो छेद रहित भेद रहित, आनदमई है उनको सिद्ध परमात्मा जानो ।

यही आत्मा अपने निज स्वरूप से रहित इन्द्रियादि वाह्य पदार्थों मे परिणमन कर एकेन्द्रियादि भी पर्यायधारण कर निगोदादि पर्यायों में भी भ्रमण करता है, जैसे इस एकेन्द्रियके भी पांच भेद ... कुन्दकुन्दाचार्य ने पचास्तिकाय में कहा भी है—

पुढवी य उदमगणी वाउवणफ्फदिजीवसंसिदा काया ।
देंति खलु मोह वहुलं फासं वहुगा वि ते तेसिं ॥११८॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीवों से आश्रय किये हुए शरीर बहुत प्रकार के हैं तो भी वह शरीर उन जीवों को

वास्तव में मोह गर्भित स्पर्श इन्द्रिय के विषय को देते हैं।

विशेषार्थ—यहां सूत्र का अभिप्राय स्पर्शन इंद्रिय आदि से रहित, अखंड एक ज्ञान का प्रकाशरूप आत्म स्वरूप। है उसकी भावना से रहित होकर तथा अल्प संसारी सुख के लिये स्पर्श इन्द्रिय के विषय में लपटी होकर इस जीव ने जो स्पर्शनेन्द्रिय मात्र को उत्पन्न करने वाला एकेन्द्रिय-जाति नाम कर्म बांधा है उसी के उदय के काल में यह संसारी जीव स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञान मात्र क्षयोपशम को पाकर एकेन्द्री पर्याय में मात्र स्पर्श के विषय के ज्ञान से परिणमन करता है।

प्रश्नः—यहाँ संसारी जीवों मे एक स्पर्शनेन्द्रिय मात्र की सहायता से जानने वाले जीव कितने हैं?

उत्तरः—वे पॉच प्रकार के है। इनमें कर्म फल चेतना की प्रधानता है। यद्यपि गौणता से ये भी रागद्वेष पूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार अपने पोषण निमित्त कुछ कर्म करते है, तथापि इन का कर्म प्रकट नहीं होता। जैसे वृक्ष अपनी पुष्टी के लिये पानी व मिट्टी को जमीन के नीचे से ग्रहण करके अपने सम्पूर्ण शरीर मात्र में पहुंचाता है, वृक्षों में नाड़ी नहीं होती। वे अन्य जन्तुओं के समान जीते है। उन पर विप व मद्य का बुरा असर पड़ता है इस बात को वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके सिद्ध कर दिया है, सर्वज्ञ के आगम में सचित्त, पृथ्वी, जल, अग्नि और पवन इन चारों में भी जीवों का निवास माना है, सो साइन्स की खोज

में कभी न कभी आ जायगा। गीली मिट्टी खेत व खानि की सचित्त है। वही जब सूख जाती है तब जीव रहित अचित्त हो जाती है। कुएँ, तालाब तथा नदी का पानी बहता हुआ जो शीतल है वह जीव सहित सचित्त है, पर वही पानी यदि गर्म हो जावे या गर्म किया जावे अथवा छिन्न भिन्न किया जावे या कषैले पदार्थों को मिलाया जावे तो जीव रहित अचित्त हो जाता है।

प्रश्न—वस्त्र से छना हुआ जल कितने देर तक पीना चाहिये ? शिवकोटि आचार्य इसके उत्तर में अपनी रत्नमाला में कहते हैं कि.—

> मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम्।
> उष्णोदकमहोरात्रं तथा संमूर्च्छनं भवेत् ॥२१॥ शिव०

वस्त्र से छना हुआ जल दो घड़ी तक, छान कर लवंग इलायची आदि से प्रासुक किया हुआ जल दो पहर अर्थात् ६ घंटे तक और छान कर तपाया हुआ जल चौबीस घंटे तक निर्जीव रहता है। उसके पश्चात् समूर्च्छन जीव सहित हो जाता है। मर्यादा के अन्दर तीनों प्रकार के जल जलकाय हैं, जलकायिकादिक नहीं। छना हुआ जल सचित्त योनिभूत है। त्यागी, सचित्त प्रतिमा व्रत पालने वाला और उससे ऊपर के व्रती प्रासुक तथा गर्म ही जल पीते हैं। और भी कहा है कि—

तिलतंडुलतोयञ्च प्रासुकं भ्रामरी गृहे ।
न पानाय मतं तस्मात् मुखशुद्धिर्न जायते ॥ २२ ॥

और भी प्रासुक जल करने की रीति यह बतलाते हैं कि तिल या चावल का धोवन मिला हुआ जल गृहस्थ के चौके में प्रासुक है, भोजन बनाने के वास्ते, किन्तु पीने के लिये ठीक नहीं है।

प्रश्न—क्यों नहीं पेय है ?

उत्तर—उस मिश्रित जल से मुख की शुद्धि नहीं होती, क्योंकि उसमे अन्न का अंश रहता है।

और भी अन्य भाँति से जल प्रासुक माना गया है:—

पाषाणस्फोटितं तोयं घटयन्त्रेण ताडितं ।
सद्यः संतप्त वापीनां प्रासुकं जलमुच्यते ॥ २३ ॥
देवर्षीणां प्रशौचाय स्नानाय च गृहार्थिनाम् ।
अप्रासुकं परं वारि महातीर्थजमप्यदः ॥ २४ ॥

पत्थरों की चट्टानो से टकराया हुआ, घट यन्त्र से ताडन किया हुआ तथा गर्म बावलियों का ताजा बहता हुआ जल अर्थात् कड़ी धूप से गर्म जल साधुओं के शौच विधान के लिये प्रासुक बतलाया गया है तथा गृहस्थियों के लिये भी शौच स्नान के लिये प्रासुक है; परन्तु भोजन पान के लिये अप्रासुक ही है।

नद, नदी, सरोवरादि तीर्थों से स्वयं उत्पन्न हुआ जल अप्रासुक ही है।

इसी प्रकार अग्नि भी सचित्त और अचित्त दो प्रकार की है। जलता हुआ अग्नि का चिनगारा व जलती हुई अग्नि की लौ सचित्त है। यदि कोयला मात्र गर्म हो उस में से लौ न उठती हो तो वह जीव रहित अचित्त अग्नि है। इसी प्रकार पवन यदि ठंडी है तो वह सचित्त हैं, यदि गर्म या बराबर रगड़ खाई हुई हो तो अचित्त हो जाती है। वनस्पति भी सूखने, पकने तथा छिन्न भिन्न करने से अचित्त हो जाती है। ये उपर्युक्त एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहलाते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के चार प्राण होते हैं जिनसे ये जीवित रहते हैं। उनके वियोग से ये मर जाते हैं। ये प्राण स्पर्शनेन्द्रिय काय बल आयु और श्वासोच्छ्वास हैं। यह सभी जानते हैं कि हवा के बिना वृक्ष कभी नहीं रह सकते। इसी प्रकार मिट्टी भी हवा के बिना मर जायगी तथा जल भी हवा के बिना सड़ जायगा व अग्नि भी हवा के बिना बुझ जायगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे हवा के बिना हम नहीं रह सकते अथवा जी नहीं सकते इसीलिये यह भी प्राणी है। यह एकेन्द्रिय जीव स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान करते हुये साताकारी स्पर्श से सुख व असाताकारी स्पर्श से दुःख मान लिया करता है। यद्यपि स्पर्श योग्य पदार्थों के नामादि नहीं

जानते हैं तथापि ज्ञान शक्ति से विषय को जानते हैं और मोह व राग के कारण दुःखी या सुखी होते हैं। इन जीवों की भी चार संज्ञायें पाई जाती हैं। आहार (भोजन की इच्छा) भय (अपनी रक्षा के लिये भय) मैथुन (स्पर्श करने की इच्छा) राग इनके नपुंसक वेद होता है। दोनों को ही स्त्री पुरुष सम्बन्धी राग भाव होता है। किसी के पुरुष सम्बन्धी भाव अधिक तथा किसी के स्त्री सम्बन्धी भाव अधिक होता है।

परिग्रह—अपने शरीर व पुष्टी के कारण पदार्थों मे ममता-वृक्षों के भीतर ये बातें दीख पड़ती हैं। वे भोजन की इच्छा से पानी और मिट्टी ज़मीन के अन्दर से खींचते है। कुल्हाड़ी मारे जाने पर भयवान् होते हैं। एक वृक्ष का अग दूसरे वृक्ष से मैथुन रूप में मिलता है तभी उसमें फल फूल लगते है। जैसे स्त्री पुष्पवती होती है और वही फूल फिर फल की दशा में परिणमन कर जाता है। जो बातें हम द्वि इन्द्रिय तथा तेइन्द्रिय जीवों मे चलती फिरती देखते हैं कि वह भय से भागता है। परस्पर दो जन्तु मैथुन रूप में मिल जाते हैं तथा आहार खोजते हैं यही सब बातें वृक्षादि एकेन्द्री जीवों में भी होती है। मात्र रसनादि इन्द्री और वचन बल इन वृक्षादि में नहीं होता है।

स्थावर नाम कर्म के उदय से ये स्थावर है। ये स्वयं बुद्धि पूर्वक गमन करते व उठते नहीं दीख पड़ते हैं। जैसे और कीटादि

स्वय चलते व ठहरते दिखाई पड़ते हैं वैसे ये अपने स्वभाव से कोई ठहरते व चलते रहते है।

तत्त्वार्थसार में इन स्थावरों के कुछ दृष्टान्त दिये है :—

मृत्तिका वालुका चैव शर्करा चोपलः शिला।
लवणोऽयस्तथा ताम्रं त्रपुः सीसकमेव च ॥ ५८ ॥

रौप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिंगुलं।
मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं सप्रवालकम् ॥ ५६ ॥

किरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च वादराः।
गोमेदो रुचकाङ्कश्च स्फटिको लोहितः प्रभः ॥६०॥
वैडूर्यं चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रवि प्रभः।
गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा ॥ ६१ ॥
मोठो मसार मल्लश्च सर्व एते प्रदर्शिताः।
षड् त्रिशत् पृथिवी भेदाः भगवद्भिर्जिनेश्वरैः ॥६२॥
अवश्यायो हिमविन्दुस्तथा शुद्ध घनोदके।
शीतकाद्याश्च विज्ञेया जीवाःसलिल कायिकाः ॥६३॥
ज्वालाङ्गारास्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च।
अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलन कायिकाः॥६४

महान् घनतनुश्चैव गुंजामंडलिरुत्कलिः ।
वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनं कायिकाः ॥६५॥
मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरुहास्तथा ।
सम्मूर्च्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः ॥६६॥

—पंचास्तिकाय द्वितीय०

भावार्थ—छत्तीस प्रकार के पृथ्वी कायिक जीव होते हैं। संस्कृत में जो नाम हैं उनका भावार्थ नीचे लिखा जाता है।

१ मिट्टी, २ बालू, ३ शर्करा या कंकड़, ४ उपल या पाषाण, ५ शिला, ६ लवणोदक या लवण, ७ ताम्बा, ८ त्रपु या एक प्रकार का शीशा, ९ सीसक, १० चादी, ११ सोना, १२ हीरा, १३ हरताल, १४ हिंगुल, १५ मनः शिल, १६ तूतिया, १७ अंजन, १८ प्रवाल, १९ किरोलक, २० अभ्रक, २१ बादरमणि, २२ गोमेद, २३ रुचकांक, २४ स्फटिक, २५ लोहा, २६ वैडूर्य, २७ चन्द्रकान्त, २८ जलकान्त, २९ सूर्यकान्त, ३० गेरू, ३१ चन्दन, ३२ वचूर, ३३ रुचक, ३४ मोंठ, ३५ मसार, ३६ गल्ल।

जल कायिक जीव के दृष्टान्त ये हैं—ओस, बर्फ की बून्द, शुद्ध जल मेघ जल, शीतक आदि।

अग्निकायिक जीव के दृष्टान्त ये हैं—जलता अंगारा, अर्चि या दीपक की लौ, मुर्मर।

पवन कायिक जीव के दृष्टान्त ये हैं—घन वायु, तनु वायु, गुंजा, मडलि, उत्कलि इत्यादि ।

वनस्पति कायिक जीव मूल, अग्र भाग, पर्व या पोरी, कन्द, स्कन्ध, वीज से पैदा होने वाले या संमूर्छन होते है। ये दो प्रकार के हैं—एक प्रत्येक, दूसरे अनन्त कायिक या साधारण । प्रत्येक वनस्पति मे एक काय का स्वामी एक होता है जब कि साधारण वनस्पति में एक काय के स्वामी अनन्त होते हैं।

इस प्रकार यह आत्मा अपने स्वरूप से च्युत होने के कारण पृथ्वी आदि स्थावर पर्याय को धारण कर अनन्त काल पर्यन्त इस ससार मे परिभ्रमण करता आ रहा है । यह आत्मा स्थावर नाम कर्म के उदय से भिन्न तथा अनन्त ज्ञानादि गुण समूह से अभिन्न आत्मा तत्त्व है। उसके अनुभव से शून्य जीव में जो स्थावर नाम कर्म वांधा है उसके आधीन होने से यद्यपि अग्नि और वायु कायिक जीवों को व्यवहार नय से चलायमान है, परन्तु निश्चय नय से यह स्थावर ही हैं। गोम्मटसार जीव काड में इस के पाच भेद वतलाये हैं—

पुढवी आऊ तेऊ वाउ कम्मोदयेण तत्थेव ।
णियवण्णच उक्क जुदो ताणं देही हवे णियमा ॥१८२॥
उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति ।
पत्तेयं मामण्णं पदिट्ठिदिदरेत्ति पत्तेय ॥१८५॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, रूप स्थावर नाम कर्म के भेदों के उदय से जीवों के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, रूप परिणये जो पुद्‌गल स्कंध उनमे अपने पृथ्वी आदि रूप वर्णादिक चतुष्क सयुक्त शरीर नियम से होते हैं। वनस्पति रूप विशेप को धरे जो स्थावर नाम कर्म की प्रकृति है उसके उदयसे जीव वनस्पतिकायिक होते हैं। उनके दो भेद है—प्रत्येक और साधारण। प्रत्येक के दो भेद हैं—प्रतिष्ठित प्रत्येक, और अप्रतिष्ठित प्रत्येक।

ये पाँचों ही थावर मन रहित होते हैं, क्योंकि इनमें मन नो इन्द्रिय न होने से ये तर्क वितर्क नहीं कर सकते और न कारण कार्य का विचार पहले से कर सकते हैं। ये स्पर्श इन्द्रिय के वशीभूत होकर उसी के विषय के जानने में निरन्तर लीन हैं। और भी कहा गया है कि वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रिय आवरण मतिज्ञान के क्षयोपशम के लाभ से, अन्य इन्द्रिय आवरण के उदय से तथा नो इन्द्रिय आवरणके उदय से ये जीव स्पर्शन इन्द्रिय मात्रके धारी एकेन्द्रिय होते हैं। यहा यह अभिप्राय है कि सर्व उपाधि से रहित शुद्ध सत्ता मात्र पदार्थ को कहने वाली निश्चय नय से यद्यपि जीव पृथ्वी आदि पॉच भेदों से शून्य है तथापि व्यवहार नय से ये जीव एकेन्द्रिय जाति नामा नाम कर्म के उदय से मन रहित एकेन्द्रिय होते हैं। इस एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म का वन्ध तव होता है जव शुद्ध मन में प्राप्त स्वसम्वेदन ज्ञान न होकर अशुद्ध मन में होने वाला राग आदि रूप अपध्यान होता है।

सारांश यह है कि ये पांच स्थावर कायधारी जीव जो सब मिलके अनन्तानन्त हैं मात्र एक स्पर्शनेन्द्रिय के धारी मन रहित होते हैं

वनस्पति कायिक जीवों मे ही निगोद जीव गर्भित हैं। उस के दो भेद हैं—एक नित्य निगोद, दूसरा इतर या चतुर्गति निगोद। नित्य निगोद में जीवों की अक्षय और अनन्त राशि है, जो सदा से निगोद पर्याय में ही पड़े हुये साधारण वनस्पति रूप में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार सज्ञाओं के वशीभूत हो संसार के कष्टों को व जन्म-मरण को पुनः पुनः उसी जाति की पर्याय में भोगते रहते हैं। यह निगोद जीवों की खान है। यहाँ से छ: मास आठ समय में छः सै आठ जीव निकल कर अन्य पर्याय धारण करते हैं यह नियम है। इतर निगोद वह है कि नित्य निगोद से निकले हुए जीव चारों गति में भ्रमण करते २ पाप कर्म बाँध जब फिर निगोद में जाकर जन्म लेते हैं, तब उन जीवों को इतर निगोद या चतुर्गति निगोद शरीर धारी कहते हैं। वृत्तिकार ने कहा है कि जो मानव आत्मा के अनुभव को न पाकर रागी, द्वेषी, होते हुये दूसरे की हानि में हर्ष व वृद्धि में द्वेष भाव रखते हुये अपध्यान करते है वे एकेन्द्रिय जाति नामा नाम कर्म बाँधकर अन्य पर्याय मे एकेन्द्रिय जन्मते हैं। दूसरे स्वर्ग तक के देव अन्य देवों से ईर्षा भाव रखने के कारण व सम्पत्ति के वियोग से आर्त्तध्यान करने के कारण मरकर एकेन्द्रिय जन्म धारण कर लेते हैं।

जैसा तत्त्वार्थसार में श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है:—

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः ।
तिर्यक्त्वमानुषत्वाभ्यामासहस्रारतः पुनः ॥१६६॥

ईशान स्वर्ग तक के देव एकेन्द्रिय तक का जन्म धारण कर सकते है तथा बारह स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय पशु तथा मनुष्य हो सकते हैं।

प्रश्न—पृथ्वी काय आदि एकेन्द्रिय जीवों में चेतना गुण है यह बात कैसे जानी जाती है?

उत्तर—जिस प्रकार अंडों में बढ़ते हुए, गर्भ में रहते हुए और मूर्च्छा को प्राप्त होते हुए मनुष्य जीते हैं। इसी तरह से एकेन्द्रिय जीवों को भी जानना चाहिये।

आगे इस विषय को स्पष्ट करते हैं—

जैसे अण्डों के भीतर के तिर्यंच व गर्भस्थ पशु, मनुष्य या मूर्छागत मानव इच्छापूर्वक व्यवहार करते नहीं दीखते हैं तैसे इन एकेन्द्रियों को भी जानना चाहिये, परन्तु अण्डों में जन्मने वाले प्राणियों के शरीर की पुष्टि या वृद्धि को देख कर बाहरी व्यापार करना न दीखने पर भी भीतर चैतन्य हैं, ऐसा जाना जाता है, यही बात गर्भ में आये हुये पशु या मानवों की भी है। गर्भ बढ़ता जाता है इसी से चेतना की सत्ता मालूम होती है। मूर्छा-

गत मानव तुरन्त मूर्छा छोड़ सचेत हो जाता है। इसी तरह एकेंद्रियों के भीतर भी जानना चाहिये। जब गर्भस्थ शरीर अण्डे या मूर्छा प्राप्त प्राणी म्लानित हो जाते अर्थात् बढ़ते नहीं या उन के शरीर की चेष्टा बिगड़ जाती है तब यह अनुमान होता है कि उनमें जीव नहीं रहा। उसी तरह एकेंद्रिय जीव जब म्लानित या मर्दित हो जाते हैं तब वे जीव रहित अचित हो जाते हैं। यहाँ यह भाव लेना योग्य है कि यह जीव निश्चय नय से स्वाधीनता सहित अनन्तज्ञान तथा अनन्तसुखका धारी है तथापि व्यवहारनय से पराधीन इन्द्रिय सुख में आशक्त होकर जो कर्म बाँधता है उस कर्म के उदय से अण्डज आदि के समान एकेन्द्रिय होकर आत्मा को दुःखों में पटक देता है।

भावार्थ यह है कि वनस्पति पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि इन पाँचों स्थावरों के शरीरों की वृद्धि होती है। जैसे 'अण्डों की व गर्भस्थ प्राणी के अगों की बढ़ती देख कर जीव के अस्तित्व का ज्ञान होता है वैसे एकेन्द्रियों की बढ़ती देख कर उन में जीव की सत्ता है ऐसा अनुमान करना चाहिये। जैसे अण्डों के व गर्भ के प्राणी बिलकुल असमर्थ हैं–उनको कोई निर्दयी नष्ट करे व वध करे व कष्ट दे व ताड़े व गर्मी सर्दी पहुँचावे तो वे जीव पराधीन हो सब सहते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय से विषय ग्रहण कर मोह द्वारा द्वेषभाव उत्पन्न कर दुःखी होते हैं वैसे ही एकेन्द्रिय जीव असमर्थ हैं—कोई उनको नष्ट करे, तोड़े, मरोड़े, दलमले, गरमी

सर्दी पहुचावे, काटे व तपावे तो वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। असमर्थपने से पराधीन रहकर स्पर्शनेन्द्रिय से जानकर व मोह के कारण द्वेषभाव जागृत कर सब कष्टों को सहते हैं। मूर्छा प्राप्त मानव का दृष्टान्त मात्र बुद्धि पूर्वक व्यापार न करने की अपेक्षा एकेन्द्रियों के लिये दिया गया है। एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और बादर। जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में न आवें व जो किसी से बाधा को न पावें न स्वय बाधा दें—पर्वतादि के भीतर भी हो व उनके भीतर से निकल जा सकें वे सब सूक्ष्म एकेन्द्रिय हैं तथा जो आधार में हों व इन्द्रिय द्वारा ग्रहण मे आवें, बाधा करें व बाधा को पावें वे सब बादर एकेन्द्रिय है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति अर्थात् निगोद ये पॉच प्रकार के एकेन्द्रिय जो सूक्ष्म हैं वे तीन लोक मे सर्वत्र हैं। बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि व निगोद जीव जो बादर हैं उनमें से ही कुछ हमारी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में आते हैं। प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है। उनमें जिन प्रत्येक वनस्पति के आश्रय निगोद या साधारण या अनन्तकाय वनस्पति जब तक रहती है तब तक वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक व जब उनके आश्रय अनन्तकाय नहीं रहती है तब वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाते हैं। श्री गोम्मटसार जी में कहा है.—

बादरसुहुमदयेण य बादरसुहमा हवंति तद्देहा।
घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहमं ॥१८३॥

तद्देहमंगुलस्स असंखभागस्स विंदमाणं तु ।
आधारे थूलाओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहमा ॥१८४॥

इन एकेन्द्रियों का शरीर वादर तथा सूक्ष्म नामकर्म के उदय से वादर तथा सूक्ष्म होता है। जिन का शरीर रुकने वाला, घात किया जाने वाला, अन्य को रोकने वाला व अन्य को घातक हो सके सो वादर शरीरधारी जीव होते हैं तथा जिन का शरीर दूसरे को घाते नहीं व दूसरे से उनका घात हो नहीं वे एकेन्द्रिय सूक्ष्म होते हैं। इनमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चार काय वाले एकेन्द्रियों के शरीर वहुत छोटे हैं। सामान्यपने दोनों के वादर और सूक्ष्म भेद वाले इन चारों के शरीर घनांगुल के असख्यातवें भाग से वड़े कभी नहीं होते हैं। तथा आधार में अर्थात् अन्य पुद्गलों के आश्रय जिन का शरीर हो वे वादर हैं तथा सर्वत्र लोक में, जल में, थल में या आकाश में निरतर आधार की अपेक्षा विना जिनके शरीर हैं वे जीव सूक्ष्म हैं। जल थल रूप आधार से इन के शरीर के गमन का नीचे ऊपर इत्यादि कहीं भी रुकना नहीं होता है। यहाँ निरतर का अर्थ यह है कि वीच में तीन लोक का कोई स्थान इन सूक्ष्म जीवों से खाली नहीं है। इस से पाठकों को ज्ञान हो जायगा कि लोकाकाश सर्वत्र जीवों से ठसाठस भरा हुआ है तथा इन पृथ्वी आदि चारों का शरीर वहुत ही छोटा होता है। एक रत्ती भर मिट्टी में एक वूंद पानी में एक

अग्नि की लपक में एक वायु के महीन झोंके में अनेक एकेन्द्रियों के समूह हैं—ऐसा जान कर दयावानों को इनका व्यवहार यत्न पूर्वक करना योग्य है। स्वच्छंद व निर्दयी हो इनका घात करना योग्य नहीं है।

एकेन्द्रिय प्राणियों के घात करने से चार प्राणों का घात होता है। वे चार प्राण हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास इनके वियोग का नाम मरण है।

इस प्रकार यह आत्मा अनादि काल से एकेन्द्रिय स्थावर पर्याय को धारण कर अपने निजस्वरूप से च्युत होकर अनंत दुःख रूपी सागर मे गोता लगा रहा है।

फिर यह आत्मा अपने शरीर नाम कर्म के उदय से दो इन्द्रियादि शरीर भी धारण करता है उस को कहते हैं—

शम्बूकः शंखशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाःप्राणिनो मताः ॥तत्त्वार्थ०५३॥

शम्बूक, शख, सीप, गडूपद कौड़ी, पेट के बल चलने वाले कीड़े आदि द्वीन्द्रिय प्राणी है।

श्रीकुलभद्राचार्य सार समुच्चय में कहते हैं—

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखम् ।
तच्च कर्मविबन्धाय दुःखदानैकपंडितम् ॥७७॥

इन्द्रियों के द्वारा जो सुख है वह सच्चा सुख नहीं है वह सुख का आभास है, मात्र सुख सा मालूम पड़ता है। यह इन्द्रिय सुख कर्मों का बाँधने वाला है तथा दुःखों के देने में प्रवीण है।

तत्वार्थसार में भी तेन्द्रिय जीवों के उदाहरण इस तरह बताये हैं।

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चैन्द्रगोपकाः।
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ॥५४॥

कुन्थु, चींटी, कुम्भी, विच्छु, इन्द्रगोपक, घुन, खटमल, जूं आदि तीन इन्द्रिय के धारी जन्तु होते हैं। ये सभी कर्म फल चेतना से सुखी व दु.खी अपने को मानते हैं तथा अपने इन्द्रियों की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये रागद्वेप पूर्वक काम करते हुये कर्म चेतना का अनुभव करते हैं।

यह आत्मा चार इन्द्रिय भी है। पंचास्तिकाय में कहा भी है—

उद्दंसमसयमक्खिय मधुकरभमरा पतंगमादीया।
रूपं रसं च गन्धं फासं पुण ते विजाणांत ॥१२४॥ द्वि०

जो मिथ्यादृष्टी जीव निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान की भावना से उत्पन्न सुख रूपी अमृत के पान से विमुख हैं तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु आदि इन्द्रियों के विपयों के सुख के अनुभव में लीन हैं वे चौइन्द्रिय जाति नामा नाम कर्म बांधतेहैं।

इस नाम कर्म के उदय के आधीन होकर तथा वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन्द्रिय का आवरण रूप मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के लाभ से और नौ इन्द्रिय के आवरण के उदय से चार इन्द्रियधारी मन रहित होते हैं।

इस गाथा में चार इन्द्रियधारी जीवों के दृष्टान्त है—तत्वार्थ-सार में भी इस तरह बताया है:—

मधुपः कीटको दंशमशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटाशलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ॥५५॥

मधु मक्खी, कीटक, डांस, मच्छर, मक्खी, भिर्ड़, टीडी आदि चार इन्द्रिय जीव होते हैं। जो अज्ञानी इन्द्रियों के विषयों के अति लोलुपी होते हैं वे ही ऐसा नाम कर्म बाँधते हैं जिससे चार इन्द्रिय जीव होते हैं, जो निगोद से निकल कर पृथ्वी-कायादि होते होते द्वीन्द्रिय से तेइन्द्रिय व तेइन्द्रिय से चौइन्द्रिय होते हैं उनके कषाय के उदय की मदता से जब कभी ऊँची जाति का नाम कर्म बध जाता है तब वे ऊँची स्थिति में जन्म पाते हैं। सो ऐसा दीर्घ कालान्तर कभी किसी को अवसर मिलता है। हमको यह विचारना चाहिए कि हमने बहुत भ्रमण करते हुए किसी मन्द कषाय से बाँधे हुये पुण्य के प्रताप से जब पंचेन्द्रिय सैनी मानव जन्म पाया है तब हम ऐसा कार्य फिर न करें कि जिससे पंचेन्द्रिय से चौइन्द्रिय आदि हो जावें। इस वर्तमान

जीवन को दुर्लभ रत्न के समान समझ कर इसकी सफलता आत्म कल्याण के पुरुपार्थ से कर लेनी चाहिये। मानव जीवन को निरर्थक खो देने से फिर ऐसा समय मिलना कठिन हो जायगा। इसलिये एक समय भी धर्म भावना के विना न गवाना चाहिये।

श्री कुलभद्राचार्य सार समुच्चय में कहते हैं कि—

क्षणोऽसमतिक्रान्ते सद्धर्म परिवर्जिते।
आत्मानं मुषितं मन्ये कषायेन्द्रियतस्करैः ॥५६॥
धर्मकार्ये मतिस्तावद्यावदायुर्दृढं तव।
आयुः कर्मणि संक्षीणे पश्चात्त्वं किं करिष्यसि ॥६०॥
धर्माचर प्रयत्नेन मा भवस्त्वं मृतोपमः।
सद्धर्म चेतसां पुंसां जीवितं सफलं भवेत् ॥६१॥
मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पाप कारिणः ॥६२॥
धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम्।
तस्मिन् पीते पर सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥६३॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि जो एक क्षण भी सत्य धर्म की सेवा बिना बिताता है उसके कषाय व इन्द्रियरूपी चोरों के द्वारा मैंने अपने आप को ठगा लिया है। जब तक तेरी आयु दृढ है तब

तक धर्म कार्य में बुद्धि रख। जब आयु कर्म का क्षय हो जायगा तब तू क्या करेगा ? धर्म को यत्न से साधन कर, मृतक के समान मत रह। जिनके चित्त में सत्य धर्म बसता है उन्हीं का जीवन सफल है। जो मानव धर्म का आचरण करने वाले हैं वे मर जाने पर भी नहीं मरे हैं तथा जो मानव पाप कर्म करने वाले हैं वे जीते हुए भी मरे हुए हैं। इसलिये दुःखरूपी रोगों को नाश करने वाले धर्मरूपी अमृत को सदा पीना चाहिये जिसके पीने से जीवों को सदा उत्तम सुख मिलता है।

इस प्रकार यह आत्मा अनेक योनियों में भ्रमण कर एकत्व तथा अनेकत्व को प्राप्त होता है इसकी महिमा को कौन जान सकता है ?

आगे के श्लोक में ग्रन्थकार कहते हैं कि यह आत्मा एक अनेक, अल्प अधिक, नाशवान् अविनाशी, अस्ति-नास्ति इत्यादि इत्यादि भावना को प्राप्त होता है।

एकननेकननल्पनधिकं क्षयनक्षयनस्तिनास्तिमू—
लोकमितं स्वदेहमितनुत्तमबोधसुदर्शनगळि ॥
लोककलोककं नेरेवनगदनोटदे बद्धनात्मना ।
लोकनर्दिदे मुक्तनिदु शक्यमदागंपराजितेश्वरा ! ॥६८॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! यह आत्मा एक भी है अनेक भी

है, कम ज्यादा भी है, नाश रहित है, नाशवंत भी है, अस्ति रूप है, नास्ति रूप भी है। तीन लोक के परिमित है और धारण किये हुए शरीर के प्रमाण भी है। लोकालोक को व्यापे हुए है व कर्मबद्ध है और मुक्त भी है। इस प्रकार इनकी महिमा को कौन जान सकता है ? यह तो ध्यान में योगियों को गम्य है अन्यथा नहीं॥ ६८॥

68. O, Aparajiteshwar ! This soul is one & many, little & much destructible & beyond destruction, is & is not, bodily in size & still pervading the whole universe, in bondage & still out of bondage. In this way who else can know its greatness except a yogi in his meditation

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में बताया है कि आत्मा एक अनेक अल्प-अधिक, नाश-नाशरहित, अस्तिस्वरूप-नास्ति स्वरूप, तीन लोक में बराबर तथा छोटे बड़े शरीर परिमित तीन लोक व्यापी, कर्मबद्ध और मुक्त अवस्थाओं को भी धारण करने वाला है। इस तरह इस आत्मा की महिमा को जानने को कौन समर्थ है ?

यह आत्मा शुद्ध निश्चय द्रव्य दृष्टि की अपेक्षा से अखंड अविनाशी शुद्ध ध्रुवरूप एक है। और व्यवहारनय की अपेक्षा से अनेकांत स्याद्वाद रूप, अस्ति-नास्ति, देव; तिर्यंच, मनुष्य, देव,

नारकी इत्यादि शुभाशुभकर्म नाम कर्म की अपेक्षा को लेकर अनेक रूप में शरीरधारी होकर परिणमनशील है। यही आत्मा ज्ञान दृष्टि की अपेक्षा से तीन लोक व्यापी है और तीन लोक के बराबर भी है।

प्रश्न—यह आत्मा हमेशा शुद्ध अखंड अविनाशी ध्रुव एकाकार है और सम्पूर्ण पर पदार्थ पर द्रव्य पुद्गलादि बाह्य पदार्थ तथा जड़ से भिन्न है तो फिर भी यह आत्मा एक अनेक, अस्ति-नास्ति रूप कैसे है?

उत्तर—यह आत्मा शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध एकाकार सिद्ध स्वरूप है, परन्तु परद्रव्य नय के निमित्त यह आत्मा अपने निज स्वरूप से घिरा हुआ है अर्थात् परवस्तुके संसर्ग से रागी-द्वेषी कहलाता है, इस राग के कारण परवस्तु में रत होकर पर-वस्तुको ही अपना मानकर पर हो गया है और अपने स्वरूप से च्युत है। इसलिये यह आत्मा पर वस्तु के रागी द्वेषी होने के कारण एक अनेक अस्ति नास्तिरूप कहलाता है।

प्रश्न—फिर इस आत्मा को बद्धाबद्ध व नित्यानित्य ही समझना चाहिए क्योंकि यह आत्मा नित्यानित्य के कारण कभी मुक्त नहीं है। अतः इसको मुक्त कहना ठीक नहीं है, नित्यानित्य ही कहना ठीक है?

उत्तर—इस तरह शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि पहले ही

हम कह चुके है कि जब तक यह जीवात्मा मिथ्यात्व के आधीन है तब तक इस जीव को व्यवहार नय की अपेक्षा लिया गया है। इस दृष्टि से जैन सिद्धान्त नित्यरूपी तुलापर दृष्टि रखता है। जहाँ तक इस जीव के अन्दर मिथ्वात्व कर्म का उदय है वहाँ तक नय की अपेक्षा रखना इसमें कोई दोप नहीं आता है। तत्त्व भावना में कहा भी है कि —

मोहान्धानां स्फुरति हृदये वाह्यमात्मीयवुध्या।
निर्मोहानां व्यपगतमलःशश्वदात्मैव नित्यः॥
यत्तन्देदं यदि विविदिषा ते स्वकीयं स्वकीयैं।
मोहं चित्त ! क्षपयसि तदा किं न दुष्टं क्षणेन ॥८८॥

जहाँ तक संसारी जीवों के हृदय में मिथ्यात्व कर्म का उदय है क्रि जिस से उनके मिथ्यात्व रहता है वहाँ तक वे पर वस्तु को अपनी माना करते हैं। जो शरीर क्षणभंगुर है उसे अपना मान लेते हैं, फिर शरीर सम्बन्धी सम्पूर्ण पदार्थों को अपना मान लेते हैं, उनकी बुद्धि बिलकुल अन्धी हो जाती है, परन्तु जब मिथ्यात्व चला जाता है और सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो जाता है तब पदार्थों का सच्चा स्वरूप जैसा का तैसा झलक जाता है। तब यह ज्ञानी जीव मात्र एक अपने आत्मा के ही शुद्ध स्वभाव को अपना-जानता है। रागादि भावों को, आठ कर्मों को, शरीरादि को व अन्य वाहरी पदार्थों को अपना कभी नहीं जानता है। वह देख

करके निर्णय कर लेता है कि सर्व पदार्थ विलय होते जाते हैं। किसी का सम्बन्ध मेरे आत्मा के साथ नित्य नहीं रहता है। शरीर ही जब छूट जाता है तब दूसरे पदार्थ की क्या गिनती ? तब वह ज्ञानी अपने मन को समझाता है कि जब तू भले प्रकार जान गया है कि जगत् का एक परमाणु मात्र भी अपना नहीं है तब फिर तू क्यों मूढ़ बनता है और क्यों नहीं अपनी भूल को छोड़ता है। तू ने जिन शरीरादि पदार्थों को अपना मान रक्खा है वे जब तेरे नहीं होते तब तेरा उनसे मोह करना वृथा है। तू मात्र अपने स्वामी आत्मा ही को अपना मान। वास्तव में जिन के यथार्थ निर्णय हो जाता है उनके दुर्बुद्धि नहीं पैदा होती है।

श्री अमितगति सुभाषितरत्नसदोह में कहते हैं कि:—

यथार्थ तत्वं कथितं जिनेश्वरैःसुखावहं सर्व शरीरिणां सदा।
निधाय कर्णे विहितार्थ निश्चयो न भव्य जीवो वितनोति दुर्मतिम् ॥१५७॥

जिनेन्द्र भगवान् ने सर्व शरीर धारी प्राणियों को सदा सुख देने वाले यथार्थ तत्व का कथन किया है। जो अपने कानों से सुन कर दिल में रखता है व ठीक २ निश्चय कर लेता है वह भव्य जीव फिर मिथ्या बुद्धि नहीं करता है।

जब तक यह जीव अज्ञानी तथा पर वस्तु के संयेग सहित है

तब तक उत्पादव्यय रूप में परिणमन करता ही रहता है, इसको कभी भी विश्राम नहीं मिलता है।

प्रश्न—ऊपर जो ग्रन्थकार ने अस्ति नास्ति इत्यादि भेद बतलाया है वह आत्मा के अन्दर ही बतलाया गया है या अन्य किसी में ?

उत्तर—व्यवहार नयकी अपेक्षा से आत्मा के अन्दर है और निश्चयनय की अपेक्षा से पुद्‌गल मे हैं।

प्रश्न—नय का विवरण किस लिये किया गया है ?

उत्तर—अन्य एकांत वादियों की शका को दूर कर यथार्थ वस्तु का स्वरूप बतलाने के लिये नय का विवरण किया गया है।

नय कितने प्रकार के हैं ? नय सात प्रकार के हैं।

इस का स्वरूप पचास्ति काय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने इस प्रकार कहा है कि:—

सिय अत्थि णत्थि उदयं अव्वत्तव्वं पुणोय तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१४॥

द्रव्य प्रगटपने की विवक्षा से या प्रश्नोत्तर के कारण से सात भेद रूप होता है जैसे स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति, स्यात् उभय अर्थात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य तथा स्यात अस्ति अवक्तव्य तीनरूप अर्थात् स्यात् अस्ति, अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

अन्य ग्रन्थ में भी कहा है कि—

एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनय वाक्यतः
सदादिकल्पना या सप्तभंगी सा मता ॥

एक ही पदार्थ में बिना किसी विरोध के प्रमाण व नय के वाक्य से सत् आदि की कल्पना करना सो सप्त भगी कही गई है। जैसे (१) स्यात् अस्ति अर्थात् कथंचित् या किसी अपेक्षा से द्रव्य है अर्थात् द्रव्य अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा से है। (२) स्यात् नास्ति अर्थात् कथचित् या किसी अपेक्षा से द्रव्य नहीं है अर्थात पर द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव रूप पर चतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य नहीं है। (३) स्यात् अस्ति नास्ति अर्थात् कथचित् द्रव्य है व नहीं दोनों रुप है। अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है, पर चतुष्टय की अपेक्षा नहीं है। (४) स्यात् अवक्तव्य अर्थात् कथंचित द्रव्य वचन गोचर नहीं है अर्थात् एक समय मे वह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा है व पर चतुष्टय की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि कहा है—"क्रम-प्रवृत्तिर्भारती" अर्थात् वाणीक्रम क्रम से ही बोली जा सकती है। (५) स्यात् अस्ति अवक्तव्य अर्थात् कथचित् द्रव्य है और अव-क्तव्य दोनों रूप है। अर्थात् स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से है, परन्तु एक साथ स्व पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है। (६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य अर्थात् कथचित् द्रव्य नहीं और

अवक्तव्य दोनों रूप है अर्थात् पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है। (७) स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य अर्थात् किसी अपेक्षा से है व नहीं तथा अवक्तव्य तीनों रूप है अर्थात् क्रम से स्वचतुष्टयकी अपेक्षा है, पर चतुष्टयकी अपेक्षा नहीं है, परन्तु एक साथ स्व पर चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है। इस तरह ये सात भंग प्रश्न के उत्तर के वश से द्रव्य में सम्भव है। अर्थात्—(१) क्या द्रव्य है? (२) क्या द्रव्य नहीं है? (३) क्या द्रव्य दोनों रूप है? (४) क्या द्रव्य अवक्तव्य है? (५) क्या द्रव्य अस्ति और अवक्तव्य दो रूप है? (६) क्या द्रव्य नास्ति और अवक्तव्य दो रूप है? (७) क्या द्रव्य अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य तीन रूप है? इन प्रश्नों के किये जाने पर उनका सात प्रकार ही समाधान उत्तर में किया जाता है। यह प्रमाण सप्तभंगी का स्वरूप है।

प्रश्न—एक ही द्रव्य किस तरह सात भंग रूप होता है?

उत्तर—जैसे देवदत्त नाम का पुरुष एक ही है, वही मुख्य और गौण की अपेक्षा से बहुत प्रकार है सो इस तरह है कि एक वही देवदत्त अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता कहा जाता है मामा की अपेक्षा से भानजा कहा जाता है, वही अपने भानजों की अपेक्षा से मामा कहा जाता है. अपनी स्त्री की अपेक्षा से भर्तार कहा जाता है, अपनी बहन की अपेक्षा से भाई कहा जाता है, अपने शत्रु की अपेक्षा से शत्रु कहा जाता है तथा अपने इष्ट की अपेक्षा से मित्र कहा जाता है। उसी प्रकार एक ही द्रव्य

मुख्य और गौण की अपेक्षा के वश से सात भंगरूप हो जाता है। इसमें कोई दोष नहीं है, यह सामान्य व्याख्यान है। यदि इससे सूक्ष्म व्याख्यान करें तो द्रव्य में जो सत् एक नित्य आदि स्वभाव हैं उनमें से एक-एक स्वभाव के वर्णन में सात भग कहने चाहिये। वे इस तरह हैं कि स्यात-अस्ति, स्यात नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि या स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यान् एक अनेक, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि या स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् नित्यानित्य, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि। ये प्रत्येक के सात भग इसी देवदत्त के दृष्टान्त के समान होंगे। जैसे एक ही देवदत्त (१) स्यात् पुत्र है अर्थात् अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है। (२) अपुत्र है अर्थात अपने पिता के सिवाय अन्य की अपेक्षा से वह पुत्र नहीं है। (३) स्यात् पुत्र अपुत्र दोनों रूप है अर्थात् अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है तथा अन्य की अपेक्षा पुत्र नहीं है (४) स्यात् अवक्तव्य है अर्थात् एक ही समय भिन्न भिन्न अपेक्षा से कहे तो यह नहीं कह सकते कि पुत्र अपुत्र दो रूप है। (५) स्यात पुत्र अवक्तव्य है अर्थात् देवदत्त जब अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है तभी एक समय में कहने योग्य न होने से कि पुत्र है या अपुत्र है यह अवक्तव्य भी है। (६) स्यात् अपुत्र अवक्तव्य है अर्थात् जब यह देवदत्त अपने पिता से अन्य की अपेक्षा अपुत्र है तभी एक समय में कहने योग्य न होने से अवक्तव्य है। (७) स्यात् पुत्र अपुत्र तथा अवक्तव्य है अर्थात्

अपने पिता की अपेक्षा पुत्र, पर की अपेक्षा अपुत्र है। तभी एक समय में कहने योग्य न होने से अवक्तव्य है। इसी तरह से सूक्ष्म व्याख्यान की अपेक्षा सप्त भगी का कथन जान लेना चाहिये। स्यात् द्रव्य है इत्यादि, ऐसा पढ़ने से प्रमाण सप्त भगी जानी जाती है क्योंकि स्यात् अस्ति यह वचन सकल वस्तु का ग्रहण करने वाला है इसलिए प्रमाण वाक्य है। स्यात् अस्ति एव द्रव्यम् , ऐसा वचन वस्तु के एक देश को अर्थात् उसके मात्र अस्तित्व स्वभाव को ग्रहण करने वाला है इससे नय वाक्य है क्योंकि कहा है—

"सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशोनयाधीन इति।"

अर्थात् वस्तु सर्व को कहने वाला वचन प्रमाण के आधीन है। अस्ति द्रव्य यह प्रमाण वाक्य है व अस्ति एव द्रव्य यह नय वाक्य है। इस तरह प्रमाणादि रूप से व्याख्यान जानना।

इस विवेचन मे सप्त भगी का स्वरूप इसलिये बताया है कि जब पहले कह चुके हैं कि यह संसारी आत्मा उत्पाद व्यय ध्रुव स्वरूप है तब यह द्रव्य एक ही समय मे नित्य और अनित्य दोनों रूप सिद्ध होता है। इन दो विरुद्ध स्वभावों को समझाने की रीति सात तरह मे होती है। शिष्यों को शंका न रहे वे ठीक ठीक समझ जावें कि भिन्न २ अपेक्षा से दो विरुद्ध स्वभाव एक पदार्थों मे हैं परन्तु उनका कथन एक समय मे वचनों से नहीं

हो सकता है। जब हम कहेंगे कि द्रव्य है तब इस वचन का यह भाव होगा कि द्रव्य में अपने पने की सत्ता है या मौजूदगी है तभी उस द्रव्य मे अपने को छोड़ कर अन्य सब द्रव्यों की असत्ता है या मौजूदगी नहीं है। ये अस्ति नास्ति दो विरोधी स्वभाव हर एक द्रव्य में मौजूद हैं, जैसे किसी ने प्रश्न किया, वहाँ कौन बैठा है? हमने उत्तर दिया कि वहाँ रामसेवक बैठा है, फिर वह प्रश्न करता है कि क्या वहाँ रामचरण नहीं है ? हम उसी रामसेवक पर लक्ष्य करके जवाब देते हैं कि वहाँ रामचरण नहीं है। हमारे इन दो वाक्यो के कहने का यही भाव है कि रामसेवक में रामचरण या अन्य किसी और की असत्ता या गैर मौजूदगी है.।

इस प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा से यह जीवात्मा शुभाशुभ कर्म के द्वारा कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य, कभी नारकी इस तरह हमेशा सप्त भग रूप मे अस्ति नास्ति रूप परिणमन करता है। और इसी को पुनर्जन्म भी कहते हैं इसलिये इस जीव का पुनर्जन्म भी मानना पड़ता है।

इस प्रकार नयार्थ को कहा । अब मतों की अपेक्षा लेकर जीवत्व की व्याख्या करते हैं । चार्वाक मतो की अपेक्षा लेकर पुनर्जन्म की सिद्धि करते हैं।

वच्छक्खरं भवसारित्थसग्गणिरयपियराय।

चुल्लि यहंडयि पुण मयउ णव दिट्ठंता जाय ॥

वत्साक्षरं भव भव सादृश्य स्वर्गनर्क पितरा च ।
चुल्ली च हंडकी पुनर्मृतिका नव दृष्टांता ये च ॥
पं० प्र० पृ० सं० १४२ ।

जो आत्मा और पुनर्जन्म को नहीं मानते है उनके लिये ये नव दृष्टान्त हैं—

(१) वत्स (वालक)—जन्मते ही माता का स्तन पान करने लगता है, सो पूर्व सस्कार के विना होना अशक्य है । इससे आत्मा और उसका पूर्व जन्म सिद्ध है ।

(२) अक्षर—प्राणी अक्षरों का उच्चारण अपने प्रयोजनवश ज्ञान पूर्वक करता है । यदि पचभूत से वना जीव माना जायगा तो उसमें विचार पूर्वक व ज्ञानजन्य अक्षरों का उच्चारण नहीं हो सकता । जैसे—जड़ पुद्गल के वने यन्त्र में ज्ञान पूर्वक शब्दोच्चारण नहीं होता, इससे भी भूतों से भिन्न आत्मा सिद्ध है ।

(३) भव (जन्म)—देह का धारण करना—जब तक स्थायी आत्मा न माना जायगा, तवतक देह का धरना—जन्मना नहीं वन सकेगा ।

(४) सादृश्य—जो वात एक सजीव प्राणी में देखी जाती है वही दूसरों में देखी जाती है । सभी प्राणियों के भीतर आहार, भय, मैथुन और परिग्रह चार सज्ञायें होती हैं । इन्द्रियों के द्वारा काम करना समान है । ये सव भिन्न आत्मा के माने विना नहीं

हो सकते । भौतिक देह मात्र मानने से सादृश्यता अकारण हो जायगी। बिना विशेष कारण के ये सदृश्यता क्यों है ?

(५-६) स्वर्ग-नर्क—जगत् में स्वर्ग और नरक प्रसिद्ध हैं, यदि आत्मा न माना जायगा तो कौन पुण्य के फल से स्वर्ग में व कौन पाप के फल से नरक में जायगा ?

(७) पितर—यदि आत्मा न माना जायगा तो जो यह बात प्रसिद्ध है कि भूत प्रेत आकर कह देते हैं कि हम तुम्हारे पिता आदि थे यह बात नष्ट हो जायगी अथवा लौकिक मे पितृपूजा श्राद्ध आदि करते हैं, सो आत्मा के नष्ट होते हुये नहीं बन सकेंगे।

(८) चूल्हा—यदि पॉच भूतों से आत्मा बन जाता हो तो चूल्हे पर चढ़ाई हुई हांडी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पॉच तत्त्वों से युक्त है उसमें ज्ञान व इच्छा क्यों नहीं दिखलाई पड़ती है।

(६) मृतक—मुर्दा शरीर भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश सहित है फिर उसमें इच्छा व ज्ञान क्यों नहीं होते ?

इस तरह नव दृष्टान्तों से आत्मा जड़ से भिन्न नित्य है यह बात सिद्ध होती है। अथवा सामान्य चेतना-गुण का व्याख्यान सर्व मतों के लिये साधारण रूप से जानना चाहिये। यह जीव ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग से भिन्न नहीं है ऐसा व्याख्यान नैयायिक मत के अनुसारी शिष्य को समझाने के लिये कहा है क्यों

कि नैयायिक गुण और गुणी की भिन्नता किसी समय मान लेता है। यह आत्मा ही मोक्ष का उपदेशक तथा मोक्ष का साधक होने से प्रभु है। यह व्याख्यान इस लिये किया है कि वीतराग सर्वज्ञ का वचन प्रामाणिक होता है तथा भट्टचार्वाक मत के आश्रित शिष्य की अपेक्षा से सर्वज्ञसिद्धि करने के लिये नीचे लिखे दोहे में कथित नव दृष्टान्तों से कथन किया है क्यों कि भट्टचार्वाक मत किसी सर्वज्ञ को नहीं मानता है।

रयणदिवदिणयसंदम्हि उड्ड दाउपासणु ।
सुणरुप्पफलिहउ अगिणि णव दिट्ठंता जाणु ॥
रत्नदीपदिनकर च इंदुं उड्ड धातुपाषाण ।
स्वर्णरूप्यस्फटिकाग्निः नव दृष्टांतान् जानीहि ॥

यहाँ सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये नौ दृष्टान्त दिये हैं। जैसे रत्नदीप में प्रभा कमती वढ़ती दिखने से अनुमान होता है, कि किसी में अधिक से अधिक तेज होना चाहिये। इसी तरह जगत् के प्राणियों में ज्ञान कमती वढ़ती दिखलाई पड़ता है तब किसी भी जीव में ज्ञान की पूर्णता सम्भव है। जिस में पूर्णज्ञान है वही सर्वज्ञ है। यही भाव अन्य दृष्टान्तों का भी है जैसे (२) सूर्य की किरण का कमती वढ़ती तेज, (३) चन्द्रमा की चाँदनी, (४) नक्षत्र की ज्योति, (५) धातुपाषाणों का प्रकाश, (६) सोने की चमक,

(७) चाँदी की चमक, (८) स्फटिक की ज्योति, (९) आग की तेजी। सोना, चाँदी का दृष्टान्त इसलिये भी कार्यकारी होगा कि ये शुद्ध होते २ पूर्ण शुद्ध भी पाये जाते हैं। ऐसे ही सर्वज्ञ हैं।

यह जीव ही शुद्ध या अशुद्ध भावों का कर्ता है यह व्याख्यान "जीव अकर्ता है" ऐसे एकान्त मत धारी सांख्य मत के अनुसार शिष्य को समझाने के लिये किया है तथा "यह जीव भोगता है" यह व्याख्यान कर्ता कर्मों का फल नहीं भोगता है; क्योंकि वह क्षणिक है इस मत के मानने वाले बौद्ध मत के अनुसारी शिष्य के सम्बोधन के लिये किया है। यह जीव अपने शरीर में प्राण रहता है, यह कथन नैयायिक, मीमासक व कपिल मतानुसारी आदि शिष्यों के सन्देह निवारण के लिये किया है, क्योंकि वे आत्मा को सर्वव्यापी या अणुमात्र मानते हैं। यह जीव अमूर्तिक है। यह व्याख्यान भट्टचार्वाक मत के अनुसारी शिष्य के सबोधन के लिये किया है, क्योकि वे जीव को अतीन्द्रिय ज्ञानधारी शुद्ध जड़ से भिन्न नहीं मानते है। यह जीव द्रव्य कर्म व भाव कर्म से सयुक्त होता है, यह व्याख्यान सदा शिव मत के निराकरण के लिये किया है, क्योंकि वे आत्मा को सदा मुक्त व शुद्ध ही मानते हैं। इस तरह मतों के द्वारा अर्थ जानना योग्य है। आगम द्वारा अर्थ का व्याख्यान यह है कि जीव जीवत्व चेतना आदि स्वभावों का धारी है यह बात परमागम में प्रसिद्ध ही है। यहाँ यह भावार्थ है कि कर्मों की उपाधि से उत्पन्न जो मिथ्यात्व व रागादि रूप

समस्त विभाव परिणाम हैं उनको त्यागकर उपाधि रहित केवल ज्ञानादि गुणों से युक्त शुद्ध जीवास्तिकाय ही निश्चय नय से उपादेयरूप से भावना करने योग्य है। इस ऊपर के श्लोक का सार यह है कि जितने नय हैं सभी व्यवहार हैं और यह जो व्यवहार है, वही संसार है और आत्मा हमेशा ससार का निमित्त पाकर हर समय मे परिणमन करता है। रागादि पर निमित्त के विपरीत जिस समय वीतराग भावना जगती है तब अपनी शुद्धात्म भावना के बल से भेद विज्ञान की प्राप्ति होती है और तब यह आत्मा कर्म रूपी शत्रु को सामने कर लेता है, और सिद्ध पद की प्राप्ति कर अविनाशी सुख का मार्ग बन जाता है। इसकी महिमा को कौन जान सकता है अर्थात् कोई नहीं।

जो नय विवाद हुए हैं वे अज्ञानी के भ्रम को दूर करनेके लिये ही हुये हैं परन्तु आत्मा मे कोई विकल्प या नय विवाद नहीं है आगे के श्लोक में ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं।

मानवरात्मतत्व मरियल्के कुवादि विवर्जनक्के ना-
नानयसु प्रमाणनिधि संग्रहमुं नेरेदिदुर्वल्लदे ॥
ध्यानिसुवागळो वहुविकल्पतेयिल्लमणित्रयात्मने-
वीनुत भाव मोदे वेळगिपुर्दला अपराजितेश्वरा ! ॥६९

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! मानव प्राणी अपने आत्म स्वरूप

को जानने के लिये, मिथ्यावाद करने वाले के भ्रम को दूर करने के लिये अनेक नय तथा प्रत्यक्ष प्रमाण इत्यादि निधियों का सग्रह करता है। लेकिन आत्म स्वरूप का निश्चल होकर ध्यान करते समय ये अनेक विकल्प आत्मा में नहीं दीखते हैं। तब वे आत्मा मे निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप ऐसे श्रेष्ठ भाव एक ही अंदर चमकते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ६९ ॥

69. O, Apatajiteshwar ! There is a huge accumulation of knowledge, various pramanas and points of views but when the soul gets absorbed into contemplation steadily than these all things do not remain in the consciousness but only one feeling of soul as an embodiment of transcendental right belief, knowledge and conduct.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि मनुष्य आत्म स्वरूप को जानने के लिये तथा मिथ्यावादियों की शका को दूर करने के लिये अनेकों नय तथा प्रत्यक्ष प्रमाणादि निधियों को सग्रह करता है, परन्तु इसके विना आत्म स्वरूप का ध्यान करते समय ध्यानी के मन में ये सभी संकल्प-विकल्प नहीं उठते हैं। ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण विकल्पों से रहित होकर जिस समय अपने स्व-स्वरूप मे एकाग्र हो जाता है उस समय निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र

रूपी श्रेष्ठ भावना से सुशोभित होकर प्रकाशमान हो जाता है। ऐसे आत्मज्ञानी की महिमा को कौन वर्णन कर सकता है ?

जब तक आत्मा सविकल्परूप पदार्थ को जानता है तब तक उसके ज्ञान में प्रकाशमान तथा क्षायिक ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वह जीव सविकल्पी होने से आकुलता सहित है । वह प्रत्येक पदार्थों में रागी होकर मृग तृष्णा के समान अर्थात् ग्रीष्म काल की कड़ी धूप में तपी हुई बालू को जल की बुद्धि रखकर कर्मों को भोगता है, इसलिये उसे निर्मल ज्ञान का लाभ नहीं है। परन्तु क्षायिक ज्ञानी को भाव रूप इन्द्रियों के अभाव से पदार्थ में सविकल्प रूप परिणति नहीं होती। क्योंकि निरावरण अतीन्द्रिय ज्ञान से अनन्त सुख अपने साक्षात् अनुभव गोचर है। परोक्ष ज्ञानी के इन्द्रियों के अधीन सविकल्प रूप परिणति है इसलिये वह कर्म सयोग से प्राप्त हुये पदार्थों को भोगता है। इसलिये जीव हमेशा राग के कारण आकुलता सहित रहता है । जब तक आकुलता रहेगी तब तक जीव को सच्चा सुख कभी नहीं मिल सकता। जैसे कि दौलतराम जी ने अपने छ. ढाला में कहा है—

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता विन कहिये।
आकुलता शिव मांहि न तातें शिव मग लागे चहिये॥
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण शिव मग सो द्विविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो॥

और भी कहा है कि—

रात गँवाई सोय कर दिवस गँवायो खाय ।
हीरा जन्म अमोल था कौड़ी बदले जाय ॥
रहिमन वे नर मर चुके जो कहुँ मांगन जाय ।
उनसे पहले वे मुये जिन मुख निकसत नाय ॥
रूपवती लज्जावती शीलवती मृदु वैन ।
तिय कुलीन उत्तम सो ही गरिमा धर गुण ऐन ॥
राज भोग सम्पति सुकुल विद्या रूप विज्ञान ।
अधिक आयु आरोग्यता प्रकट धर्म फल जान ॥
राजा बन्धु कुलीन द्विज चाकर मन्त्रि महन्त ।
थान भ्रष्ट शोभत नहीं नर नख केशरु दन्त ॥
राज हंस मृगराज गज वाजि पुङ्गि फल पान ।
पण्डित ज्ञाता सत पुरुष शोभत न निज थान ॥
प्रभू नाम सब कोई जपै ठग ठाकुर औ चोर ।
बिना प्रेम रीझत नहीं तुलसी नन्द किशोर ॥

कहने का सार यह है कि मनुष्य जन्म बार बार मिलना अत्यन्त कठिन है। अतः ज्ञानी जीव को सबसे पहले अपने शुद्धात्म का खोज कर लेना बहुत जरूरी है ! शुद्धात्मा की खोज इसी मनुष्य पर्याय से ही हो सकता है अन्य से नहीं। जैसे धान्य

की वृद्धि खेत से होती है उसी प्रकार शुद्धात्मा की प्राप्ति इस उत्तम नर भव से ही होती है अन्य से नहीं। खांड और गुड़ की प्राप्ति गन्ने से होती है, गन्ने की वृद्धि उत्तम खेत मधुर पानी और योग्य सस्कार इत्यादि के द्वारा होती है। जब बार बार उसका सुसस्कार किया जाता है तब गन्ना ठीक पक्व हो कर मधुर गुड़ बनने योग्य हो जाता है। तभी किसान थोड़े परिश्रम के साथ गुड़ बना लेता है उसी तरह यह मनुष्यरूपी खेती से सुसस्कृत का आचरण तथा नियम व्रत तप दान इत्यादि के द्वारा सस्कृत करके अन्त मे भेद विज्ञान योग्य सामग्री से अपने आत्म ज्ञान की प्राप्ति यह ज्ञानी कर लेता है । इस तरह इस जीव को सब से पहले अपने आत्म लाभ की प्राप्ति अपने ही ज्ञान द्वारा कर लेना उचित है। जैसे तत्त्व भावना मे कहा भी है कि—

आत्मा ज्ञानी परममलं ज्ञानमासेव्यमानः।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव ॥

सर्वत्रेदं जगति विदितं दीयते विद्यमानं।
कश्चित्त्यागी न हि खकुसुमं क्वापि कस्यापि दत्ते ॥४५

यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि जो पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्द की प्राप्ति करना चाहे उन को उचित है कि अपने आत्मा का ही सेवन करें। क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप व वीतराग आनन्द

गई है। यदि आत्मा का ध्यान किया जायगा तो आत्मा को अवश्य ही जो उसके मूल गुण हैं वे स्वय प्राप्त हो जायँगे, यदि कोई शरीर की सेवा करे, शरीर के मोह में रहकर उसकी सेवा-चाकरी में लगा रहे, उसके कारण जो राग द्वेप मोह होता है उसी को अपना स्वरूप मानता रहे, रात दिन अहंकार मे लीन रहे तो उस अज्ञानी को आत्मिक गुणों को छोड़ कर जड़ अचेतन रूप शरीर, कर्मवंध व कर्मोदय रूप राग द्वेप रस की सेवा करते रहने से अज्ञान का ही लाभ होगा, कभी भी शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति न होगी। क्योंकि जगत् में यह नियम है कि जो किसी की सेवा सच्चे भाव से करता है उसको वह वही वस्तु दे सकता है जो उसके पास है। यदि कोई उससे ऐसी वस्तु मागे जो उसके पास नहीं है तो वह उसे कभी नहीं दे सकता। आकाश में फूल कभी होता नहीं, फूल तो किसी वृक्ष की शाखा में होता है। यदि कोई बड़ा भारी दाता है और उससे कोई याचक कहे कि तू मुझे आकाश का फूल दे तो वह उसे कभी नहीं दे सकता क्योंकि उस के पास आकाश का फूल है ही नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर जड़ है इसकी पूजा से जड़-मूर्ख ही रहोगे। कभी सम्य-ग्ज्ञानी व केवल ज्ञानी नहीं हो सकते, किन्तु जब निज आत्मा का ध्यान करोगे तो अवश्य सम्यग्ज्ञान व सुख शान्ति की प्राप्ति होगी।

इष्टोपदेश में श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी ऐसा ही कहा

है कि —

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यस्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

अज्ञान की सेवा से अज्ञान होगा और ज्ञानी आत्मा की सेवा से ज्ञान होगा । यह प्रसिद्ध है कि जिस के पास जो है वही दूसरे को उसी में से कुछ दे सकता है ।

एकत्वाशीति में पद्मनदि मुनि कहते हैं कि—

अजमेकं परं शांतं सर्वोपाधि विवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥१८॥
स एवामृत मार्गस्थः स एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥१९॥

जो कोई स्थिर होकर आत्मा के द्वारा अजन्मा, एक रूप, उत्कृष्ट, वीतराग, सर्व रागादि उपाधि रहित अपने आत्मा को जानकर अपने आत्मा मे तिष्ठता है व आत्मानुभव करता है वही मोक्ष मार्ग मे चलने वाला है, वही आत्मानन्द रूपी अमृत का भोग करता है, वही अर्हत, वही जगत् का स्वामी, वही प्रभु व वही ईश्वर है ।

प्रश्न—अन्य लोग कहते हैं कि ईश्वर प्रत्येक जीवों को सुख दु:ख देता है और जो भी ससार पर्याय उत्पन्न होते हैं सभी ईश्वर की प्रेरणा से होता है तो क्या ये बातें ठीक हैं ?

उत्तर—ईश्वर सिद्ध परमात्मा किसी को सुख नहीं देते हैं। तथापि जो उनकी भक्ति करते हैं वे स्वय अपने भाव निर्मल करके पुण्य बॉधकर सुखी हो जाते है और उस सुखको ईश्वर द्वारा प्राप्त मानते है। ईश्वर अर्थात् परमात्मा स्वरूप श्रीविद्यानन्दि स्वामी ने पात्र-केशरी स्तोत्र में कहा है कि.—

दादास्यनुपमं सुखं स्तुति परेष्वतुष्यन्नपि।
क्षिपस्य कुपितोपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ॥
न चेश ! परमेष्ठिता तव विरुद्धयते यद् भवान्।
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम् ॥८॥
परिक्षपित कर्मणस्तव न जातु रागादयो।
न चेन्द्रिय विवृत्तयो न च मनस्कृता व्यावृतिः॥
तथापि सकलं जगद्युगपदंजसा वेत्सि च।
प्रपश्यसि च केवलाभ्युदित दिव्यचक्षुषा ॥९॥

हे भगवन्! आप स्तुति करने वालों पर प्रसन्न न होते हुये भी उनको अनुपम सुख प्रदान करते हो तथा जो आपके गुणों की निन्दा करते है उन पर विना क्रोध किये ही उनको दुर्गति में फेक देते हो तो भी आपके परमेष्ठीपन में कोई विरोध नहीं आता है; क्योंकि आप न क्रोध करते हो न प्रसन्न होते हो। आपने वीतराग स्वभाव का ही आश्रय लिया है, और अपने सर्व कर्मों

का त्तय किया है, इसलिये आपके भीतर कभी रागादिक नहीं होते हैं, न पाँचों इन्द्रियों के विपयों के व्यापार होते है, न मन सम्बन्धी कोई चेष्टा होती है तथापि आप अपनी केवल ज्ञानमई असाधारण दिव्य चक्षु से एक ही समय में एक साथ सर्व जगत् को देखते, जानते हो।

इस तरह इस शिव तथा परमात्मा को मानकर उसी तरफ ध्यान करो इनके ध्यान करने से आप भी उसी शिव रूप में अपने आत्मा को निर्मल या निरजन शुद्ध करके परमात्मा वन जावोगे। उसी आत्मा का ध्यान करने योग्य है। योगीन्द्र आचार्य ने परमात्म प्रकाश में कहा भी है कि :—

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद सहाउ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥१७॥

ससार अवस्था में शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सभी जीव शक्ति रूप से परमात्मा हैं, व्यक्ति रूप से नहीं हैं। ऐसा कथन अन्य ग्रन्थों में भी कहा है—'शिवमित्यादि' अर्थात् परम कल्याण रूप, निर्माण रूप, महाशान्त अविनश्वर मुक्ति-पद को जिसने पा लिया है, वही शिव है, अन्य कोई एकजगत्कर्ता सर्व व्यापी सदा मुक्त शान्त शिव रूप नैयायिकों का तथा वैशेषिक वगैरह का माना हुआ नहीं है। यह शुद्धात्मा ही शांत है, शिव है तथा उपादेय है।

यहाँ किसी का प्रश्न है कि पूर्व भव में कोई जीव जिन दीक्षा धारण कर व्यवहार निश्चय रूप रत्नत्रय की आराधना कर महान् पुण्य को उपार्जन करके अज्ञान भाव से निदानबन्ध करने के बाद स्वर्ग में उत्पन्न होता है, पीछे आकर मनुष्य होता है, वही तीन खड का स्वामी वासुदेव (हरि) कहलाता है और कोई जीव इसी भव मे जिन दीक्षा लेकर समाधि के वल से पुण्य बन्ध करता है, उसके पश्चात् पूर्वकृत चारित्रमोह के उदय से विषयों में लीन हुआ रुद्र (हर) कहलाता है। इसलिये वे हरिहरादिक परमात्मा का स्वरूप कैसे नहीं जानते ? इसका समाधान यह है कि, तुम्हारा कहना ठीक है। यद्यपि इन हरिहरादिक महान् पुरुषों ने रत्नत्रय की आराधना की है, तो भी जिस तरह के वीतराग-निर्विकल्प-रत्नत्रय स्वरूप से तद्भव मोक्ष होता है, वैसा रत्नत्रय इनके नहीं प्रकट हुआ, सराग रत्नत्रय हुआ है, इसी का नाम व्यवहार रत्नत्रय है। सो यह तो हुआ लेकिन शुद्धोपयोग रूप वीतराग रत्नत्रय नहीं हुआ, इसलिये वीतराग रत्नत्रय के धारक उसी भव से मोक्ष जाने वाले योगी जैसा जानते हैं, वैसा ये हरिहरादिक नहीं जानते । इसीलिये परमशुद्धोपयोगियों की अपेक्षा इनको नहीं जानने वाला कहा गया है,क्योंकि जैसे स्वरूप के जानने से साक्षात् मोक्ष होता है, वैसा स्वरूप ये नहीं जानते।

यहाँ पर सारांश यह है कि जिस साक्षात् उपादेय शुद्धात्मा को तद्भव मोक्ष के साधक महामुनि ही आराध सकते है और

हरिहरादिक नहीं जान सकते, अतः वे ही चिंतवन करने योग्य हैं।

व्यवहृतियेंदु निश्चयतेयेंदु मणित्रयमक्कुमल्लिदे-
व वचन तापसर्कळवधारणे तां व्यवहारमल्लिदो- ।
पवनुळि विल्लदे गेलिदे नीने समप्रभु निन्नवाणिये-
शिवमतवस्त संगने तपस्वियला अपराजितेश्वरा ! ॥७०

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! यह रत्नत्रय व्यवहार और निश्चय इस तरह दो प्रकार का है। इन दोनों में देव गुरु शास्त्र इन तीनों में रुचि रखना व्यवहार रत्नत्रय है । और उन देव शास्त्र गुरु इन तीनों में दोष न रहे इस तरह की क्रिया से आप ही उसको जीत लिये हैं। इसलिये आप ही मेरे स्वामी या सच्चे देव हैं। आपके वचन ही मोक्ष के लिए कारण हैं और सम्पूर्ण परिग्रह को त्याग किये हुए गुरु ही मेरे गुरु हैं अन्य नहीं ॥ ७० ॥

70. O, Aparajiteshwar ! The triple-jwel (right belief, knowledge & conduct) is of tw kinds —1. Vyavahar (empirical), 2, Nischay (Transcendental). To have faith in true deity scripture & preceptor is empirical one. Yo are the true deity as you have won all the de fects & weaknesses, your words are the tru

scripture as they are the torchbearers of the path of liberation & he who has renounced worldly objects is my true preceptor.

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि रत्नत्रय दो प्रकार का है व्यवहार और निश्चय। इन दोनों में देव, शास्त्र, गुरु इन तीनों में विश्वास रखना, व्यवहार रत्नत्रय है और उन भगवान् के वचनों में, गुरु और शास्त्र मे निर्दोष आचरण करना, कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष-पद का मूल कारण है। हे भगवन्! आपने सम्पूर्ण दोषों से रहित आचरण करने पर ही मोक्षपद प्राप्त किया है, इस लिये आपका मत संपूर्ण प्राणीमात्र को उपादेय है। जो भव्य जीव आपके निर्दोष मार्ग को अर्थात् मत को ग्रहण करते हैं, वे जीव इस संसार के महान् दुःखों से छुटकारा पाकर अनादि सुख को प्राप्त कर लेते हैं। संपूर्ण परिग्रह के त्यागी आप ही हैं और आप ही संपूर्ण परिग्रह के त्यागी होने के कारण श्रेष्ठ तपस्वी हैं। अन्य कोई नहीं है।

प्रश्न—व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप पहले खड में विस्तार रूप से विवेचन किया गया है। फिर भी जिज्ञासु की शंका होने के कारण उसका स्वरूप सक्षेप में लिख देते हैं। उमास्वामी आचार्य ने अपने श्रावकाचार में कहा है कि—

जिन एव भवद्देवस्तेनोक्तं तत्त्वमेव च ।
यस्येति निश्चयः स स्यान्निःशंकितशिरोमणिः ॥२६॥

भगवान् जिनेन्द्र देव ही देव हैं भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए तत्त्व ही यथार्थ तत्त्व है। इस प्रकार जो दृढ़ श्रद्धान करता है उसे नि शकित अग के धारण करने वालों में मुख्य समझना चाहिये। ये अङ्ग आठ हैं, इन आठों अगों का विवेचन पहले प्रकरण में किया गया है, वहाँ देख लेना ।

सच्चे देव का स्वरूप क्या है ? श्री उमास्वामी ने कहा भी है कि—

क्षुत्पिपासा भयं द्वेषो रागो मोहो जरा रुजा ।
चिंता मृत्युर्मदः स्वेदो रतिः खेदश्च विस्मयः ॥७॥
विषादो जननं निद्रा दोषा येते सुदुस्तराः ।
सन्ति यस्य न सोऽवश्यं देवस्त्रिभुवनेश्वरः ॥८॥

भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, बुढ़ापा, रोग, चिन्ता, मरण, मद, स्वेद वा पसीना, रति, खेद, आश्चर्य, विषाद, जन्म और निद्रा ये अठारह दोष कहलाते हैं । ये सब दोष बड़ी कठिनाई से छूटते हैं। जिन भगवान् के इन अठारह दोषों में से कोई भी दोष नहीं है, वे ही तीनों लोकों के स्वामी देवाधिदेव समझे जाते हैं।

विष्णुः स एव स ब्रह्मा स देवः स महेश्वरः ।
बुद्धः स एव यः सर्वसुरासुरसमर्चितः ॥ ९ ॥
निर्मलः सर्ववित्सार्वः परमः परमेश्वरः ।
परं ज्योतिर्जगद्भर्त्ता शास्ताप्तः परिगीयते ॥१०॥

जो इन ऊपर लिखे अठारह दोषों से रहित है वही विष्णु है, वही ब्रह्मा है, वही देव है, वही महादेव है, वही बुद्ध है, वही समस्त देवों से तथा भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवों से पूज्य है, वही निर्मल है, वही सर्वज्ञ है, वही सबका हित करने वाला है, वही सर्वोत्कृष्ट है, वही परमेश्वर है, वही उत्कृष्ट ज्ञानी है, वही तीनों लोकों का स्वामी है, वही उपदेशक है और वही देवाधि-देव कहलाता है । इसी देव के द्वारा कहा हुआ धर्म आत्मा का कल्याण करने वाला होता है ।

अपारापारसंसारसागरे पततां नृणाम् ।
धारणाद्धर्म इत्युक्तो व्यक्तं मुक्तिसुखप्रदः ॥११॥

जो आत्मा का स्वभाव इस अपार ससार रूपी महासागर में पड़े हुये जीवों को निकाल कर ऊपर मोक्ष में धारण कर देता है वही धर्म कहलाता है तथा वही धर्म साक्षात् मोक्ष के सुख को देने वाला है । अर्थात् संसार का जन्म-मरण रूप दुःख एक धर्म के धारण करने से ही नष्ट होता है तथा उसीसे मोक्ष की प्राप्ति

होती है। इसीलिये भव्य जीवों को ऐसे उत्तम धर्म का सेवन अवश्य करना चाहिये।

कहा भी है कि—

धर्मवंतो हि जीवस्य भृत्यः कल्पद्रुमो भवेत्।
चिन्तामणिः कर्म्मकरः कामधेनुश्च किंकिरी॥

धर्मात्मा जीव का सेवक कल्पवृक्ष होता है, चिन्तामणि उत्तम सेवक तथा कामधेनु उत्तम सेविका होती है।

धर्मेण पुत्र पौत्रादि सर्वसम्पद्यते नृणाम्।
गृहवाहनवस्त्राणि राज्यालंकारणानि च॥

धर्म से युक्त मनुष्य, पुत्र पौत्र गृह सवारी वस्त्र तथा उत्तमोत्तम राज्य अभूषणों को प्राप्त करते हैं।

वरं मुहूर्त्तमेकं च धर्मयुक्तस्य जीवितम्।
तद्धीनस्य वृथा वर्ष कोटाकोटिर्विसेव्यतः॥

धर्म से युक्त होकर एक मुहूर्त्त भी जीना श्रेष्ठ है, किन्तु धर्म के बिना करोड़ों वर्ष विशेष रूप से जीने पर भी वृथा ही है।

अतः जीव को उत्तम धर्म का सेवन अवश्य करना चाहिये। कहा भी है कि:—

क्षमादिदशभेदेन भिन्नात्मा भुक्तिमुक्तिदः।

जिनोक्तः पालनीयोयं धर्मश्चेदस्ति चेतना ॥१२॥

※ उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य इस प्रकार धर्म के दश भेद हैं। यह धर्म भगवान् जिनेन्द्र देव का कहा हुआ है। स्वर्गादिक के सुख और मोक्ष के सुख को देने वाला है। वह धर्म चैतन्य स्वरूप है और इसी लिये मोक्ष का कारण है। अतएव विद्वान् पुरुषों को इसका परिपालन अवश्य करते रहना चाहिये।

अन्य धर्म नहीं है कहा भी है कि:—

हिंसादिकलितो मिथ्यादृष्टिभिः प्रतिपादितः।
धर्मो भवेदिति प्राणी वदन्नपि हि पापभाक् ॥१३॥

कितने ही अज्ञानी पुरुष यज्ञ में प्राणियों की हिंसा करने को धर्म बतलाते हैं। सती होकर आत्मघात करने में धर्म मानते हैं।

※ धर्म के दो भेद हैं एक क्रियात्मक और दूसरा अक्रियात्मक। मुनियो का तेरह प्रकार का चारित्र वा गृहस्थो का बारह प्रकार का चारित्र सब क्रियात्मक धर्म है। इसी को व्यवहार धर्म कहते हैं। यह व्यवहार धर्म ही निश्चय रूप अक्रियात्मक धर्म का साधक है और इसी लिये यह अवश्य पालन करने योग्य मुख्य धर्म माना जाता है।

देव देवियों के सामने बलिदान करने को धर्म मानते हैं। विधवा विवाह, विजातीय विवाह और अस्पृश्यों का स्पर्श करना आदि निंद्य कार्यों को धर्म मानते हैं। परन्तु ये सब कार्य हिंसा और पापाचरण के पोषक हैं इसलिये ये धर्म कभी नहीं हो सकते। धर्म तो दयामय ही होता है और उसीके सेवन से सुख और पुण्य की प्राप्ति हो सकती है।

प्रश्न—सच्चे गुरु का क्या लक्षण है ?

उत्तर—महाव्रतान्वितास्तत्वज्ञानाधिष्ठितमानसाः ।
धर्मोपदेशकाः पाणिपात्रास्ते गुरवो मताः ॥१४

जो महाव्रतों को धारण करते हैं, जिन का मन तत्त्वज्ञान से ही सदा भरपूर रहता है, जो धर्म के मुख्य उपदेशक माने जाते हैं तथा जो परम दिगम्बर पाणिपात्र में ही आहार लेने वाले हैं ऐसे आचार्य ही सच्चे गुरु कहलाते हैं।

पंचाचारविचारज्ञाः शान्ता जितपरीषहाः ।
त एव गुरवो ग्रंथैर्मुक्ता वाह्यैरिवान्तरैः ॥१५॥

जो गुरु दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार्य और वीर्याचार इन पंचाचारों के विचार करने और पालन करने में निपुण हैं, अत्यन्त शान्त वा विषय कषायों से सर्वथा रहित हैं; जो समस्त परीषहों को जीतने वाले हैं, तथा अन्तरंग वाह्य दोनों

प्रकार के परिग्रहो से सर्वथा रहित हैं ऐसे दिगम्बर साधु ही गुरु *
कहे जाते हैं।

एतेषु निश्चयो यस्य विद्यते स पुमानिह ।
सम्यग्दृष्टिरितिज्ञेयो मिथ्यादृष्टिः स संशयः ॥२०॥

जो पुरुष ऊपर कहे हुए देव गुरु शास्त्र में दृढ़ श्रद्धान रखता है उसी को सम्यग्दृष्टी समझना चाहिये। जो पुरुष इन यथार्थ देव गुरु शास्त्र में संशय रखता है उसे मिथ्यादृष्टी समझना चाहिये।

जीवाजीवादितत्वानां श्रद्धानं दर्शनं मतम् ।
निश्चयात्स्वे स्वरूपे वावस्थानं मलवर्जितम् ॥२१॥

जीव, अजीव, आस्रव, वंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन

---

* गुरु शब्द का अर्थ वडा है। जो गुण नय चारित्र आदि से वडे हैं वे ही गुरु हैं। गुरु के अनेक भेद हैं। धर्मगुरु, दीक्षागुरु, गृहस्थ दीक्षागुरु, माता-पिता गुरु, विद्यागुरु, सत्तागुरु और द्रव्य गुरु आदि। अट्ठाईस मूल गुण के धारक मुनि धर्मगुरु हैं। छत्तीस गुण के धारक आचार्य दीक्षागुरु हैं। गृहस्थधर्म की शिक्षा दीक्षा देने वाले, प्रायश्चित्त देने वाले, धर्म सम्बन्धी समस्त क्रियाकाड कराने वाले और श्रावक धर्म की व्यवस्था करने वाले गृहस्थाचार्य गृहस्थ गुरु हैं। पालन पोषण करने वाले माता पिता गुरु हैं। विद्या पढाने वाले विद्यागुरु हैं, राजा आदि अधिकारी वर्ग सत्ता गुरु हैं। धनी द्रव्य गुरु हैं, रत्नत्रय को धारण करने वाले सयमी सयम गुरु हैं। इस प्रकार गुरु के अनेक भेद हैं। इन गुरुओ का यथायोग्य आदर सत्कार करना गृहस्थो का कर्तव्य है।

सातों तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा निश्चय नय से अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन होना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन पच्चीस दोषों से रहित होता है।

भावार्थ—व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है। निश्चय सम्यग्दर्शन तो शुद्ध है ही, किन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन को भी पच्चीस दोषों से रहित ही पालन करना चाहिये।

पंचाक्षे पूर्णपर्याप्ते लब्धकालावलब्धिके।
निसर्गाज्जायते भव्येधिगमाद्वा सुदर्शनम् ॥२२॥

जो भव्य जीव पंचेन्द्रिय है पूर्ण पर्याप्तक है और जिसको काल लब्धि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो चुकी हैं ऐसे भव्य जीवों को ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तथा निसर्ग और अधिगम इन दो प्रकार से उत्पन्न होता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन आत्मा का एक गुण है, मिथ्यात्व सम्यग् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति और मिथ्यात्व ये दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ ये चार चारित्र मोहनीय की प्रकृतियाँ उस सम्यग्दर्शन गुण का घात करती हैं। इन सातों प्रकृतियों के उपशम होने से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। क्षय होने से क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन उत्पत्ति में इन प्रकृतियों के उपशमादिक होना अंतरंग कारण है। अन्तरग कारण के होते

हुए यदि किसी गुरु का उपदेश प्राप्त हो जाय, तो उस सम्यग्दर्शन को अधिगम सम्यग्दर्शन कहते हैं। यदि अन्तरंग कारण से होते हुये किसी गुरु का उपदेश न मिले तो उस सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद बाह्य कारण की अपेक्षा से हैं। यद्यपि बाह्य कारणों में जिन बिम्ब दर्शन, देवों की विभूति का दर्शन भगवान् की महिमा का दर्शन, वेदना का अनुभव जाति स्मरण इत्यादि और भी कारण हैं तथापि यहाँ पर केवल अधिगम की अपेक्षा से दो भेद कहे हैं।

प्रश्न—ये दोनों सम्यग्दर्शन किस जीव के होते हैं?

इसके उत्तर में उमा स्वामी ने कहा है कि—

आसन्न भव्यता कर्महानिः संज्ञित्व शुद्ध परिणामः।
सम्यक्त्व हेतुरन्तर्बाह्योपदेशकादिश्च ॥

यदि जीव निकट भव्य हो, कर्मों का सत्व उदय आदि अत्यन्त कम हो, लघु कर्मी हो, सेनी हो, कर्मों के कम होने से जिसके परिणाम अत्यन्त शुद्ध हों और उपदेश आदि बाह्य सामग्री मिल जाय तो ऐसे जीवों को सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के कितने भेद हैं?

उत्तर—सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं:—

त्रयोभेदास्तस्यचोक्ता अज्ञाद्यादशधा मतः ।
प्रागेयोपशमं मिश्रं क्षायिकं च ततः परम् ॥

सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं—औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन ।

इसके अतिरिक्त दश भेद और हैं पर ग्रन्थ विस्तार के कारण उनके भेद यहाँ पर नहीं किये गये हैं ।

क्षायिक सम्यग्दर्शन सादि और अनन्त है। इसलिये वह चौथे गुण स्थान से लेकर समस्त गुण स्थान मे रहता है तथा मोक्ष मे रहता है ।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन—चौथे गुण स्थान से लेकर सातवें गुण स्थान तक रहता है। यह सम्यग्दर्शन भी इच्छानुसार समस्त पदार्थों को देने वाला है ।

ये तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन साध्य साधन के भेद से दो प्रकार के हैं—

साक्षात् मोक्ष को प्रदान करने वाला क्षायिक सम्यग्दर्शन साध्य है और शेप के दोनों सम्यग्दर्शन साधन हैं । इन दोनों के द्वारा क्षायिक सम्यग्दर्शन सिद्ध किया जाता है ।

प्रश्न—उपशम सम्यग्दर्शन जीव को कब होता है ?

उत्तर—जिस जीव का जब जन्म मरण रूप संसार का परिभ्रमण अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन मात्र रह जाता है ।

अर्थात् मोक्ष प्राप्त होने में जब अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल रह जाता है तब इस भव्य जीव को उपशम सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।

प्रश्न—उपशम सम्यग्दर्शन की उपशम और जघन्य स्थिति कितने मुहूर्त्त की है ?

उत्तर—उपशम सम्यग्दर्शन की उपशम और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त्त है तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक ६६ सागर है।

प्रश्न—क्षायोपशमिक सम्यग्दशन की जघन्य स्थिति कितने मुहूर्त्त की है ?

उत्तर—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन की अधिक से अधिक स्थिति ससार की अपेक्षा कुछ कम दो करोड़ पूर्व अधिक ३३ सागर है। मुक्ति की अपेक्षा अनन्त है ऐसे गाढ़ सम्यग्दृष्टी भगवान् गणधर देव ने कहा है।

प्रश्न—नरक में कौन सा सम्यक्त्व होता है ?

उत्तर—पहले नरक मे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीनों सम्यक्त्व होते हैं, दूसरे नरक से लेकर सातवे नरक पर्यन्त औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं। मनुष्य, तिर्यंच और देवों को तीनों प्रकार का सम्यक्त्व होता है। देवांगना

और तिर्यंचिनियों को क्षायिक छोड़ कर शेष दो सम्यग्दर्शन होते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन वीतराग है वा वीतराग भावों का कारण तथा ससार का नाश करने वाला है और मोक्ष का साक्षात् कारण है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सराग है और इसलिये स्वर्गादिक सुख का कारण है। ये दोनों परम्परा से मोक्ष के कारण हैं।

दर्शनं सांगमुद्दिष्टं समर्थं भव संक्षये।
नांगहीनं भवेत्कार्यकरं मन्त्रादिवद्यथा ॥३४ उ० स्वा०।

इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। उन आठों अंगों से सुशोभित सम्यग्दर्शन ही संसार का नाश करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार अक्षर हीन मन्त्र अपना काम नहीं कर सकता इसी प्रकार अंग हीन सम्यग्दर्शन पूर्ण रीति से किसी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये सम्यग्दृष्टी को इन आठों अंगों का पालन करना नितान्त आवश्यक है।

अनेकान्तात्मकं वस्तु जातं निगदितं जिनैः।
तन्नान्यथेति तन्वानो जनो निःशंकितो भवेत् ॥३५उमा०॥

वीतराग सर्वज्ञ देव भगवान् अर्हन्त देव ने जीव अजीव आदि समस्त पदार्थों का स्वरूप अनेक धर्मात्मक बतलाया है।

वह वही है उसी प्रकार है अन्य नहीं है, अन्यथा भी नहीं है। इस प्रकार तत्त्वों का दृढ़ श्रद्धान करने वाला मनुष्य नि.शकित अग को धारण करने वाला गिना जाता है।

भावार्थ—इन्द्रिय जनित ज्ञान से पदार्थों के समस्त धर्म व समन्त पर्यायों का ज्ञान नहीं होता है। वीतराग सर्वज्ञ देव के केवल ज्ञान में ही मूर्त्त अमूर्त्त समस्त पदार्थ और उनके समस्त धर्म वा पर्याय प्रत्यक्ष ज्ञानगोचर होती है। सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय और अनन्त है। इस लिये उनके द्वारा पदार्थ का जो स्वरूप कहा गया है वह प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाणों से सर्वथा अबाधित सत्य और यथार्थ है। इसलिये प्रत्येक धर्मात्मा पुरुष को नर्वज्ञ के वचनों पर दृढ़ श्रद्धान रख कर अपने आत्मा का कल्याण कर लेना चाहिये। व्यर्थ के कुतर्कों में कालक्षेप करना अपने आत्मा का अहित करना ही है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थों में अनन्त धर्म हैं। सब की परीक्षा हम से नहीं हो सकती और न इन्द्रियजन्य किसी भी ज्ञान से हो सकती है।

अर्थात्—भगवान् जिनेन्द्र देव ही देव है, भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए तत्त्व ही यथार्थ तत्त्व हैं "इस प्रकार जो दृढ़ श्रद्धान करता है वही भव्य जीव नि:शकित अग पालन करने वाला समझा जाता है। इन आठ अगों का विस्तृत विवेचन प्रथम खड में कर चुके हैं, परन्तु जिज्ञासुओं की शका दूर करने के लिये यहाँ पर सक्षेप रूप से विवेचन किया जाता है।

तपः सुदुस्सहं तन्वन् दानं वा स्वर्ग संभवम् ।
सुखं नाकांक्षति त्रेधा यः सः निः कांक्षिताग्रणी ॥३८उ०॥

जो पुरुष घोर तपश्चरण करता हुआ तथा उत्कृष्ट दान देता हुआ भी उनके निमित्त से स्वर्गादिकों के सुखों की मन वचन-काय किसी से भी इच्छा नहीं करता है उसे नि कांक्षित अंग को धारण करने वाला समझा जाता है।

स्वभावादशुचौ देहे रत्नत्रय पवित्रिते ।
निर्घृणा च गुण प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥४१॥

यह शरीर स्वभाव से तो अपवित्र है, परन्तु रत्नत्रय से पवित्र है। रत्नत्रय से पवित्र ऐसे मुनियों के शरीर को देखकर उससे घृणा नहीं करना, किन्तु उनके रत्नत्रय रूप गुणों में प्रेम करना तीसरा निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है।

प्रश्न—मुनि दिगम्बर रहकर स्नान दातून इत्यादि से सदा रहित रहते है जिससे उनका शरीर मलिन रहता है, तो ऐसे शरीर से घृणा क्यों नहीं करनी चाहिये ? क्या वह मलिन नहीं है ?

उत्तर—उमास्वामी ने अपने श्रावकाचार में कहा है कि:—

उद्दूर्ध्वभुक्तितो नाग्न्यात् स्नानाचमनवर्जनात् ।
अनिंद्यमपि निन्दन्ति दुर्दृशो जिनशासनम् ॥४२॥

यद्यपि यह जिन शासन सर्वथा अनिंद्य है तथापि मुनिगण जो खड़े होकर आहार लेते हैं, नग्न रहते हैं तथा स्नान आचमन नहीं करते हैं, इसलिये कुछ नासमझ लोग इस जिनशासन की निन्दा करते हैं। यह सब उनके अज्ञान का मूल कारण है तथा उनकी बहुत बड़ी भूल है। क्योंकि यह शरीर रुधिर, मॉस, मज्जा हड्डी, मल, मूत्र आदि अनेक घृणित और अपवित्र वस्तुओं का घर है। इसलिये किसी समुद्र या तालाब के जल से स्नान करने पर शुद्ध नहीं हो सकता, इसकी शुद्धता केवल रत्नत्रय या ब्रह्म-चारी आदि आत्मगुणों से होती है। स्नान आचमन आदि करने से केवल जीवों की हिंसा ही होती है, शुद्धता नहीं। मुनिराज शरीर को पर अर्थात् आत्मा से भिन्न समझते हैं तथा उनके आत्मा में कुछ भी काम का विकार नहीं होता है। वे बालक के समान निर्विकार होने के कारण नग्न रहते है। सभी मनुष्य नग्न नहीं रह सकते। जब तक यह शरीर रत्नत्रय धारण करने में समर्थ रहता है तभी तक मुनिराज इसे आहार देते हैं। जब उनका शरीर रत्नत्रय के पालन करने मे असमर्थ हो जाता है तब इसे आहार देना छोड़कर समाधिमरण धारण कर लेते हैं। अतः वे खडे होकर आहार लेते है।

इस प्रकार मुनियों के समस्त कर्तव्य आत्मा की पवित्रता के लिये है। इसलिये जैन शासन परम पवित्र समझा जाता है। फिर भी अज्ञानी लोग धर्म के यथार्थ स्वरूप को न समझ कर

इसकी निन्दा करते हैं।

प्रश्न—अज्ञानी लोग जैन शासन को न जानने के कारण जो निन्दा करते है वह तो उनकी अज्ञानता है, किन्तु आजकल जैन धर्म के ज्ञाता जैनी लोग इसकी निन्दा क्यों करते हैं ?

उत्तर—जैनी होने पर भी जिनको तीव्र मिथ्यात्व का उदय है वे जैन शासन मे विमुख रहकर केवल नाम मात्र से जैनी कहलाते हैं। वे अज्ञान से सदा परिपूर्ण रहते हैं।

कहा भी है कि :—

> ते तदर्थमजानानां मिथ्यात्वोदयदूषिताः ।
> वृथैव विचिकित्संति स्वभावकुटिलाः खलाः ॥४३॥

तीव्र मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो लोग मुनियों के स्वरूप, शरीर और रत्नत्रय को नहीं जानते हैं तथा जिनका हृदय स्वभाव से ही कुटिल है ऐसे कुछ दुष्ट पुरुष व्यर्थ ही मुनियों की निन्दा करते हैं। परन्तु हीन संहनन होने पर भी इस पंचम काल मे जो तप करते हैं तथा अनेक उपसर्ग प्राप्त होने पर भी अपने रत्नत्रय को नहीं छोड़ते हैं वे धन्य हैं।

कहा भी है कि :—

हीने संहनने धीरा ये कुर्वन्ति तपोधनाः ।
दिगम्बरत्वमासाद्य ते धन्या मुनिभिर्मताः ॥

अर्थ ऊपर दिया जा चुका है ।

अतः अज्ञानी को जिनशासन का पूर्ण स्वरूप समझ लेना चाहिये । जैसे किः—

शुद्धात्मध्याननिष्ठानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
व्रतमन्त्रपवित्राणां स्नान नात्र दूष्यते ॥४४॥

वे मुनिराज शुद्ध आत्मा के ध्यान मे सदा लीन रहते हैं, मन वचन, काय से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और व्रत तथा मंत्रो से सदा पवित्र रहते है ऐसे सदा पवित्र और पूज्य मुनियों को इस ससार में स्नान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भावार्थ—स्नान के सात भेद हैं मन्त्र स्नान, मौन स्नान, अग्नि स्नान, वायु स्नान, दिव्य स्नान, जल स्नान और मान स्नान ।

गृहस्थ लोग राग, द्वेष, काम कपाय आदि विकारो से सदैव मलिन रहते हैं। इसलिये गृहस्थो की शुद्धि विना जल स्नान के नहीं हो सकती । परन्तु मुनिराज इन विकारों से सर्वथा अलग रहते हैं। इसलिये उनके शरीर की शुद्धि व्रत स्नान वा मत्र स्नान से ही मानी जाती है। इसके सिवाय उनका शरीर रत्नत्रय और

ब्रह्मचर्य से ही पवित्र है इसलिये उनको स्नान करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती । इसीलिये वे आजन्म स्नान के त्यागी होते हैं ।

यदेवांगमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि ।
अंगुलौ सर्पदष्टायां नहि नासा निकृत्यते ॥ ४५ ॥

—उमास्वामी ।

मुनीश्वरों का जो अग मल मूत्रादिक से अशुद्ध हो जाता है वे उसी अग को प्राशुक जल से मार्जन कर शुद्ध कर लेते है। परन्तु जो अग मल मूत्रादिक विकारों से अपवित्र ही नहीं हुआ है ऐसे पवित्र शरीर को जल स्नान की शुद्धि से क्या लाभ हो सकता है ? यदि किसी सर्प ने अंगुली में काटा है तो वह अंगुली ही काट दी जाती है उगली मे काटने से नाक को कोई नहीं काटता ।

संगे कापालिकात्रेयी चांडाल शवरादिभिः ।
आप्लुत्य दंडवत् सम्यग्जपेन्मंत्रमुपोपितः ॥ ४६ ॥

—उमास्वामी

कापालिक (अघोरी), आत्रेयी (रज'स्वला), चाडाल, भील आदि अस्पृश्य हीन जाति वाले मनुष्यों के स्पर्श हो जाने पर वा हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओं के स्पर्श हो जाने पर मुनि लोग दड

के समान सरल रीति से खड़े होकर कमंडलु की पूर्ण धारा से सर्वाङ्ग स्नान करते हैं, पच नमस्कार मंत्र का जप करते हैं और उस दिन उपवास करते हैं।

भावार्थ—मुनिराज जन्म पर्यन्त तक स्नान के त्यागी होते हैं, तथापि चांडाल आदि अस्पृश्य शूद्रों के स्पर्श हो जाने पर वे कमंडलु के जल की धारा से दंडवत् स्नान करते हैं, पंच नमस्कार मंत्र का जाप करते हैं और उस दिन उपवास करते हैं। जो लोग स्पृश्यास्पृश्य भेद नहीं मानते वा जाति भेद नहीं मानते, जैनधर्म धारण कर लेने पर भंगी चमारों के साथ भी रोटी-बेटी व्यवहार करना पसन्द करते है, उनके मत में ये सव प्रायश्चित्त के ग्रन्थ मिथ्या हो जाते हैं। जिनके स्पर्श से स्नान के सदा त्यागी मुनियों को भी स्नान करना पड़ता है ऐसे अस्पृश्य शूद्र कभी स्पृश्य नहीं हो सकते। स्पृश्य शूद्रों के द्वारा जिन प्रतिमा का स्पर्श हो जाने पर उस प्रतिमा की भी शुद्धि मानी है। अभिषेक आदि से उस प्रतिमा की शुद्धि शास्त्रों में वतलाई गई है। इसलिये अस्पृश्यास्पृश्य भेद जाति व्यवस्था या वर्ण व्यवस्था माने विना मोक्षमार्ग कभी नहीं टिक सकता। इसलिये वर्ण व्यवस्था जैनधर्म का मुख्य अंग समझना चाहिये।

एक रात्रं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके।
दिने शुध्यन्त्यसन्देहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥ ४७ ॥

व्रतों को धारण करने वाली अर्जिकायें रजस्वला होने पर एक एक रात के बाद तीन रात तक स्नान करने पर अथवा चौथे दिन स्नान करने पर शुद्ध होती हैं इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि आर्जिकाओं के जन्म पर्यन्त तक स्नान करने का त्याग होता है तथापि रजस्वला होने पर वे चौथे दिन स्नान करके ही शुद्ध होती हैं। आवश्यकतानुसार वे उन चार दिनों में प्रति दिन भी स्नान करती हैं। इस प्रकार आवश्यकतानुसार स्नान की शुद्धि सब जगह मानी गई है। परन्तु जल स्नान हिंसा का कारण अवश्य है तथा मुनि और आर्जिकाओं का शरीर रत्न-त्रय वा ब्रह्मचर्य से सदा पवित्र रहता है इसलिये ही वे आजन्म उसके त्यागी होते हैं।

विकारवति नाग्न्यं न वस्त्रस्योद्वेष्टनं किल।
अविकारान्विते पुंसि न प्रशंसास्पदं हि तत् ॥ ४८ ॥

जिनके शरीर में कामादिक विकार विद्यमान हैं उन्हे नग्न कभी नहीं रहना चाहिये। ऐसे विकारी पुरुषों का शरीर सदा वस्त्रों से ढका रहना चाहिये। परन्तु जिसके शरीर मे कोई किसी प्रकार का विकार नहीं है उनके शरीर को वस्त्रों से ढकना प्रशंसा योग्य नहीं है। स्त्रियों के शरीर की बनावट विकार जनक है।

उसे देखकर साधारण पुरुषों को भी विकार हो सकता है और स्त्रियों में स्वाभाविक कुटिलता होने के कारण उन के मन में विकारों की अधिकता रहती है । इसलिये स्त्रियों के शरीर को सदा वस्त्रों से ढके रहने की आज्ञा है । किन्तु पुरुषों में यह बात नहीं है । पुरुषों का शरीर निर्विकार रहता है, तथा परिणामों मे सरलता रहती है । पुरुषों की युवावस्था का कोई ऐसा चिन्ह नहीं है जो दूसरे को विकार उत्पन्न कर सके । इसलिये पुरुष पूर्ण त्यागी होने पर नग्न रहते हैं और नग्न रहने में ही उनकी शोभा है ।

प्रश्न—मुनिगण खड़े होकर आहार क्यो लेते है ?

इसके उत्तर में उमास्वामी कहते है कि:—

न श्वभ्रायास्थितेर्भुक्तिः स्थितेर्नापि विमुक्तये ।
किन्तु संयमिनामेषा प्रतिज्ञाज्ञानचक्षुषाम् ॥ ४६ ॥

न तो बैठकर भोजन करने से नरक की प्राप्ति होती है, और न खड़े होकर भोजन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु ज्ञान रूपी नेत्रों को धारण करने वाले संयमी पुरुष खड़े होकर भोजन करने की प्रतिज्ञा कर लेते है अर्थात् इसका कारण यह है कि मुनि लोग यह प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि जब तक इस शरीर मे खड़े रहने की शक्ति विद्यमान रहेगी तब तक आहार ग्रहण करेंगे

अन्यथा समाधि मरण धारण कर आत्मा का कल्याण करेंगे। इसी प्रतिज्ञा के अनुसार खड़े होकर आहार लेते हैं।

प्रश्न—वालो का लोंच अपने हाथों से क्यों करते हैं ?

उत्तर—

अदैन्य वैराग्य कृते कृतोऽयं केशलोचकः ।
यतीश्वराणां वीरत्व व्रतनैर्मल्य दीपकः ॥ ५० ॥

दीनता का अभाव और वैराग्य की वृद्धि के लिये ही केश-लोच करते हैं। इससे मुनिराजो का शूर वीर पना प्रकट होता है और व्रतों की निर्मलता प्रकट होती है। इसलिये मुनियों के प्रति घृणा और निन्दा त्यागकर भव्य जीवों को निर्विचिकित्सा अंग पालन करना चाहिए।

प्रश्न—इस अङ्ग की रक्षा किसने की थी।

उत्तर—

बालवृद्धगदग्लानान् मुनीनौद्दायनः स्वयम्।
भजन्निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्राप पुरंदरात्॥५१॥

राजा उद्दायन सब प्रकार की घृणा का परित्याग कर बाल मुनियों की, वृद्ध मुनियों की, रोगी मुनियों की और कोढ़ी आदि ग्लान मुनियों की सदा सेवा-सुश्रूषा किया करता था और इसी लिये इन्द्र के द्वारा भी उसने प्रशसा प्राप्त की थी।

भावार्थ—निर्विचिकित्सक अंग को पालन करने से इन्द्र ने भी राजा उद्दायन की प्रशसा की थी।

अमूढ़दृष्टि अंग—अनेक आश्चर्य तथा चमत्कार करने वाले कुदेव तथा कुशास्त्र आदि की प्रशंसा न करना तथा अन्य आडम्बरियों के द्वारा रचे हुये शास्त्रों पर विश्वास न करना अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है।

उपगूहन—धर्म मार्ग वा धर्म के आचरणों मे सदा लीन रहने वाले किसी भव्य जीव का दैवयोग से कोई दोष या अपराध हो जाय तो उससे होने वाली निन्दा को छिपाना उपगूहन अग कहलाता है।

स्थिति करण—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट व पतित होते हुये जीवों को अपने तन मन धन आदि की शक्ति लगा कर पुन. उन्हे उसी रत्नत्रय मे लगाना या स्थित करना स्थिति करण अंग है। जैसे वारिषेण ने पुष्पडाल की स्थितिकरण किया था। दूसरा उदाहरण यह है कि सम्यग्दर्शन रूप नेत्र को धारण करने वाली रानी चेलना देवी ने ज्येष्ठा नाम की गर्भवती आर्जिका का उपचार कर उसे पुन शुद्ध व्रतों मे स्थापित किया था। कहा भी है कि—

ज्येष्ठां गर्भवतीमार्यामुपचार्याशु चेलना।
अतिष्ठिपत् पुनः शुद्धे व्रते सम्यक्त्वलोचना ॥ ६१ ॥

अर्थ ऊपर दिया ही जा चुका है ।

वात्सल्य अंग—इसी प्रकार उत्तम चारित्र को धारण करने वाले मुनिराजों का तथा धर्मात्मा गृहस्थों का यथा योग्य आदर सत्कार करना, पूजा सेवा कर उनकी वैयावृत्य करना विद्वानों के द्वारा वात्सल्य अंग कहलाता है कहा भी है कि.—

आदरो व्यावृत्तिर्भक्तिश्चाटूक्तिः सत्कृतिस्तथा ।
साधुपूपकृतिः श्रेयोर्थिभिर्वात्सल्यमुच्यते ॥ ६४ ॥

मुनिराजों का आदर सत्कार करना, उन को उच्चासन देना उनकी सेवा सुश्रूषा करना, उनको नमस्कार करना, हितमित मिष्ट वचन बोलना, उनकी भक्ति करना, चरण दबाना, तथा उनके ऊपर आई हुई आपत्ति या उपद्रव को दूर करना तथा देश काल की अपेक्षा से आवश्यकतानुसार उपचार करना वात्सल्य अंग कहलाता है । जैसे विष्णुकुमार ने सात सौ मुनियों पर हस्तिनापुर में आई हुई आपत्ति को दूर किया था । जैसे कहा भी है कि —

महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हस्तिनापुरे ।
वलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलम् ॥ ६५ ॥

राजा महापद्म के पुत्र मुनिराज विष्णुकुमार ने हस्तिनापुर नगर में वलि नाम ब्राह्मण के द्वारा किये गये मुनीश्वरों के घोर उपसर्ग को दूर कर सर्वोत्कृष्ट वात्सल्य अंग का पालन किया था ।

प्रभावना—रत्नत्रय रूपी तेज से अपने आत्मा को सदा प्रभावशाली बनाना चाहिए तथा दान देकर, तपश्चरण कर, भगवान् जिनेन्द्रदेव की उत्कृष्ट पूजा कर तथा अनेक विद्याओं का अतिशय दिखलाकर इस जैनधर्म को सदा प्रभावशाली बनाना चाहिये। सार यह है कि बिना किसी सांसारिक सुखों की अपेक्षा के शास्त्रों का उपदेश देकर, विद्या की चतुरता प्रकट कर, निर्दोष विज्ञान को धारण कर, दान देकर और भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा कर उनके शासन को सदा प्रभावशाली बनाते रहना चाहिये। जैसे कहा भी है कि.—

उर्मिलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः।
स्यन्दनं भ्रामयामास मुनिर्वज्रकुमारकः॥ ६८॥

महाराज पूतिक नाम के राजा ने अपनी उर्मिला नाम की रानी के द्वारा किया हुआ भगवान् जिनेन्द्र देव का रथोत्सव बन्द कर दिया था, परन्तु मुनिराज वज्रकुमार ने वह रथोत्सव बड़े धूम धाम से नगर भर में घुमाया था और जैनधर्म की महती प्रभावना की थी। इस प्रकार जो पुरुष अपने हृदय में उपर्युक्त आठों अंगसहित सम्यग्दर्शन धारण करता है उसीका सम्यग्दर्शन दृढ़ समझना चाहिये। यदि वही सम्यग्दर्शन उपरोक्त अङ्गों से रहित हो तो फिर उनकी हानि ही समझनी चाहिये।

इन ऊपर लिखे हुए अंगों के सिवाय संवेग, निर्वेग, निन्दा,

गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकपा ये आठ गुण और भी होते है ।

निर्वेग भावना—

भोगंभुजंगभोगाभे संसारे दुःखदे सताम् ।
यद्वैराग्यं सरोगेऽगे निर्वेदः स प्रचच्यते ॥७२॥

इन्द्रियों के भोग काले सर्प के फण के समान हैं तथा यह जन्म मरण रूप संसार सज्जन पुरुषों को अत्यन्त दु ख देने वाला है। और यह शरीर अनन्त रोगों का घर है । ऐसे इस ससार, शरीर और भोगों से विरक्त होना, वैराग्य धारण करना, निर्वेद कहलाता है ।

संवेग भावना—

देवे दोषोज्झिते धर्मे तथा शास्त्रे हिते गुरौ ।
निर्ग्रंथे योनुरागः स्यात्संवेगः स निगद्यते ॥ ७१ ॥

जन्म मरण आदि अठारह दोषों से रहित देव में, हिंसादि दोषों से रहित धर्म मे, आत्मा का हित करने वाले शास्त्र मे और परिग्रह रहित गुरु में अत्यन्त अनुराग वा प्रेम रखना सवेग कहलाता है।

निंदा—

पुत्रमित्रकलत्रादिहेतोः कार्ये विनिर्मिते ।
दुष्टे योनुशयः पुंसो निंदा सोक्ता विचक्षणैः ॥७३॥

पुत्र, मित्र, स्त्री आदि कुटुम्ब के लिये जो पाप कार्य किये जाते हैं उनके लिये अपनी निंदा की जाती है। उसको चतुर लोग निंदा कहते हैं।

गर्हा—

रागद्वेषादिभिर्जाते दूषणे सद्गुरोः पुरः ॥
भक्त्यायालोचना गर्हा साईद्भिः प्रतिपद्यते ॥७४॥

राग द्वेष आदि विकारों के द्वारा जो पाप किये गये हैं उनकी श्रेष्ठ गुरु के सामने बैठकर भक्ति पूर्वक आलोचना करना, गुरु के सामने उन सब पापों को निवेदन कर उनकी आलोचना करना गर्हा कहलाती है, ऐसा भगवान् अरहन्त देव ने निरूपण किया है।

उपशम भावना—

रागद्वेषादयो दोषाः यस्य चित्ते न कुर्वते ।
स्थिरत्वं सोत्र शांतात्मा भवेद् भव्यमतल्लिका ॥७५॥

जिसके हृदय में राग द्वेष मोह मद काम वा क्रोधादिक कषायादि दोष स्थिरता को प्राप्त नहीं होते उस श्रेष्ठ भव्य जीवके उपशम गुण समझना चाहिये। उसका आत्मा बहुत शान्त रहता है।

भक्ति गुण—

नराधिपसुराधीशपूजार्हेऽर्हति सद्गुरो ।
विनायाद्या सपर्यायैः सा भक्तिर्व्यक्तिमिष्यते ॥७६॥

इन्द्र, चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी जिनकी सेवा करते है ऐसे भगवान् अर्हंत देव और निर्ग्रन्थ गुरु की पूजा करना सेवा करना, स्तुति करना और उनकी सब प्रकार की विनय करना भक्ति गुण कहलाता है ।

वात्सल्य गुण—

साधुवर्गे निसर्गाद्यद्रोगपीडितविग्रहे ।
व्यावृत्तिर्भैषजाद्यैर्या वात्सल्यं तद्धि कथ्यते ॥७७॥

जो मुनि किसी स्वाभाविक रोग आदि से दुखी है उनकी औषधि आदि से सेवा सुश्रूषा करना वात्सल्य गुण कहलाता है ।

कारुण्य भावना—

प्राणिषु भ्राम्यमाणेषु संसारे दुःखसागरे ।
चित्तार्दत्वदयालोर्यत्तत्कारुण्यमुदीरितम् ॥७८॥

दु खो के सागर ऐसे इस ससार में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों पर सम्यग्दृष्टि दयालु के हृदय मे जो दयाभाव उत्पन्न होता है उसको कारुण्यभाव कहते हैं ।

इस प्रकार जिसके हृदय मे ऊपर लिखे हुए आठ गुणो से सुशोभित सम्यग्दर्शन विराजमान है, उसके घर मे यह लक्ष्मी सदा के लिए अपना निवास स्थान बना लेती है। इस प्रकार यह सम्दर्शन आठ अग, आठ मद, षट् अनायत, तीन मूढता इत्यादि पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन कहा है।

आचार्य ने सम्यदर्शन की महिमा को इस तरह बताया है कि —

सम्यक्त्वसंयुतः प्राणीमिथ्यावासेषु जायते।
द्वादशेषु च तिर्यक्षु नारकेषु नपुंसके ॥८८॥
स्त्रीत्वे च दुष्कृताल्पायुर्दारिद्रादिकवर्जितः।
भुवनत्रिषु षट्भूषु तद्देवीषु न जायते ॥७९॥

सम्यग्दृष्टी पुरुष पृथ्वी कायिक, अपकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक इन पांचों स्थावर कायो मे तथा दो इन्द्रिय इन तीन विकलत्रयोमे, निगोद में असेनी पचेन्द्रिय कुभोग भूमियों मे उत्पन्न नहीं होते है। इसके सिवाय तिर्यंच योनि मे. नरको मे, नपुंसकलिंग मे, स्त्री पर्यायमे, भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवों मे तथा सब तरह की देवियों मे और नीचे की छह पृथ्वियों मे उत्पन्न नहीं होते हैं। इनके सिवाय वे जीव अल्प आयु दरिद्री और हीन कुलमे उत्पन्न नहीं होते है। इस सम्यग्दर्शन के बल से भव्य जीव तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि उत्तमोत्तम पदों की

देदीप्यमान विभूतियों को पाकर अन्त में मोक्षरूपी परम पद को प्राप्त कर लेता है।

ऊपर के श्लोक का सार यह है कि जो भव्य जीव इस तरह भगवान् अरहत देव, उन का वचन और उन वचन के अनुकूल चलने वाले गुरु इन तीनों में श्रद्धा रखकर इन तीनों मे दोप न आये इस तरह जिन्हों ने आचरण किया वे ही परम तपस्वी और नि परिग्रहधारी तपस्वी नहीं हैं क्या ? अर्थात् वे ही सच्चे तपस्वी हैं।

आगे के श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बताया है कि जिस भव्य जीव ने अरहत देव सिद्धान्त और निर्ग्रंथ गुरुओं में जो गाढ श्रद्धान कर उन को ठीक पहचान लिया है, उन्होंने सात तत्त्वों को भी पहचान लिया है, अलग २ सात तत्त्वों को जानने की आवश्यकता नहीं है ऐसा कहते हैं।

मोदलोळे तत्वसप्तकदि पेळ्दु मणित्रयमं बळिक्किदे ।
निदनुसिर्ददयेन्नदिरिमाप्तनोळागम दोळ्तपस्वियोळ् ॥
पुदिदुदु तत्त्व वर्गमदरिंददेरविल्ल मदुं निजात्म सा- ।
ध्यद सहकारियेंबुदु तवाज्ञेयला अपराजितेश्वरा ! ॥७१॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! प्रथम सप्त तत्त्वों में रत्नत्रय को कहना ठीक है क्या वार वार इसी तरह कहना ठीक होगा ?

सातों तत्त्व जो हैं आप्तागमके गर्भित है अर्थात् देव शास्त्र गुरु इन तीनोंमे तत्व समूह अलग नहीं हैं। उन तत्व समूह साधन को यह साधन भूत है ऐसी आप की आज्ञा है ॥ ७१ ॥

71. O, Aparajiteshwar ! Before describing the seven Tatwas it is good to describe the three Jewels as the seven Tatwas are included into true deity, scripture and teacher. These are instrumental to the realisation of them.

विवेचन—इस श्लोक मे ग्रथकार कहते हैं कि सप्त तत्त्व के वर्णन का जहाँ विवेचन किया है, उससे अलग पुन. रत्नत्रय का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। क्यों कि आप्त, आगम, गुरु इन तीनों का ही उसमे समावेश है,और रत्नत्रय भी समाविष्ट है। ये सातो तत्त्व भी भगवान् की वाणी हैं इसलिये भगवान् की वाणी तथा उनके अनुसार आचरण कर उनके मार्ग को भव्य ससारी जीवों को बतलाने वाले गुरुओं का इन तीनों की पूजा करनी चाहिये क्योंकि इन तीनो मे कोई अतर नहीं है अर्थात् एक ही है सहायक है ऐसी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है। और आप्तागम तत्त्व ही आत्म साधन है अर्थात् तत्त्व का समूह ही आप्तागम है। जो मानव इन तीनो मे दो को छोड़ने और एक को माने, एक को छोड़ कर दो को माने इस तरह मानने वाला भव्य जीव इस संसार परिभ्रमण से छुटकारा नहीं पाता है।

इस लिये ससार से भयभीत होकर भव्य जीव को अवश्य अपने कल्याण के लिये भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करनी चाहिये। इस से अधिक कहने से क्या लाभ ?

जो पुरुष जुवा चोरी आदि सातों व्यसनों से रहित हैं, भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करने मे सदा तत्पर रहते हैं और सम्यग्दर्शन से सुशोभित है, वे ही पुरुष श्रावक कहलाते है और ऐसे श्रावक ही ससार मे धन्य माने जाते हैं। कहा भी है कि—

यो मानुष्यं रामासाद्य दुर्लभं भवकोटिषु।
सज्जाति सत्कुलं चापि माभूयाद्दृगवर्जितः ॥६३॥

इस संसार मे यह मनुष्य पर्याय करोडों भवों में भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है। तथा ऐसा अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर के भी उत्तम जाति और उत्तम कुल की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। ऐसे मनुष्य जन्म और उत्तम कुल जाति को पाकर सम्यग्दर्शन से रहित कभी नहीं होना चाहिये।

भावार्थ—अनादि काल से वशपरम्परा से चली आई माता के कुल की विशुद्धि जाति कहलाती है, पिता के कुल की विशुद्धि को कुल कहते हैं। तथा दोनों की विशुद्धि सज्जातियाँ कहलाती हैं,ये सज्जातियां सप्त परम स्थानों मे मुख्य मानी गई हैं। ऐसी सज्जाति को पाकर सम्यग्दर्शन की विशुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिये।

अब इन उभय कुल की सार्थकता किस तरह से होती है ? सो बतलाते हैं।

उत्तम श्रावक को सब से पहले कुलाचार के अनुसार आठ मूल गुण वड़, पीपर, पाकर, ऊमर, अजीर तथा मद्य, मधु, मास इत्यादि का त्याग करने से अपने कुलाचार की रक्षा होती है और दयामयी धर्म की भी रक्षा होती है। इसलिये इनको पालन करने वाले श्रावक को कुलवान् उत्तम श्रावक कहते है। जब तक इन आठों का त्याग नहीं करेगा तब तक श्रावक की गिनती में नहीं गिना जासकता। जब इनका त्याग करता है तब भगवान् जिनेन्द्र देव के उपदेश सुनने का अधिकारी बनता है और तब वह उत्तम श्रावक कहलाता है। ऐसे श्रावक को ही भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा तथा मुनि गणो को चारों प्रकार के दान देने का अधिकार है। श्रावको का दर्जा ग्यारह है उनका वर्णन अन्य ग्रन्थ में जान लेना ग्रन्थ विस्तार के भय से उसका विवेचन यहाँ नहीं किया गया है।

अब आगे गृहस्थ धर्म के कर्त्तव्य का विवेचन करेगे। गृहस्थ धर्म सम्बन्धी आरम्भ के द्वारा होने वाले दोप—

पंचसूनाकृतंपापं यदेकत्र ग्रहाश्रमे।
तत्सर्वमतिथये बापौ दाता दानेन लुंपति ॥२६॥

जो चक्की, चूल्हा, बुहारी, ऊखली और परेंडा इन सूनाओं से

किया हुआ तथा आरम्भ जनित पाप गृहस्थाश्रम में एकत्र होता है उन समस्त पापों को वह दातार व्रतियों को दान देने से नष्ट कर देता है।

चतुर्विधदान—

आहाराभयभैषज्य शास्त्रदानादि भेदतः।
चतुर्धादानमाम्नातं जिनदेवेन योगिना ॥३०॥

अर्थ—योगीश्वर जिनेन्द्रदेव ने पवित्र आहार, अभय, औषधि, और शास्त्रादि भेद से चार प्रकार का दान कहा है। (विशेष) यहाँ पर अभय का अर्थ स्थान है। अर्थात् जिस स्थान में शं उष्णादि की भीति नहीं होवे वह अभय स्थान है। जैसे वसति आवास मठ आदि। गृहस्थी लोग मुनियों के लिये अभय नहीं सकते, क्योंकि मुनिगण दया के पात्र नहीं हो सकते। वे हमेशा पूज्य ही हैं। जो कारिका में आदि शब्द है उस से समा साधक स्थानादिकों का तथा शास्त्र पुस्तकों का भी ग्रहण है।

वैय्यावृत्य के महत्त्व के बारे में शिवकोटि आचार्य ने लि.. है कि—

अध (पेनाध) काले पतीनां यैः वैय्यावृत्यं कृतम्मुवा।
तैरेव शासनं जैनं, प्रोद्धृतं शर्म्म कारणम् ॥३१॥

अर्थ—जिन सज्जनों ने इस वर्तमान पंचमकाल में भ साधुओं का हर्ष के साथ वैय्यावृत्य किया है उन सज्जनों ..

सातिशय सुख का हेतु जो जैन धर्म है उसका उत्तमता से उद्धार किया है।

उत्तुगं तारेणोपेतं, चैत्यागारमधत्तयम् ॥
कर्त्तव्यं श्रावकैः शक्त्या, मठादिकमपि स्फुटम् ॥३२॥

अर्थः—श्रावक लोक शक्ति अनुसार ऊँचे और तोरणो सहित पापो के क्षय करने के साधक ऐसे चैत्यालय जिन मन्दिरो को वनावे, तथा मठ वसतिका गुफा स्वाध्यायशाला नशियादिको को भी शक्ति को न छिपा कर वनावें।

यह श्रावकों का मुख्य कर्त्तव्य है। उमा स्वामिने कहा भी है कि—

देवपूजादिषट् कर्म निरतः कुलसत्तमः।
आद्यषट्कर्मनिर्मुक्तः श्रावकः परमो भवेत् ॥३३॥

अर्थ.—जो पुरुप देव पूजा, गुरु,की उपासना. स्वाध्याय, सयम, तप और ज्ञान इन छहो कर्मो के करने में तल्लीन रहता है जिस का कुल उत्तम है। और जो देव पूजा आदि कर्मो से ही चूल्हा उखली चक्की बुहारी परडा घर की मरम्मत घरके नित्य होनेवाले पापों को नष्ट करता रहता है वही उत्तम श्रावक कहलाता है।

भावार्थः—देव पूजा आदि श्रावकों का आवश्यक कर्म है। इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने कुल सत्तम ऐसा एक श्रावक विशेषण

दिया है इससे यह सूचित होता है कि जिसकी कुल और जाति उत्ताम है। उसी को देव पूजा आदि षट् कर्म करने का अधिकार है। जिस की जाति या कुल हीन है। उसको देव पूजा आदि करने का कोई अधिकार नहीं हैं। हा अपनी योग्यता के अनुसार ऐसे लोग दर्शन आदि कार्य कर सकते हैं।

इति प्रथममावर्ण्य दर्शनं जिनपूजनम् ।
तद्दृढीकरणार्थं वक्ष्येहं युगले पदे ॥ ३४ ॥

अर्थ.—इस प्रकार इस प्रथम अधिकार मे सम्यग्दर्शन का वर्णन किया। अब आगे इस सम्यग्दर्शन को दृढ़ करने के लिये इस दूसरे अधिकार में जिन पूजन का वर्णन करते हैं।

नित्यपूजा विधिः केन प्रकारेण क्रियेत च ।
बुधैस्तथाहं वक्ष्ये च पूर्वसूत्रानुसारतः ॥ ३५ ॥

अर्थ.—विद्वान् पुरुष भगवान् जिनेन्द्र देव की नित्य पूजा किस प्रकार करते है वा उसको किस प्रकार करनी चाहिये। यही वर्णन हम इस अध्याय में पहले के शास्त्रों के अनुसार करते हैं।

स्नानं पूर्वमूखी भूय प्रतीच्यां दन्तधावनम् ।
उदीच्यां श्वेतवस्त्राणि पूजा पूर्वोत्तरामुखी ॥६७॥

अर्थः—पूर्व दिशा की ओर मुख करके स्नान करना चाहिये,

पश्चिम दिशा की ओर मुख करके दातून करना चाहिये तथा पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। यह गृहस्थ धर्म मे आने वाले नित्य नियम को हमने वतलाया। आगे चैत्यालय निर्माण करने की विधि बतलायेंगे —

गृहे प्रविशता वामभागे शल्यविवर्जिते ।
देवतावसरं कुर्यात्सार्द्धहस्तोर्द्धभूमिके ॥ ९८ ॥
नीचैर्भूमिस्थितं कुर्याद्देवतावसरं यदि ।
नीचैर्नीचैस्ततोवश्यं संतत्यापि समंभवेत् ॥ ९९ ॥

गृह में प्रवेश करते समय जिस दिशा में अपना बाया अंग हो घरके उसी भाग मे चैत्यालय बनवाना चाहिये। चैत्यालय शल्य रहित उत्तम भूमि मे बनवाना चाहिए। अर्थात् जिस भूमि में हड्डी आदि मलिन वस्तु के रहने का सन्देह न हो ऐसे स्थान मे चैत्यालय वनवाना चाहिये। उस चैत्यालय मे वेदी की ऊँचाई डेढ़ हाथ होनी चाहिये। यदि वेदी की ऊँचाई डेढ़ हाथ से कम हो तो वनाने वाले की सतति के साथ ही नीचता प्राप्त होगी। अर्थात् वेदी की ऊँचाई ठीक डेढ़ हाथ होकर, न तो इस से कम होना चाहिये और न ज्यादा ही। वह वेदी इस प्रकार वनवानी चाहिये जिसमें पूजन का सब सुभीता हो।

एकादशांगुलं बिम्बं सर्वकामार्थसाधकम् ।
एतत्प्रमाणमाख्यातमत ऊर्ध्वं न कारयेत् ॥ १०० ॥

उन चैत्यालय में ग्यारह अंगुल प्रमाण जिन प्रतिमा होनी चाहिये। क्योंकि ग्यारह अंगुल प्रमाण प्रतिमा समस्त मनोरथों को सिद्ध करने वाली है, चैत्यालयों में विराजमान करने के लिये शास्त्रकारों ने ग्यारह अंगुल प्रमाण की प्रतिमा बतलाई है। इसी से समस्त कार्यों की सिद्धि हो सकती है। चैत्यालयों में इस से अधिक ऊँची प्रतिमा कभी विराजमान नहीं करनी चाहिये।

एकांगुलं भवेच्छ्रेष्टं द्व्यंगुलं धननाशनम्।
त्र्यंगुलं जायते वृद्धिः पीडा स्याच्चतुरंगुले ॥१०१॥

गृहस्थों के चैत्यालय में एक अंगुल प्रमाण जिन प्रतिमा श्रेष्ठ गिनी जाती है। दो अंगुल की प्रतिमा से धन का नाश हो जाता है। तीन अंगुल की प्रतिमा से वृद्धि होती है और चार अंगुल की प्रतिमा विराजमान करने से पीडा होती है।

पंचांगुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडंगुले।
सप्तांगुले गवां वृद्धिर्हानिरष्टांगुले मता ॥१०२॥

पाच अंगुल की प्रतिमा विराजमान करने से वृद्धि होती है छह अंगुल की प्रतिमा विराजमान करने से उद्वेग होता है, सात अंगुल की प्रतिमा विराजमान करने से गोधन की वृद्धि होती है और आठ अंगुल की प्रतिमा विराजमान करने से हानि होती है।

नवांगुले पुत्रवृद्धिर्धननाशो दशांगुले।

आरभ्यैकांगुलाद्विम्बाद्यावदेकादशांगुलम् ॥१०३॥

नौ अंगुल की प्रतिमा विराजमान करने से संतान की वृद्धि होती है, दस अगुल की प्रतिमा से धन का नाश होता है। इस प्रकार एक अगुल से लेकर ग्यारह अंगुल तक की प्रतिमा घर के चैत्यालय में विराजमान करने का वर्णन किया। जिन मन्दिर के लिये यह नियम नहीं है। जिन मन्दिर में चाहे जितनी ऊँची प्रतिमा विराजमान कर सकते हैं। यद्यपि जिन प्रतिमा पुण्य बन्ध का कारण है तथापि वस्तु का स्वभाव भी भिन्न २ होता है तथा पूजन करने वालो की कामना भी भिन्न २ होती है। और कामनाओं के अनुसार विधि भी भिन्न २ होती है। पूज्य पूजक मन्त्र विधि आदि समस्त सामग्री के अनुसार मनोकामना की सिद्धि होती है। यदि इन में कोई भी सामग्री विपरीत हो तो उस का फल भी विपरीत ही होता है। पूजन की विधि में प्रतिमा की श्रेष्ठता और उस का प्रमाण ही मत्र शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। मंत्र शास्त्रों मे लिखा है कि यदि प्रतिमा कुरूप हो, उस की दृष्टि वक्र हो या उसका आकार कुत्सित हो तो उस से पूजक की हानि होती है। यह बात प्रायः सव लोगों के अनुभव में आ रही है। जिस प्रकार वक्रदृष्टि वाली प्रतिमा से पूजक को हानि होती है उसी प्रकार यदि सम-अंगुल वाली प्रतिमा यानी दो, चार, छ, आठ वा दस अगुल की प्रतिमा घर के चैत्यालय में विराजमान की जाय तो उस से हानि होती है। यह सख्या की समता और

विषमता अनेक स्थानों में शुभाशुभ की सूचक होती है। शुभ कार्यों में विषम सख्या ही शुभ मानी जाती है। सम सख्या कभी शुभ नहीं मानी जाती। इस लिये सम अंगुल की प्रतिमायें घर के चैत्यालयों में शुभ नहीं होती हैं।

गृहे संपूजयेद्बिम्बमूर्ध्वप्रासादगं पुनः।
प्रतिमाकाष्ठलेपाख्यस्वर्णरूपायसां गृहे ॥१०४॥

मानाधिकपरीवाररहिता नैव पूज्यते।
काष्ठलेपायसां भूता प्रतिमाः साम्प्रतं नहि ॥१०५॥

योग्यास्तेषां यथोक्तानां लाभस्यापि स्वभावतः।
जीवोत्पत्त्यादयो दोषाः वहवः संभवन्ति च ॥१०६॥

घर का चैत्यालय घर के ऊपरी भाग पर वनवाना चाहिये और उसमें जिन प्रतिमा विराजमान कर उन की पूजा करनी चाहिये। काठ की प्रतिमा, लेप की प्रतिमा, पाषाण की प्रतिमा, सोना, चान्दी, तावा, पीतल, लोहा आदि धातु की प्रतिमा वनवा कर घर के चैत्यालय में विराजमान करनी चाहिये। वह प्रतिमा भी ग्यारह अगुल से ऊँची नहीं होनी चाहिये तथा वह प्रतिमा आठ प्रातिहार्य यक्ष यक्षी सहित होनी चाहिये। अरहन्त की प्रतिमा प्रातिहार्य और यक्ष यक्षी सहित ही होनी चाहिये। यदि अरहत की प्रतिमा न मिले तो घरके चैत्यालय में केवल सिद्धों की प्रतिमा विराजमान नहीं करनी चाहिये। सिद्धों की प्रतिमा जिन

मन्दिर में ही विराजमान करनी चाहिये। काठ लेप और लोहे की प्रतिमा इस पंचमकाल मे विराजमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि काष्ठ और लेप प्रतिमा का अभिषेक नहीं हो सकता। काठ की प्रतिमा का अभिषेक करने से उसमें जीव राशि उत्पन्न होने की सभावना रहती है तथा लेप प्रतिमा की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती। ऐसी प्रतिमा के विराजमान करने से लाभ के बदले हानि ही होती है।

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकम्।
सर्व विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोछ्रयः ॥१०७॥

जिस जिन भवन पर ध्वजा नहीं होती है उस जिन भवन में किया हुआ जप होम पूजा आदि सब व्यर्थ हो जाता है। इस लिये जिन भवन पर ध्वजा-स्तम्भ अवश्य होना चाहिये।

भावार्थ—जिन मन्दिर पर शिखर और शिखर से ऊँचा ध्वज स्तम्भ होना चाहिये। शिखर के कलशों से ध्वजा सदा ऊंची होनी चाहिये। नीची ध्वजा शुभ नहीं होती है। जिस प्रकार व्रत की पूर्णता उद्यापन से होती है। भोजन की पूर्णता और शोभा तांबूल से होती हैं उसी प्रकार जिन भवन की शोभा और पूर्णता शिखर कलश और ध्वजा स्तम्भ से होती है।

अतीताब्दशतं यस्मात् यच्च स्थापितमुत्तमैः।
तद्व्यंगमपि पूज्यं स्याद्बिम्बं तन्निष्फलं नहि ॥१०८॥

जिस प्रतिमा की पूजा करते हुए सौ वर्ष व्यतीत हो गये हैं अथवा जिस प्रतिमा का साक्षात् अतिशय हो और जो प्रतिमा किसी महापुरुष के द्वारा स्थापित की गई हो वह प्रतिमा यदि अङ्गहीन हो तो भी पूज्य मानी जाती है।

भावार्थ—अङ्गहीन प्रतिष्ठित प्रतिमा भी अपूज्य होती है, परन्तु अतिशय सहित प्रतिमा का यदि कोई उपांग भंग हो गया हो तो वह पूज्य ही मानी जाती है।

> यद्बिम्बं लक्षणैर्युक्तं शिल्पशास्त्रनिवेदितम्।
> सांगोपांगयथायुक्तं पूजनीयं प्रतिष्ठितम् ॥१०९॥
> नासामुखे तथा नेत्रे हृदये नाभिमंडले।
> स्थानेषु व्यंगितेष्वेव प्रतिमां नैव पूजयेत् ॥११०॥

जो प्रतिमा शिल्प शास्त्र वा प्रतिष्ठा शास्त्रों के अनुसार बनवाई हो, सांगोपांग हो और अपने पूर्ण लक्षणों से सुशोभित हो ऐसी प्रतिष्ठित प्रतिमा पूज्य मानी जाती है। प्रतिष्ठा होने के बाद यदि नाक, मुख, नेत्र, हृदय, नाभि आदि अंग भंग हो गये हों तो वह प्रतिमा अपूज्य हो जाती है। फिर उस की पूजा नहीं करनी चाहिये। उस को फिर किसी गहरे जल में पधरा देनी चाहिये।

> जीर्णं चातिशयोपेतं तद् व्यंगमपि पूजयेत्।
> शिरोहीनं न पूज्यं स्यान्निक्षेप्यं तन्नदादिषु ॥१११॥

जो प्रतिष्ठित प्रतिमा अत्यन्त जीर्ण हो गई हो तथापि वे अतिशय सहित हों तो वे भी पूज्य ही मानी जाती है; परन्तु जिन प्रतिमा का मस्तक न रहा हो या छिन्न भिन्न हो गया हो ऐसी प्रतिमा कभी पूज्य नहीं मानी जाती। ऐसी प्रतिमा किसी गहरे जल में डुबो देनी चाहिये।

पूर्वस्यां श्रीगृहं कार्यं आग्नेयां तु महानसम्।
शयनं दक्षिणस्यां तु नैऋत्यामायुधादिकम् ॥११२॥
भुक्तिक्रिया पश्चिमस्यां वायव्ये धन संग्रहः।
उत्तरस्यां जलस्थानमैशान्यां देव सद्गृहम् ॥११३॥

श्रावक को अपने घरके विभाग इस प्रकार बनाने चाहिये। पूर्व दिशा की ओर शोभागृह (बैठक का कमरा) आग्नेय दिशा में रसोई घर, दक्षिण दिशा में शयन करने का स्थान, नैऋत दिशा में आयुधशाला, पश्चिम दिशा मे भोजन गृह, वायव्य दिशा में धन सग्रह करने का घर, उत्तर दिशा में जल स्थान (परडा) और ईशान दिशा में देव स्थान बनाना चाहिये।

अंगुष्ठमात्रं विम्बं यत् यः कृत्वा नित्यमर्चयेत्।
तत्फलं न च वक्तुं ही शक्यतेऽसंख्य पुण्ययुक् ॥११४

जो भव्य जीव एक अंगुल प्रमाण प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराकर नित्य पूजन करता है वह असंख्य पुण्यकर्मों का संचय करता है।

उस प्रतिमा के विराजमान करने और उसकी पूजन करने के फल को इस संसार मे कोई कह भी नहीं सकता है।

बिम्बादलसमे चैत्ये यवमानं तु बिम्बकम्।
यः करोति हि तस्यैव मुक्तिर्भवति संन्निधिः ॥११५॥

जो पुरुष बिम्बाफल के पत्ते के समान बहुत छोटा चैत्यालय बनाता है तथा उसमे जौ के समान छोटी सी प्रतिमा विराजमान करता है। इस प्रकार जो भगवान की पूजा किया करता है तो समझना चाहिये कि मुक्ति इस के अत्यन्त समीप ही आ चुकी है। भावार्थ—जो गृहस्थ विशेष धनवान नहीं है उसको भी अपनी शक्ति के अनुसार जौ के समान छोटी सी प्रतिमा बनवा कर प्रतिदिन उस की पूजा करनी चाहिये। तथा जिनालय भी छोटे से छोटा बनवाना चाहिये। जो श्रावक चैत्यालय वा प्रतिमा नहीं बनवाता उसे अपने कर्त्तव्य से च्युत समझना चाहिये। जिन प्रतिमा और जिनमन्दिर बनवाने के समान इस संसार में अन्य कोई दूसरा पुण्य नहीं है। एक प्रतिमा बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा कराने से अनन्त पुण्य का बंध होता है। ससार में ऐसे मनुष्य अत्यन्त धन्य माने जाते हैं।

तथार्चकः पूर्वदिशि चोत्तरस्यां न सम्मुखः।
दक्षिणस्यां दिशायां च विदिशायां च वर्जयेत् ॥११६

यदि जिन प्रतिमा का मुख पूर्व दिशा की ओर हो तो पूजा

करने वाले को उत्तर दिशा की ओर मुँह करके पूजा करनी चाहिये। यदि प्रतिमा का मुख उत्तर दिशा की ओर हो तो पूजक का पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके पूजा करनी चाहिये। जिन प्रतिमाके सामने खड़े होकर पूजन कभी नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार दक्षिण दिशा की ओर वा विदिशा की ओर मुँह करके कभी पूजन नहीं करनी चाहिये।

पश्चिमाभिमुखः कुर्यात् पूजां चेच्छ्रीजिनेशिनाम्।
तदा स्यात्संततिच्छेदो दक्षिणस्यामसन्ततिः ॥११७॥

यदि भगवान् जिनेन्द्र की पूजा पश्चिम मुख हो कर की जाती है तो उस से सन्तति का नाश होता है। यदि दक्षिण दिशा की ओर मुख करके पूजा की जाती है तो सन्तति का अभाव होता है।

आग्नेयां च कृता पूजा धनहानिर्दिने दिने।
वायव्यां संततिर्नैव नैऋत्यांतु कुलक्षयः ॥११८॥

आग्नेयदिशा की ओर मुख करके पूजा करने से प्रति दिन धन की हानि होती है। वायव्य दिशा की ओर मुख कर पूजा करने से सतति नहीं होती है और नैऋत्य दिशा की ओर मुख करके पूजा करने से कुल का क्षय होता है।

ईशान्यां नैव कर्तव्या पूजा सौभाग्यहारिणी ॥११९॥

ईशान मुख हो कर पूजा करने से सौभाग्य नष्ट होता है। पूर्व मुख हो कर पूजा करने से शान्ति प्राप्त होती है और उत्तर मुख होकर पूजा करने से धन की वृद्धि होती है।

तिलकैस्तु विना पूजा न कार्या गृहमेधिभिः।
अंह्रिजानुकरांशेपु मूर्ध्नि पूजा यथाक्रमम् ॥१२०॥
भाले कण्ठे हृदम्भोजे उदरे चिन्हकारणैः।
नवभिस्तिलकैः पूजा करणीया निरन्तरम् ॥ १२१ ॥

पूजा करने वाले गृहस्थ को विना तिलक लगाये पूजा कभी नहीं करनी चाहिये। तिलक स्थान नौ हैं। चरण, घोंटू, हाथ की कुहनी, हाथ, मस्तक, ललाट, कण्ठ, हृदय और उदर। इन नौ स्थानों मे चन्दन आदि का तिलक लगा कर पूजा करनी चाहिये। नित्य पूजा में पाँच तिलक भी लगाये जाते हैं तथा केवल ललाट पर एक तिलक भी लगाया जाता है। तिलक लगाये विना भगवान् का अभिषेक, पूजा, जप होम वा अन्य कोई भी मागलिक कार्य नहीं करना चाहिये विना तिलक लगाये मांगलिक अपशकुन समझा जाता है।

मुक्तिश्रियः ललामं वा तिलकं समुदाहृतम्।
तेनानर्थत्वमिन्द्रस्य पूजकस्य च तैर्विना ॥१२२॥

यह तिलक मुक्तिरूपी लक्ष्मी का सर्वोत्कृष्ट आभूपण माना

जाता है। इसलिए बिना तिलक के पूजा करने वाले इन्द्र को इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती।

भावार्थ—अभिषेक पूजा होम जप आदि मगल कार्य सब तिलक लगा कर ही करने चाहिये।

षोडशाभरणोपेतः सांगोपांगस्तु पूजकः।
विनयो भक्तिमान् शक्तः श्रद्धावान् लोभवर्जितः ॥१२२
पद्मासनसमासीनो नासाग्रन्यस्तलोचनः।
मौनी वस्त्रावृतास्तोयंपूजां कुर्याज्जिनेशिनः ॥१२४॥

पूजा करनेवाला इन्द्र कहलाता है। इन्द्र को सोलह आभूषण पहनना चाहिए। उसके अग-उपाग सब परिपूर्ण होने चाहिये। वह विनयी हो, भक्ति करने वाला हो, समर्थ हो, श्रद्धा करनेवाला हो और लोभ रहित हो। उस समय उसे पद्मासन से बैठकर पूजा करनी चाहिये। उसे अपने दोनों नेत्र अपनी नासिका के अग्रभाग पर रखने चाहिये, मौनधारण करना चाहिये तथा अपना मुख वस्त्र से ढक लेना चाहिये। इस विधि से भगवान् की पूजा करनी चाहिये।

पूजा करने वाला अपने मनमे इन्द्र का सकल्प करता है,इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव सर्वोत्कृष्ट देव हैं। उनकी पूजा करने का पात्र इन्द्र ही है। यदि ऐसे भगवान् की हम लोग

पूजा करना चाहते है तो हमे अपने मे कम से कम इन्द्र का न्यास निक्षेप वा सङ्कल्प अवश्य कर लेना चाहिये। इन्द्र के समान ही सालह आभरण पहिनने चाहिये और तिलक यज्ञोपवीत आदि धारण करना चाहिये। धाती, दुपट्टा, मुकुट, हार, कङ्कण, मुद्रिका, तिलक, यज्ञोपवीत आदि आभरण हैं जो अनेक पूजा शास्त्रों मे बतलाये हैं। यथा—

इन्द्रोऽहं निजभूषणान्यमलं यज्ञोपवीतं दधे।
मुद्राकङ्कण शेखराण्यपि तथा जैनाभिषेकोत्सवे ॥"

भावार्थ—भगवान् का अभिषेक करने के लिये मैं अपने मन में इन्द्र का सङ्कल्प करता हूँ। यज्ञोपवीत कङ्कण मुद्रिका मुकुट आदि निर्मल आभूषणों को धारण करता हूँ। इस प्रकार अपने में इन्द्र का सकल्प कर भगवान् की पूजा करनी चाहिये। पूजा बैठ कर की जाती है। इसका विशेष वर्णन पहले कर ही चुके है।

श्री चन्दनं विनानैव पूजां कुर्यात्कदाचन।
प्रभाते घनसारस्य पूजा कार्या विचक्षणैः ॥१२५॥

श्री जिनेन्द्र भगवान् की पूजा बिना चन्दन के कभी नहीं करनी चाहिये। चतुर पुरुषों को प्रात काल के समय चन्दन से पूजा अवश्य करनी चाहिये। श्री देवसेनाचार्य ने भावसग्रह मे कहा भी है कि--

जो भव्य जीव भगवान् के चरण कमलों पर चन्दन का विलेपन करता है अर्थात् चरणों पर चन्दन लगाता है वह निर्मल सुगन्धित वैक्रियिक शरीर प्राप्त करने वाला देव होता है।

चन्दन सुगन्ध लेओ जिनवर चरणेसु जो कुणइ भविओ।
लहइ तणु विठियरियं सहा व सुपंधयं अमलं ॥

और भी कहा है कि—

कंकोलकैला गुरुसत्प्रयंगूलवंगकर्पूरकरंजितेन।
श्री खंडपंकेन निरस्तशंकं जिनक्रमाब्जं परिलेपयामि ॥

शीतलचीनी इलायची, अगर, प्रियगु लौंग, कपूर, केशर, आदि सुगन्धित पदार्थों से श्री जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करनी चाहिये। उनके चरण-कमलों के अगूठों पर चंदन लगाना चाहिए।

एकसघी आचार्य ने अपने जिन सहिता में भी कहा है—

सुचंदनेन कर्पूरव्यामिश्रेण सुगंधिना।
व्यालिंपामो जिनस्यांघ्रीम् निलिपाधीश्वरार्चितान् ॥

चदन, केशर और कपूर से मिले हुए सुगन्धित द्रव्य से भगवान् के चरण कमलों का लेप करना चाहिए।

और भी कहा है कि—

काश्मीरकर्पूरसुगन्धितेन सुगन्धघनसारविलेपनेन ।
पादाब्ज युग्मं हि विलेपयामि भक्त्या जिनस्यकरुणायुतस्य ॥

केशर, कपूर,सुगन्धित चन्दन आदि द्रव्यों से मैं करुणासागर भगवान् जिनेन्द्रदेव के दोनों चरण कमलों का लेप करता हूँ ।

मध्यान्हे कुसुमैः पूजा संध्यायां दीपधूपयुक् ।
वामांगे धूपदाहः स्याद्दीपपूजा च संमुखी ॥१२६॥

मध्याह्न काल में पुष्प पूजा मुख्य मानी जाती है । सुन्दर ताजे सुगन्धित पुष्पों को शुद्ध जलसे धोकर शुद्धता पूर्वक भगवान् के चरण कमलों पर चढ़ाना चाहिये । पुष्प भगवान् के सामने नहीं चढ़ाये जाते, किन्तु भगवान् के चरणों पर ही चढ़ाये जाते हैं । संध्याकाल के समय दीप और धूप से पूजा करनी चाहिये । दीप से भगवान् की आरती उतारी जाती है और धूप अग्नि में खेई जाती है । आरती सामने उतारी जाती है और धूप भगवान् के बाईं ओर रखकर उसमें खेई जाती है ।

भावार्थ—ऊपर के दोनों श्लोकों में काल की अपेक्षा से मुख्य मुख्यपूजा बतलाई गई है । प्रातःकालमें चन्दन पूजा मुख्य बतलाई गई है, मध्याह्नकाल में पुष्प पूजा मुख्य है और सायंकाल में दीप धूप पूजा मुख्य है । यदि कोई पुरुष प्रात काल में चन्दन पूजा नहीं

करता है बाकी की द्रव्यों से पूजा कर लेता है तो वह शास्त्रों मे कही हुई विधि का उल्लघन करता है। क्योंकि अष्ट द्रव्यों में प्रातःकाल के समय चन्दन पूजा ही मुख्य मानी गई है। जिस मनुष्य ने मुख्य पूजा नहीं की उसकी अन्य पूजा गौण ही समझी जायगी तथा मुख्य पूजा के अभाव में पूजा की विधि भी विपरीत समझी जायगी। प्रात काल अभिषेक अवश्य किया जाता है तथा अभिषेक के बाद चन्दन पूजा मुख्य मानी जाती है। मुख्य विधि के बिना गौण विधि नहीं हो सकती। भगवान् की प्रतिमा का शरीर महापवित्र हो जाता है इसलिये उसका स्पर्श भी महा पुण्य का कारण है। तथा पूजा करने वाले के शरीर को भी पवित्र कर देता है और भगवान् के पवित्र शरीर का स्पर्श अभिषेक करने वा चन्दन पूजा करने से ही हो सकता है। इसीलिये प्रातःकाल में सबसे पहले अभिषेक करने का और चन्दन पूजा का विधान बतलाया है। बिना अभिषेक के अष्ट द्रव्य से भी पूजा नहीं हो सकती, क्योंकि अष्ट द्रव्य में भी तो जल पूजा और चन्दन पूजा मुख्य है।

आचार्यों का एक अभिप्राय यह भी है कि भगवान् का अभिषेक करने में देखने वालों के परिणाम अत्यन्त निर्मल और भक्ति से परिपूर्ण हो जाते हैं। इसलिये ही पूजा में अभिषेक मुख्य माना गया है। पचकल्याणक महोत्सव में भी जन्म के समय के अभिषेक का माहात्म्य सर्वोत्कृष्ट माना गया है। अभिषेक के बाद

चन्दन पूजा ही होती है। इसका भी कारण यह है कि भगवान् के चरणों पर चन्दन लगाये विना शास्त्रकारों ने दर्शन करने का भी निषेध किया है। इसलिये प्रात काल में अभिषेक कर चन्दन से पूजा अवश्य करनी चाहिये।

अर्हतो दक्षिणेभागे दीपस्य च निवेशनम्।
ध्यान च दक्षिणे भागे चैत्यानां वंदनं ततः ॥१२७॥

भगवान् जिनेन्द्रदेव के दाईं ओर दीपक रखना चाहिये, दाईं ओर ही भगवान् का ध्यान करना चाहिये और चैत्यों की वदना भी दाईं ओर बैठकर ही करनी चाहिये।

गंधधूपाक्षतस्रग्भिः प्रदीपफलवारिभिः।
प्रातःकाले प्युपचितिर्विधेया श्री जिनेशिनः ॥१२८॥

प्रातःकाल के समय जल चन्दन अक्षत पुष्प नैवेद्य दीप धूप तथा फल इन आठ द्रव्यों से भगवान् की पूजा करनी चाहिये।

भगवान् के चरणों में चढ़ाने के लिये पुष्प किस प्रकार होना चाहिये।

नैवं पुष्पं द्विधा कुर्यात् न छिंद्यात्कलिकामपि।
चम्पकोत्पलभेदेन यति हत्या समं फलम् ॥१३०॥

पुष्प के दो टुकड़े कभी नहीं करना चाहिये तथा कलि को नहीं तोड़ना चाहिये, कलि के दो टुकड़े भी नहीं करना चाहिये। चपा-

कमल आदि की कलि के दो टुकड़े करने से यति हत्या के समान दोष लगता है। और भी इस प्रकार का फूल चढ़ाना निषेध किये हैं--

हस्तात्प्रस्खलितं छितौ निपतितं लग्नं क्वचित्पादयोः।
यन्मूर्द्धोर्ध्वगतं धृतं कुवसने नाभेरधो यद्धृतम्॥
स्पृष्टं दुष्टजनैरभिहतं यद्दूषितं कंटकैः।
त्याज्यं तत्कुसुमं वदन्ति विबुधाः भक्त्या जिनप्रीतये ॥१३१

जो पुष्प हाथ से गिर गया हो, पृथ्वी पर पडा हो, पैर से छू गया हो, मस्तक पर धारण कर लिया गया हो, अपवित्र वस्त्र में रक्खा गया हो, दुष्ट मनुष्य के द्वारा स्पर्श किया गया हो, छिन्न भिन्न किया गया हो तथा काटों से दूषित हो, तो ऐसे पुष्पों का त्याग कर देना चाहिये अर्थात् भगवान् की पूजा में नहीं चढ़ाना चाहिये ऐसा गणधर देवों ने कहा है। और भी कहा है कि—

स्पृश्य शूद्रादिजं स्पृश्यमस्पृश्यादपसारितम्।
पुष्प देयं महाभक्त्या न तु दुष्टजनैर्धृतम् ॥१३२॥

स्पृश्य शूद्र के हाथ से लाया हुआ पुष्प ग्राह्य है तथा अस्पृश्य शूद्रों के हाथ से लाया हुआ पुष्प त्याज्य है। पुष्प भगवान् के चरणों पर बड़ी भक्ति से चढ़ाना चाहिये, परन्तु दुष्टजनों के हाथ से लाया हुआ पुष्प कभी नहीं चढ़ाना चाहिये।

पचामृताभिषेक—

शुद्धतोयेक्षुसर्पिर्भिदुंग्धदध्याम्रजैः रसैः ।
सर्वौषधिभिरुच्चूर्णैर्भावात्संस्नापयेज्जिनम् ॥१३४॥

शुद्ध जल, इक्षुरस, उत्तम घृत, दूध, दही, आम आदि फलों का रस सर्वौषधि और कल्क चूर्ण आदि से भगवान् श्री जिनेन्द्र देव का अभिषेक बड़ी भक्ति व भाव पूर्वक करना चाहिये।

और भी पूजा सार समुच्चय में श्री आशाधर जी ने कहा है—

तापध्वंसिभिरर्हदागमनिभैश्चोचांबुभिः शीतलैः ।
पुंड्रेक्षुप्रभवैः रसैश्चमधुरैः संतुष्टिपुष्टिप्रदैः ॥
मोचाद्युग्धफलप्रभूत सुरसैः सुस्वादु सौरभ्यकैः ।
नित्यानन्द रसैकतृप्तमर्हद्देवंतरां स्नापये ॥
स्नानैर्विलेपनविभूषण पुष्पवास,
धूपप्रदीपफलतंदुलपत्रपूगैः ।
नैवेद्यवारिवसनैश्चमरातपत्र,
वादित्रगीतनटस्वास्तिककोपवृद्ध्या ॥१३६॥
इत्येकविंशतिविधाजिनराजपूजा ।
यद्यत्प्रियं तदिह भाववशेन योज्यम् ॥
द्रव्याणि वर्षाणि तथाहि कालाः ।
भावाः सदा नैव समा भवन्ति ॥१३७॥

भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा इक्कीस प्रकार से की जाती है। आगे उन्हीं को कहते हैं। (१) पंचामृताभिषेक करना, (२) चरणों पर चन्दन लगाना, (३) जिनालय को सुशोभित करना, (४) भगवान् के चरणों पर पुष्प चढ़ाना, (५) वास पूजा करना, (६) धूप से पूजा करना, (७) दीप से पूजा करना, (८) अक्षत से पूजा करना, (९) ताबूल पत्र से पूजा करना, (१०) सुपारियों से पूजा करना, (११) नैवेद्य से पूजा करना, (१२) जल से पूजा करना, (१३) फलों से पूजा करना, (१४) शास्त्र पूजा में वस्त्र से पूजा करना, (१५) चमर ढुलाना, (१६) छत्र फिराना, (१७) बाजा बजाना, (१८) भगवान् की स्तुतिको गाकर कहना, (१९) भगवान् के सामने नृत्य करना, (२०) साथिया करना, (२१) और भंडार में द्रव्य देना, इस प्रकार इक्कीस प्रकार से श्री जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करनी चाहिये। अथवा जिस को जो पसन्द हो उसी से भावपूर्वक भगवान् की पूजा करनी चाहिये। जैसे किसी को सितार बजाना पसन्द है तो उसे भगवान् के सामने सितार बजाना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये सब के सदा समान नहीं रहता इसलिये अपनी अपनी योग्यतानुसार सदा भगवान् की पूजा करते रहना चाहिये। बिना पूजा के अपना अमूल्य समय नहीं गवाना चाहिये।

खंडिते गलिते छिन्ने मलिने चैव वाससि।
दानपूजा जपो होमः स्वाध्यायो विफलं भवेत् ॥१३८॥

खण्डित वस्त्र, गला हुआ वस्त्र, फटा हुआ वस्त्र और मैला हुआ वस्त्र पहन कर दान पूजा स्वाध्याय आदि नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से दान पूजा व्रत आदि निष्फल हो जाते है।

कुछ लोग कहते हैं कि सचित्त वस्तु से पूजा नहीं करनी चाहिये क्योंकि इससे हिंसा होती है। कहा भी है कि—

माल्यगंधप्रधूपाद्यैः सचित्तैः कोऽर्चयेज्जिनम्।
सावद्य संभवंवक्तिपः स एवं प्रबोध्यते ॥१४०॥

इस के उत्तर मे आचार्य कहते हैं कि —

जिनार्चानेकजन्मोत्थं किल्विषं हन्ति यत्कृतम्।
सा किंचिद्यजनाचारभवंसावद्यसंगिनाम् ॥१४१॥

कुछ लोग कहते हैं कि पुष्प माला, धूप, दीप, जल, फल आदि सचित्त पदार्थों से भगवान् की पूजा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सचित्त वस्तु से पूजा करने पर सावद्य से जन्य पाप उत्पन्न होता है।

आचार्य इसका समाधान करते हैं कि भगवान् की पूजा करने से अनेकों जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं फिर क्या उस पूजा में उसी पूजा से होनेवाले आरम्भ जनित सचित्त या अचित्त पाप नष्ट नहीं होंगे? अवश्य होंगे। इसका भी कारण यह है कि:—

प्रर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमाः ।
तत्राल्पशक्तितेजस्सु का कथा मशकादिषु ॥१४३॥
भक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमंगिनाम् ॥
जीवनाय मरीचादिसदौषधिविमिश्रितम् ॥१४३॥

जिस वायु से पर्वत के समान बड़े बड़े हाथी उड़ जाते हैं, उस वायु के सामने अत्यन्त अल्प शक्ति को धारण करने वाले डांस मच्छर क्या टिक सकते हैं ? कभी नहीं। उसी प्रकार जिस पूजा से जन्म जन्मान्तर के समस्त पाप नष्ट हो जावे हैं उसी पूजा से क्या उसी पूजा के विधि विधान में होने वाली बहुत ही थोड़ी हिंसा नष्ट नहीं हो सकती ? अवश्य हो सकती है । इसमे किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। विप भक्षण करने से प्राणियों के प्राण नष्ट हो जाते हैं,परन्तु वही विप यदि सोंठ, मिरच व पीपल आदि औषधियों के साथ मिलाकर दिया जाय तो उसी से अनेक रोग नष्ट होकर जीवन अवस्था प्राप्त होती है । इसी प्रकार सावद्य कर्म यदि विपय-सेवन के लिये किए जायँ तो वे पाप के कारण हैं ही, परन्तु भगवान् की पूजा के लिए बहुत ही थोडे सावद्य कर्म पाप के कारण नहीं होते, पुण्य के ही कारण होते हैं। मन्दिर बनवाना, पूजा करना, पचकल्याणक प्रतिष्ठा कराना, रथोत्सव कराना आदि जितने पुण्य के कारण हैं, उन सब में थोड़ा बहुत सावद्य अवश्य होता है। परन्तु वह सावद्य दोष पुण्य

का ही कारण होता है। इसी प्रकार सचित्त द्रव्य से होने वाली पूजा में होने वाला सावद्य दोप पुण्य का ही कारण होता है।

भगवान् की पूजा केवल पुण्य उपार्जन करने के लिये, आत्मा का कल्याण करने के लिये और परम्परा मोक्ष प्राप्त करने के लिये की जाती है। विपय कपायों के सेवन करने के लिये नहीं की जाती इसीलिये उस मे होने वाला सावद्य कर्म पाप का कारण कभी नहीं हो सकता, पुण्य का ही कारण होता है। और भी कहा है कि:—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्य लेशो वहुपुण्यराशौ।
दोपायनालं कणिकाविपस्य न दूपिका शीतशिवाम्बुराशौ॥

स्वयंभु स्तोत्र श्लोक संख्या ५६

यह प्रश्न हो सकता है कि जिनेन्द्र देवाधिदेव की पूजा करने में भी जल, चदन, अक्षत, पुष्प आदि के सग्रह करने अथवा मन्दिर निर्माण करने मे पाप लगता ही है इस लिये पाप वध का कार्य नहीं करना चाहिये इस पर आचार्य कहते हैं कि यद्यपि इस कार्य में कुछ पाप अवश्य लगता है परन्तु जिन पूजादि से जो महान् पुण्य वध होता है उस में इतना सा पाप वध उसी तरह कार्यकारी नहीं होती है जैसे अगाध अमृत के समुद्र में एक विष की कणिका कार्यकारी नहीं होती।

पूजा का चार अग है पूज्य पूजक पूजा और पूजा का फल।

भगवान् जिनेन्द्र देव पूज्य हैं। पुण्य को बढाने वाली भगवान् की पूजा कहलाती है। अभिषेक आह्वान स्थापना सन्निधिकरण पूजा और विसर्जन इन छह प्रकार से भगवान् की पूजा की जाती है। अपने आत्मा का अभ्युदय प्राप्त होना अर्थात् स्वर्ग के इन्द्र अहमिंद्र की संपदा प्राप्त होना और अंत में मोक्ष की प्राप्ति होना पूजा का फल है। जो भव्य जीव है वही पूजक गिना जाता है।

इसलिये भव्य जीव को इस लोक और परलोक के सुख की इच्छा करने वाले को भगवान् की पूजा नियम से करनी चाहिये।

कहा भी है कि:—

हृदयं तदहं मन्ये यद्विवेकश्रुतान्वितम्।
तत्परं जिनधर्मे च परं पापप्रदं भवेत् ॥
संसारसागरे घोरे दुःसहे विषमे घने।
धर्मनावं समारुह्य गच्छत परमांगतिम् ॥

जो भव्य जीव अपने शुद्ध हृदय से विवेक पूर्वक शास्त्र के अनुसार जैनधर्म में तत्पर होकर अपने और दूसरों के पापों के नष्ट करने के लिये भक्ति पूर्वक जिनेन्द्र भगवान की आराधना या उनके मार्ग के अनुकूल आचरण करता है वह संसार सागर रूपी महा घनघोर दुःसह समुद्र में [illegible] [illegible] अपने [illegible] के

धर्म रूपी नाव मे आरूढ करके उत्कृष्ट मोक्ष गति को प्राप्त करता है। इसमे किसी प्रकार का सदेह नहीं है।

परन्तु जो मनुष्य संपत्ति प्राप्त कर के भी अपनी शक्ति के अनुसार न दान देता है, न पूजा करता है, न मदिर बनवाता है उनके लिये कहते हैं कि–

अर्थं प्राप्य न शक्यते च वत यैः कर्तुं जिनेंद्रालयम्।
दानं चापि समर्थं देहमपि ये लब्ध्वा तपो न क्षमा॥
दारिद्र्योपहता नरा जिनगृहं चाप्तं च मुंचंति ये।
अत्रामुत्र च दुःखदुर्गतिरहो निंदां च तेषां भवेत्॥

जो मनुष्य सपत्ति प्राप्त होने पर भी शक्ति के माफिक न जिन मदिर बनवाता है अथवा उत्तम निरोग शरीर प्राप्त कर न तप करता है, न व्रत नियम धारण करता है, न क्षमा रखता है, न मदिर जाता है. न शास्त्र स्वाध्याय, न देव शास्त्र गुरु के ऊपर श्रद्धान है। जिसने इन सभी को त्याग दिया है, वह मनुष्य दरिद्र से आहत होकर इसलोक में निंदित होकर आगे परलोक में दुर्गति के दु ख हमेशा उठाता है।

इसके बारे में आचार्य ने कहा भी है कि—

जिस घर मे मदिर नहीं है और पूजा नहीं होती है, वह घर चिड़िया के घोसले के समान समझना चाहिये।

इस लिये भव्य जीवों को इस उत्तम मनुष्य पर्याय को पाकर इस पर्यायको सार्थक कर भगवान् की पूजा, जीर्णोद्धार या जिन मंदिर का निर्माण करने मे आलस्य नहीं करना चाहिये । जैसे कहा भी है ।

एवं सम्यग्विचार्यात्र द्रव्यपात्रादि शुद्धभाक् ।
स्वः शुद्धोऽन्यानि संशोध्य सम्यक्कृत्वा विशोधयेत् ॥ १५५॥

शुद्धि युक्तो जिनान् भावान् पूजयेद्यः समाहितः ।
ईप्सितार्थस्य संसिद्धि लभते सोपि मानवः ॥१५६॥

इस प्रकार भगवान् की आज्ञानुनार द्रव्य क्षेत्र पात्र आदि की शुद्धि का पूर्ण विचार रखना चाहिये । द्रव्य क्षेत्र काल भाव पात्र आदि को शुद्ध कर अपने शरीर व भावों को शुद्ध करना चाहिये । तदनन्तर अन्य समस्त सामग्री को शुद्ध करना चाहिये । इस प्रकार बाह्य आभ्यन्तर सर्व शुद्धियों को पूर्ण कर के जो पुरुष भक्ति पूर्वक भगवान् की पूजा करता है वह मनुष्य अपने अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि को अवश्य प्राप्त होता है ।

अर्थात् जो भव्य जीव ईर्षा, मत्सर आदि दुर्भावों से रहित होकर तीनों समय भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करता है । वह जीव सौधर्मादिक स्वर्गों में उत्तम इन्द्रादिक देव होता है । जो भव्य जीव निर्मल परिणामों से एक वार भी जिनेन्द्र देव की

प्रतिमा का पूजन करता है वह जीव अपने समस्त पापों को नष्ट कर इन्द्रादिक उत्तम पद को प्राप्त होता है। इसलिये यह व्यवहार मार्ग पुण्यदायक है और निश्चय सम्यक्त्व के लिये सहायक है। भव्य जीवों को सब से पहले व्यवहार सम्यक्त्व की ठीक आराधना करनी चाहिये और इसी व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा मोक्षमार्ग को ठीक प्राप्त कर सकता है। जब व्यवहार सम्यक्त्व की नींव दृढ़ होती है तब निश्चय सम्यक्त्व में भी दृढ़ता आती है और आसानी से जीव निश्चय सम्यक्त्व की आराधन कर के कर्म की निर्जरा कर सकता है।

अब आगे के श्लोक में निश्चय रत्नत्रय का प्रतिपादन करते है :—

निश्चयदिंदमात्मने सुदर्शनमात्मने शुद्धबोधमं- ।
तश्चरितं निजात्मने मणित्रयरूपतुमात्मने वुदं ॥
निश्चलमागिनंबि निजमं तिळिदल्लियै लीनमागिचे-
तश्चिरमं नेगळ्चे शिवमें देयला अपराजितेश्वरा ! ॥७२॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! निश्चय नय से आत्मा ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रयरूप है, इस प्रकार दृढ़ विश्वास व रुचि पूर्वक निश्चल भावना से अपने निज स्वरूप को जान कर उस निजात्म स्वरूप में ही रत रहकर अधिक समय तक मन का उपयोग लगाने से मोक्ष की प्राप्ति होगी,

इस प्रकार जिनेश्वर भगवान् ने कहा है और यही सच्चे सुख का मार्ग है। इसको प्राप्त करके जीव सर्वदा सुखी रहकर अपने अन्दर ही सच्चे सुख का आस्वादन करते हुये वाह्य इन्द्रिय जनित क्षणिक सुख को भूल जाता है और यावज्जीव आत्मानुभव सुख सागर मे मग्न हो कर सांसारिक दु.खों से मुक्त हो हो जाता है।

72. O, Aprajiteshwar ! From the Nischaya point of view soul is itself right belief, knowledge and conduct, keeping it absorbed into the nature of soul for a long time is the way to realisation of liberation. This is what you have preached.

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह वतलाया है कि सांसारिक मानव प्राणियों के अन्दर ही रत्नत्रय रूपी अक्षय कोष भरा हुआ है, परन्तु संसारी जीव ज्ञान नेत्र के द्वारा ध्यान पूर्वक उसे अपने अन्दर न देख कर तथा उसको अनुभव में न लाकर वाह्य पर पदार्थ मे ही अनादि काल से रमण कर रहा है। श्री गुरु कह रहे हैं कि हे जीवात्मन् ! अत्यन्त अमूल्य सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्न तुम्हारे हृदयकोप में भरा हुआ है, पर उसे न अपनाकर तू इधर उधर क्यों भटकता फिर रहा है ? यदि तुम सावधान हो कर अपने आत्मा की ओर दृष्टिपात करोगे तो उनका अलौकिक चमत्कार देखकर आश्चर्यान्वित हो जावोगे

तथा संसार में भ्रमण कराकर दुःख देने वाले, इन्द्रिय जनित बाह्य क्षणिक सुख को सर्वथा भूलकर उसी आत्म रस में रत हो जाओगे।

इस सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नत्रय के प्रकाश की उपमा आत्म प्रकाश रूपी जहाज से दिया गया है। जिस आत्म ज्ञान के प्रकाश में अनन्त पदार्थ जैसे के तैसे झलकते हैं उसी सम्यग्ज्ञान रूपी आत्म प्रकाश मे निरन्तर रमण करना चाहिये। आत्मज्ञान भाव श्रुत ज्ञान है, वह सम्यग्दर्शन सहित है तथा केवल ज्ञान के समान पदार्थों को ठीक २ जानता है। उसमें केवल प्रत्यक्ष व परोक्ष का अन्तर है। उस आत्मदीप्ति में अनन्तानन्त पदार्थों का ज्ञान अपेक्षित है। ज्ञान में अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति है, अनन्त स्वभाव को रखनेवाला ज्ञान दीप है तथा अनन्त दर्शन व अनन्त ज्ञान स्वभाव से ही अनन्त शक्ति को रखनेवाला है। वर्तमान लोकालोक के समान अनन्त लोकालोक हों, तो भी उनके देखने व जानने की शक्ति ज्ञान दर्शन में विद्यमान है।

ज्ञान प्रकाश के स्वरूप को भले प्रकार से जानना चाहिये। वह ज्ञान प्रकाश अनन्त है। अतः उसी में रमण करना योग्य है। अनन्त प्रकाश का होना दीप्ति है। इसलिए सम्यक्चारित्र के द्वारा उसी में अनन्त काल तक रमना चाहिये। उस ज्ञान में नाना द्रव्य गुण पर्याय चित्र तथा विचित्रादि झलकते रहते हैं।

उस में रमण करना ही रत्नत्रय है। वहा पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता है और रत्नत्रय की एकता ही ज्ञान व आत्मा में रमण करना है। वह ज्ञान विना किसी की सहायता के स्वयं प्रकाशित रहता है, ऐसी उसकी दीप्ति है। वह ज्ञान प्रकाश स्वभाव से ही अनन्त ज्ञान शक्ति को धारण करने वाला है, अतएव उसी में रमण करना योग्य है। ज्ञान दीपक का प्रकाश होना स्वभाव है। उसी प्रकाश को धारण करने वाली दीप्ति में स्वय रमण करना चाहिये अर्थात् आत्मा के प्रदेश असंख्यात हैं। वे अनन्त पदार्थोंको जानने के लिये फैलते नहीं बल्कि जैसे दर्पण मे पदार्थों का स्वयं प्रवेश होता है वैसे ज्ञान दर्पण मे अनन्त पदार्थों का प्रवेश हो जाता है। अतः उसी में एकाग्र होना चाहिये।

अमृतचन्द्राचार्य ने भी आत्म मनन के लिये कितना सुन्दर प्रतिपादन किया है कि—

> अखंडितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि—
> र्महः परमस्तुनः सहजमुद्विलासं सदा ॥
> चिदुच्छलन निर्भरं सकल कालमालंबेते।
> यदेकरसमुल्लसल्लवणाखिल्यलोलायितं ॥१४॥

ज्ञानी जीव इस प्रकार की भावना करता है कि मुझे उस आत्मस्वभाव का अनुभव प्राप्त हो जिस आत्मा का ज्ञान एक

स्वभावरूप अखण्डित है, उसमें मतिज्ञान आदि के भेद नहीं हैं। जिसमें किसी प्रकार के राग-द्वेष का क्षोभ नहीं है, जो आत्मानन्द को देने वाला है, जो आत्मा के सर्वत्र स्थानों में परिपूर्ण प्रकाशमान है, जिसके समान और कोई तेज इस संसार में नहीं है, जिसके प्रकाश के लिए अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है तथा जिसमें नमक की डली में खारापन के समान सर्वत्र चेतना का सामान्य स्वाद परिपूर्ण है, उसी प्रकार स्वानुभव ही परमानन्दमयी आत्म रस का स्वाद सदा हमको प्राप्त हुआ करे।

देवसेनाचार्य ने भी अपने आराधना सारमें कहा है कि—

दंसणणाण चरित्ता णिच्छयवाएण हुंति ण हु भिण्णा।
जो खलु सुद्धो भावो तमेव रयणत्तयं जाण ॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र निश्चयनय से भिन्न नहीं हैं। जो कोई आत्मा का एक शुद्ध भाव है उसी को वास्तव में रत्नत्रय जानो।

शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव मे भी कहा है—

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम्।
पश्यत्यात्मनि परंज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥३५॥

मैं नित्य सहजानन्दमय हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्य हूँ, सनातन हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, अनुपम हूँ, अविनाशी हूँ, ऐसा ज्ञानी अपने में आपको देखता है।

अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानंदात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्यप्रतिविषद्रु मम ॥१३॥

मै अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, ःप ही हूॅ तो मैं अपने प्रतिपत्ती कर्मरुपी विष के वृत्त को आज ःखाड़ कर न डालूॅगा ? अवश्य उखाड़ डालूॅगा ।

अतींद्रियमनिर्देश्यममूर्त्त कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धिस्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥

हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही में आप ही से जान के मैं अतीन्द्रिय हूॅ, वचनों से कहने योग्य नहीं हूॅ अमूर्तिक हूॅ, ःल्पनारहित हूॅ और चिन्दानन्द हूॅ ।

चिद्रूपः केवलः शुद्धः आनन्दात्मेत्यहं स्मरे ।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेननिरूपितः॥

मैं चैतन्य स्वरूप हूॅ, असहाय हूॅ, शुद्ध हू, सहजानन्दमय हू, ेसा स्मरण कर मुक्ति के लिए सर्वज्ञ का जो उपदेश है उसे ःागे श्लोक में कह दिया है—

चिद्रूपोऽहंसमे तस्माचं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्तितिहिंतं मुक्तिर्नियासोऽयं जिनागमे ॥

मैं शुद्ध चैतन्य हूॅ, इसलिए मै उसी को देखता हूॅ, उसी से ुझे सहज सुख प्राप्त होता है । जिन आगम का भी यही निचोड़

है कि शुद्ध चिद्रूप के ध्यान से संसार का नाश व हितकारी मुक्ति प्राप्त होती है।

अहं न नारको नाम न, तिर्यग्नापि मानुषः।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः॥
साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम्।
निर्विकल्पं च, निष्कम्प्यं, नित्यमानन्दमन्दिरम्॥
विश्वरूपमविज्ञात, स्वरूपं सर्व देहिनम्।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं, निष्कलं करूणाच्युतम्॥
निःशेषभवसम्भूत, क्लेशद्रुमहुताशनम्।
शुद्धामत्यन्तनिर्लेपं, ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम्॥
विशुद्धादर्शसक्रान्त, प्रतिबिम्ब समप्रभम्।
ज्योतिर्मयं महावीर्य, परिपूर्ण पुरातनम्॥
विशुद्धाष्ट गुणोपेतं, निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम्।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं, विश्वतत्त्वव्यवस्थितम्॥
यदग्राह्यं वहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तुर्मुखैःक्षणात्।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात् स्वरूपं परमात्मनः॥

अर्थ—निश्चय नय से आत्मा का स्वरूप परमात्मा के समान है, यह ज्ञानाकार है, अमूर्तिक है, हलन चलन क्रिया रहित है, परम अविनाशी है, निर्विकल्प है, निष्कम्प्य है, नित्य है, आनन्द का

मन्दिर है तथा ज्ञानापेक्षा सर्व व्यापी है। अज्ञानी उसके स्वरूप को नहीं जान सकते हैं, सदा उदय रूप है कृत कृत्य है कल्याण रूप है शान्त है शरीर रहित है इन्द्रियों से अतीत है समस्त ससार के क्लेश रूपी वृक्षों को जलाने के लिये अग्नि के समान है शुद्ध है कर्म लेप से रहित है ज्ञान रूपी राज्य में स्थित है निर्मल दर्पण में प्राप्त प्रतिबिम्ब की तरह प्रभावान है ज्ञान ज्योतिर्मय है महा-वीर्यवान है पूर्ण है पुरातन है सम्यक्त्वादिमुख्य आठ गुण (सम्यक् ज्ञान, दर्शन वीर्य सूक्ष्मत्व अगुरु लघुत्व अव्याबाधत्व अवगा-हनत्व) सहित है, उपाधि रहित है—रोगादि रहित है, प्रमाण अगोचर है, ज्ञानियों द्वारा जानने योग्य है सर्व तत्त्वों का निश्चय करने वाला है जो बाहरी इन्द्रियादि से ग्रहण करने योग्य नहीं है अन्तरंग भावों से क्षण मात्र में, ग्रहण करने योग्य है। ऐसा स्व-भाव इस परमात्म स्वरूप आत्मा का है।

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तशब्दवर्जितम् ।
अजंजन्म भ्रमातीतं, निर्विकल्पं विचिन्तयत् ॥

अर्थ--आत्मा का स्वरूप वचनगोचर नहीं है इन्द्रियों से प्रगट नहीं है, अनन्त है शब्द है शब्द रहित है जन्म रहित है भव भ्रमण से रहित है निर्विकल्प है ऐसा विचारे।

यःस्वयमेव समादत्ते, नादत्ते यः स्वतोपरम् ।
निर्विकल्पःसविज्ञानी, स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ॥

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिसनातनः
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि, स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ॥
अतीन्द्रिय मनिर्देश्य ममूर्त कल्पनाच्युतम्
चिदानन्दमयंविद्धि, स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥

भावार्थ—ज्ञानी ऐसा ध्यांता है कि जो अपने को ही ग्रहण करता है तथा जो अपनेसे पर है उसको ग्रहण नहीं करता है ऐसा मै आत्मा हू उस में कोई विकल्प नहीं है ज्ञानमय है तथा केवल एक अकेला है और अपने से ही अनुभव गम्य है जो विशुद्ध हैं प्रसिद्ध आत्मा है परम ज्ञानमय ज्योति स्वरूप है सनातन है सो ही हूँ इस लिये इस अविनाशी आत्मा को मै अपने में ही देखता हूँ इस लिये इस अविनाशी आत्मा को आत्मा ही मे आत्मा ही के द्वारा जानें की यह अतीन्द्रिय है वचनों द्वारा कथन योग्य नहीं है अमूर्तीक है कल्पना से रहित है चिदानन्दमयी है।

निखिल भुवन तत्वोद्भासनैक प्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानंद काष्ठम् ।
परम मुनि मणीपोद्भेद पर्यंत भूतं,
पारकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा से ही इस प्रकार शुद्ध अनुभव कर कि यह आत्मा सर्व लोक के यथार्थ स्वरूप को

प्रगट करने वाला अद्वितीय प्रदीप है तथा अतिशय सहजानद की सीमा को उपाधि रहित प्राप्त हुआ है तथा परम मुनि की बुद्धि से प्रगट उत्कृष्टता पर्यंत जिसका स्वरूप है।

सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्योभवच्च्युतः
परमात्मा परं ज्योतिर्विश्वदर्शी निरंजनः ॥

तदासौ निश्चलोऽमूर्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥

इस प्रकार अपने को ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ, मै ही सर्वज्ञ हूँ, मैं सर्व व्यापक हूँ, मै सिद्ध हूँ, मैं ही साध्य हूँ, ससार से रहित हूँ, श्रेष्ठ आत्मा हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, विश्वदर्शी हूँ, निरजन हूँ, तब अपना स्वरूप ऐसा झलकता है कि यह अमूर्तिक है, निष्कलक है, जगत् मे श्रेष्ठ है, चैतन्य मात्र है व अतिशय करके ध्यान ध्याता के विकल्प से रहित है।

श्री ज्ञानभूपण भट्टारक तत्त्वज्ञान तरगिणी में फरमाते हैं-

न देहोहं न कर्माणि न मनुष्यो न द्विजोऽद्विजः।
नैव स्थूलो कृशोनाहं किन्तु चिद्रूप लक्षणः ॥
नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकं विना,
तस्मादन्यत्र मे चिंता, वृथा तत्र लयं भजे ॥

न मैं देह हूँ, न अष्ट कर्म हूँ, न मनुष्य हूँ, न मोटा हूँ, न दुवला हूँ, किन्तु मैं तो एक चैतन्य स्वरूप लक्षण धारी हूँ। इस जगत् में शुद्ध चैतन्य के सिवाय न तो मैं कुछ हूं और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है। इसलिये शुद्ध चैतन्य रूप को छोड़ कर और कुछ चिंता करना वृथा है, इसलिए मैं उसी में लीन होता हूँ।

भावार्थ के लिये और भी कहा है—

तथाहि चेतनोऽसंख्य प्रदेशोमूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शन लक्षणः॥
नान्योस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं नमे परः।
अन्यस्त्यन्योऽहमे वाह, मन्योन्यस्याहमे वम॥
अन्यच्छरीरमन्योऽहं, चिदहं तदचेतनं।
अनेकमतदेकोऽहं, क्षयीदमहमक्षयः॥
अचेतनं भवेनाहं, नाहमप्यस्त्यचेतनं।
ज्ञानात्माहं नमे कश्चिन्नाहमन्यस्यकस्यचित्॥
योऽत्रस्वस्वामि संवंधो, ममाभूद्वपुपासह।
यश्चैकत्वभ्रमस्सोऽपि, परस्मान्न स्वरूपतः॥
जीवादि द्रव्य याथात्म्य, ज्ञानात्माकमिहात्मना।
पश्यन्नात्मन्यथात्मान मुदासीनोऽस्मिवस्तुपु॥
सद्द्रव्यस्मिचिदहं ज्ञाताद्रष्टासदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः प्रथग्गगनवदमूर्तः॥

सन्नेवाहं सदाप्यस्मि, स्वरूपादि चतुष्टयात् ।
असन्ने वास्मि चात्यंतं, पररूपाद्यपेक्षया ॥
यन्न चेतयते किंचिन्ना चेतयत किंचन ।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहं ॥
यदचेतत्तथा पूर्वं चेतयिष्यति यदन्यथा ।
चेतनोयं यदत्राद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहं ॥
स्वयमिष्टं न च द्विष्टं, किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत् ।
नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा, किन्तुस्वयमुपेक्षिता ॥
मत्तः कायादयो भिन्ना, स्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः ।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाप्ये तेन किंचन ॥
एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्न मन्यतः ।
विधाय तन्मय भावं न किंचिदपि चितये ॥

भावार्थ—यह आत्मा असख्यात प्रदेशी, अमूर्तीक चैतन्य स्वरूप शुद्ध सिद्ध समान है जिसका लक्षण दर्शन और ज्ञान है, ऐसा जो मै सो मैं अपनी आत्मा सिवाय अन्य नहीं हूं, न दूसरा कोई मेरा रूप है, न मै दूसरे का हूं, न दूसरा कोई मेरा है, जो मैं अन्य है सो अन्य है, जो मैं हूॅ सो मै ही हूॅ, अन्य अन्य का है, अपना ही हूॅ, शरीर मुझ से भिन्न है,मैं उससे भिन्न हूॅ, [मैं चेतन हूॅ, शरीर अचेतन है, मे एक अखड हूॅ, शरीर परमाणुओं का समुदाय रूप अनेक है, मैं अविनाशी हूँ, यह देह नाशवंत है, मैं

कभी अचेतन नहीं होता हूं, न अचेतन मुझ रूप होता है, मै ज्ञान स्वरूप हूँ, मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है, न मै दूसरे किसी का हूँ। जो कोई मेरे शरीर के साथ स्वामीपना मानने का सम्बन्ध व जो उसके साथ एकता का भ्रम था सो यह तो मिथ्यात्व कर्म के निमित्त से था अपने स्वभाव से नहीं था। मैं अपने ही द्वारा अपने मे जीवादि द्रव्यो के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले आत्मा का अनुभव करता हुआ समस्त पदार्थों में उदासीन हूँ, मैं सत् द्रव्य हूँ, चैतन्यमई हूँ, मैं ज्ञाता द्रष्टा हूँ, सदा ही उदासीन हूं, मै अपने शरीर के प्रमाण आकार रखते हुए भी शरीर से आकाश के समान भिन्न अमूर्तिक हूं. मैं अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अनन्त ही असत् हूँ, जो कोई कुछ भी नहीं समझता है व जिसने कुछ भी नही समझा या जो कोई नहीं समझेगा वह शरीरादि जड़ है किन्तु मैं नहीं हूँ जिसने पहले समझा था जो अब समझता है वह जो आगे भी समझेगा वह चैतन्य द्रव्य मै ही हूं। यह जगत मेरे लिए न इष्ट है न अनिष्ट है किन्तु अपेक्षा के योग्य है मैं स्वयं न इसको इष्ट मानता हूँ न अनिष्ठ मानता हूँ किन्तु अपेक्षा रखता हूं यथार्थ में मुझ से शरीरादि भिन्न है मैं उनसे भिन्न हूं न मैं उनका कोई हू न वे मेरे कोई हैं। इस ऊपर लिखे प्रमाण अपनी आत्मा को भले प्रकार निश्चय करके कि यह अन्य सब से भिन्न है अपनी आत्मा से तन्मयी भाव धारण करके कुछ भी नहीं चिन्तवन करे।

इस तरह वारंवार ध्यान का अभ्यास करने से स्वसंवेदनरूप स्वात्मानुभव अवश्य झलकता है।

श्री भगवान् कुन्दकुन्द फरमाते हैं–

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाण दसण लक्खणो।
सुद्धे यत्त मुपादेय, मेवं चितेइ सव्वदा ॥ २० ॥
(द्वादशानुप्रेक्षा)

भावार्थ––मै निश्चय से एक अकेला हूं, मेरा कोई भी अन्य नहीं है, मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हू तथा शुद्ध भाव की एकता से ही अनुभव करने योग्य हू, ऐसा ज्ञानी सदा चिंतवन करता है ।

गा० परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तुलि ट्ठिदा सभावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥ १५८
—समयसार ।

भावार्थ—आत्मा निश्चय से परम पदार्थ है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, उसी के स्वभाव में जो लय होता है, वे मुनि निर्वाण प्राप्त करते हैं ।

निन्नने नंबु नविदोड़े नन्नने नविदेशुद्धदृष्टियिं ।
निन्नने नोडु नोडिदोडे नन्नने नोडिदवं सुचित्तदि ॥
निन्नोगैक्य वागदुवे नन्नोळगेकतेयादुदेंदुर ।
त्नोन्नतियिंतुटेंदोरदे नीने वुधंगपराजितेश्वरा ! ॥७३॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर! अपने आप को ही देखना, विश्वास करना, इस तरह विश्वास कर परिशुद्ध विचार रखना मुझ पर ही विश्वास किया समझो। अपने आप को ही देखो, इस तरह देखने से स्थिर मन से तू मुझको ही देखने वाला होता है। अपने आत्मा में ऐक्य हो जाओ, वही मेरे अन्दर ही ऐक्य हो गया समझना। इस तरह मनकी स्थिरतासे ध्यान करने से रत्नत्रय की उन्नति होती है ऐसे आपने ज्ञानी को समझा दिया है ॥७३॥

73. O, Aprajiteshwar! You have taught the intelligent persons that to belive in their selves is to believe in you, to see their selves is to see you and to identify with their own selves is to identify with you

विवेचन---ग्रन्थकार ने ऊपर के श्लोक में निश्चय आत्मा का मनन करना ही आत्म-तत्त्व की प्राप्ति कहा है। अन्य पर पदार्थ का मनन करना पर तत्त्व की प्राप्ति का कारण है। क्यों कि अनादि काल से यह जीवात्मा पर वस्तु को अपना मानने के कारण चारों गतियों में व्यर्थ ही पर्यटन करते हुए नाना प्रकार के सुख दु:ख भोगता हुआ शुद्ध निजात्म तत्त्व की प्राप्ति नहीं कर सका, इस का मूल कारण परभाव, पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल तथा पर भव का मनन ही है। और यह अनन्त दुःख तथा

अनन्त दीर्घ ससार का कारण है। यह जीवात्मा इसी पर भव को अपना भव मान कर अभी तक अनन्त भव का धारक बन गया है। अब हे आत्मन् ! जो तूने अभी तक पर भव के सन्मुख हो कर पर भव का ही भोग किया है इस लिये तुम्हे इतना कष्ट (दुःख) भोगना पड़ा अपने द्वारा अज्ञान से किये हुए शुभाशुभ भावों का फल अपने को ही भोगना पड़ता है अन्य कोई स्त्री पुत्र भाई बहिन तथा अन्य कोई रिश्तेदार अपने किये हुये पाप के फल में हाथ नहीं बटा सकता, केवल अपने को ही किये हुये पाप कर्म का फल का अनुभव करना पड़ता है, अन्य किसी को नहीं।

तूने परभव के सन्मुख होने के कारण उसके निमित्त से शुभाशुभ कर्मों को स्वय करके उसके फल को आप ही भोग किया, किन्तु यदि तू उस पर भावों से मुख मोड़ अपने अखंड अविनाशी आत्मानन्द खजाने के सन्मुख होकर (अर्थात् आत्म तत्त्व स्वभाव की तरफ मुख कर के) अपने आत्म स्वभाव को देख कर आप ही उस की पहिचान कर अपने आप को भावेंगे, देखेंगे, उसी में रत रहेंगे तो अपने आत्म स्वभाव को (स्वरूप को) स्वय प्राप्त करेंगे भावना में या मनन में आप ही आप आप को देखेंगे। आप को आप ही मनन करेंगे आप की रुचि आप के अन्दर ही मिलेगी। जितना भी स्वाद है वह आप ही में है, आप को आप ही चाटेंगे उस के स्वाद का अनुभव आप ही करेंगे, अन्य किसी को भी नहीं आवेगा उस का भोगता तू ही होगा,

और तुम्हारे सदा के ससार रूपी दु ख द्वन्द मिट जावेंगे। तत्पश्चात् तू अनन्त सुख रूपी आत्मकोप अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नों का स्वामी हो जायगा। इन्द्रिय जनित पर वस्तु का सम्बन्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जायगी, क्यों कि तुम्हारी दरिद्रता दूर हो कर तुम तीन लोक के अधिपति बन जाओगे। तदनन्तर परम शान्ति मुक्ति रमणी के साथ रमण करते हुये आत्मिक सुख-शान्ति रस में मग्न हो कर तू अक्षय सुखानन्द का अनुभव करता हुआ क्षणिक इन्द्रिय जनित विषय सुख को बिलकुल भूलकर आत्म स्वभाव में स्थिर हो जाओगे।

हे आत्मन! तू अपने स्वभाव से सिद्ध परमात्म स्वरूप है। परन्तु तुम्हारे साथ लगे हुए कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने के लिये तुम्हें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र निधि प्राप्त करके आत्म ज्ञानी बन जाना चाहिये। निश्चय मोक्ष मार्ग एक आत्मानुभव रूप ही है। क्योंकि आत्मानुभव का उदय होना ही मिथ्यात्व रूपी अंधेरी रात्रि के घोर अंधकार को हटाकर चन्द्रमा व तारागण के समान प्रकाशमान करना है।

अविरत सम्यग्दृष्टी चौथे गुण स्थान से पाँचवे, पुन. सातवें इस प्रकार धर्म ध्यान की वृद्धि करता हुआ धीरे धीरे उन्नति करता है, तब चन्द्रमा के समान आत्मानुभव बढ़ जाता है। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने से शुक्ल ध्यान पूर्ण चन्द्रमा के समान

प्रगट हो जाता है। जब मोहनीय कर्म का नाश करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश करता है तब श्रीअरहन्त परमात्मा के अन्दर सूर्य के समान प्रतापशाली स्वात्मानुभव का प्रकाश हो जाता है। श्री अरहन्त परमात्मा परम वीतराग व समता भाव में लीन रह कर सिद्ध सुख का साक्षात् आनन्द प्राप्त करते हैं तथा जब जली हुई रस्सी के समान चारों अघातिया कर्मों से छूट जाते हैं तब वे ही सिद्ध बन जाते हैं।

आत्मज्ञान सहित सम्यग्दर्शन का होना ही समता की सुगन्धि फैलाना है और सुगन्धि के पश्चात् मिथ्यादर्शन की वासना स्वतः नष्ट हो जाती है और विषयों के सुखों का भोग खारा पानी पीने के समान प्रतीत होने लगता है। क्योंकि विषयो से तृष्णा की दाह कदापि नहीं मिटती और आत्मानुभव के द्वारा आत्मिक आनन्द के लाभ से वह प्यास मिट जाती है।

अमृतमई जल का पान होता है आत्मानुभवी जीव को मन वचन, काय की क्रियाओं से समता भाव की ही सुगन्ध आती है। जो सुगन्ध चन्दन वन की आती है वह भी उस चन्दन वन की जो मलयागिरि पर हो। वास्तव मे अरहन्त आत्मा के अतरग गुणों को व यथार्थ स्वरूपको पहचानना चाहिये-यह स्वभाव पदार्थ में तभी जाना जाता है जब जानने वाला स्वानुभव करता है।

इससे कहा जाता है कि परमात्मा का स्वभाव आगम से

अगम्य है मन इन्द्रियों का विषय नहीं है । हल्दी और चूने के मिलाने से जैसे लाल रंग हो जाता है वैसे आत्मा और मोहनीय कर्म के उदय से रागादि विभाव हो जाता है । यह स्थूल उपाय है । इस से दिखाया गया है कि रागभाव न केवल आत्मा का स्वभाव है और न केवल एक पुद्गल का ही स्वभाव है । संयोगात्मक विभाव भाव इसी तरह का है । स्फटिक पाषाण का रंग लाल हरा पीला आदि संयोग मिलने पर होता है । वीतरागमई आत्मानुभव के अभ्यास से राग भाव का मूल मोहनीय कर्म की शक्ति हीन होती जाती है । नाम रूप वाक्य ग्रन्थों में भी आता है कि संसारी अवस्था सब नाम रूप में गर्भित है । रूपका प्रयोजन जड शरीर से है । नाम के भीतर सर्व अशुद्ध ज्ञानादि और रागादि गर्भित हैं । जब आत्मा स्वात्मनुभव करता है तब नाम रूप से और जीवन मरण से अपने को भिन्न मानता है । निश्चय से आत्मा मे न तो नाम रूप है और न जन्म तथा मरण है । शरीर आश्रित यह जन्म मरण है । शुद्धात्मा का अनुभव मे लाभ होना या साक्षात् लाभ होना मल रहित शुद्ध सुवर्ण के लाभ के समान है । आत्मा जब परमात्मा बनता है तब ध्रुव अविनाशी पद में सदा लीन रहता है, मोक्ष का कभी अभाव नहीं होता है, सिद्ध पद आदि सहित होते हुए भी अनन्त है । यह भी बताया है कि केवलज्ञान का कारण श्रुत ज्ञान है श्रुत ज्ञान मे द्रव्यश्रुत के उन शब्दों का अवलम्बन होता है जिनसे आत्मा के

द्रव्य गुण और पर्यायों का बोध हो श्रुतकेवली शब्दोंका अवलम्बन दूसरे शुक्ल ध्यान तक में है। परमात्मा वाचक शब्द बड़े उपकारी होते हैं। आत्म रमणता निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र में है। यह स्वात्मरमण रूप चारित्र ध्यान की अग्नि है जिससे कर्मों का नाश होता है। इसलिए ऊपर की गाथा का तात्पर्य यह है कि जो सिद्धपद का आनन्द उठाना चाहे उन्हें श्री जिनवाणी के सहयोग से तत्त्वज्ञान प्राप्त कर आत्मा का मनन करके आत्मानुभव प्राप्त करने की शक्ति पैदा कर लेनी चाहिये। क्योंकि यही मोक्ष पद प्राप्त करने का प्रयत्न है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि—

केवलणाण सहावो केवलदंसण सहाव सुह भई ओ।
केवलसत्ति सहाओ सोई इदि चितए णाणी ॥ ९६ ॥

णियभावंण विमुंचइ परभावं णेव गिरहदे कोई।
जाणादि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चित्तए णाणी ॥ ९७ ॥

पयडिठिदि अणुभागप्प देवसवंधे हिं वज्जिदो अप्पा।
सोहं हदि चिंतिज्जो तत्थेव यकुणादि थिरभावं ॥ ९८ ॥

ज्ञानी जीव को इस प्रकार का विचार करना चाहिए कि "जो कोई केवलज्ञान स्वभाव, केवल दर्शन स्वभाव व केवल वीर्यस्वभाव का धारी है, जो कोई आनन्दमय होकर आत्मस्वभाव को नहीं

छोड़ता है, परभावों को नहीं ग्रहण करता है तथा जो सर्व जगत् को एक साथ देखता व जानता है, वही मैं हूँ।

जो आत्मा प्रकृति स्थिति अनुभाग व प्रदेश इन चार प्रकार के बन्धों से रहित है "वही मैं हूँ।" इस प्रकार का विचार करके शुद्ध स्वभाव में स्थिर रहने की भावना करनी चाहिये यही स्वात्मानुभव की प्राप्ति का उपाय है।

वरगुरु पंचकं वरतपश्चरणं गळिपुदल्लि स- ।
द्गुरु गुणशीलसंयमसुतीर्थं पवित्रते यल्लि तोर्कुमु- ।
त्तर गुणराशी मूलगुणवृंदमिर्दपुदल्लि निन्न चि- ।
त्परिणते यल्लि निट्टसोळगोंदेयला अपराजितेश्वरा ! ॥७४॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! उस आत्म स्वरूपमें श्रेष्ठ हुए पंच परमेष्ठी तथा श्रेष्ठ ऐसे तपश्चरणादि से गर्भित हैं। उस स्वरूप में श्रेष्ठ ऐसे गुरुओं के गुण, शील, सयम तथा उत्तम तीर्थ और पवित्रता इत्यादि सभी गुण दिखते हैं। उस स्वरूप में मूल गुणों के समूह उत्तर गुणों के समूह हैं। हे भव्य प्राणी! "अपने स्व स्वरूप के अदर ही देखो" ऐसे आपने कहा है ॥ ७४ ॥

74. O, Aprajiteshwar ! The nature of soul includes the five Parmestins, great penances, the great virtues of Muni, piety, selfcontro letc.

It includes root virtues (mool guna) and secondary virtues (uttar guna). O, promising ignorant soul, look in thy own self," is your teach-ing.

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस गाथा में यह समझाया है कि श्रीवीतराग जिनेन्द्र भगवानने कहा है कि हे भव्य ज्ञानी ! अपने अन्दर आत्मतत्त्व की जो पहचान है वही मेरी पहचान है। मेरे अन्दर श्रद्धा रखना असली पहचान नहीं है क्योंकि उसे आत्म तत्त्व की एकता नहीं कह सकते हैं। मेरा ध्यान करना या मेरे मे तल्लीन होना पुण्य बंध है और वह पर है अपने को आप ही मे विचार मग्न होना, ऐसा अपने अन्दर विचार करना मेरे अन्दर विचार करने के समान है। अपने अन्दर आत्मा को देखना ही मेरे को देखने के समान है अपने आत्म का अपने अदर मग्न होकर उसी में रत होना, मेरे अंदर ही रत होने के समान है अपने अंदर एकता होना मेरे अंदर ही एकता होने के समान है, मेरा आत्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रत्नत्रय रूप अखड अविनाशी है, इस तरह ध्यान के साथ अपने अदर देखना, मेरे रत्नत्रय आत्म स्वरूप का ही ध्यान समझो। इस प्रकार ध्यान के मर्म को अर्थात् आत्म पहिचान के साधन को श्री वीतराग भगवान् ने ज्ञानी को बहुत सुगम रीति से समझाया है।

ज्ञानी अतरात्मा जो अपनी शक्ति की खोज में अग्रसर हो गया है ससार के सारे कोलाहलों से, परे होकर अपनी आत्मा की मधुर ध्वनि १ भवर गान २ घु ंघुरू ३ शंख ४ ताल ५ मुरली ६ भेरी ७ मृदग ८ नफीरी ९। सिंह गर्जन सुनने के बाद ॐ शब्द से श्रवण गोचर होता है, जिससे साधक समाधि को प्राप्त होता है। उस समय जो कुछ सुन रहा है वह वचनातीत है। वह आत्म साक्षात्कार करता है, सो ही उसका हित कारक है। यह सब कार्य देख रहा है, सुन रहा है और उसके व ससार के हितकारी है सो बोलने की शक्ति रखते हुए भी कह नहीं सकता है। यही आनन्द उसका सच्चिदानन्द कहलाता है,जिसे जैनाचार्यों ने वीतराग सर्वज्ञ हितंकर शब्दों से घोषित किया है।

सिद्धि का स्वभाव ही ऐसा है कि संसार में जिस किसी की कोई भी छोटी या बड़ी इच्छा की पूर्ति हो जाती है तब वह ऐसा प्रफुल्लित हो जाता है की वह न किसी की ओर देखता है तथा न किसी से कुछ कहता है, न सुनता है और न वह इच्छा जिस की उसे प्राप्ति हुई है, कहता न पूछने पर बताता है। तब वह आत्म पूजारी जिसने सारे ससार को खोकर अपनी खोई हुई निजात्म निधि (रत्नत्रय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) को प्राप्त किया है तो वह अपने अमूल्य रत्नों को इस माया मई ससार में दिखा कर क्या करेगा ? जिसे उसने सब कुछ गवाकर पाया है इसी को आचार्य देव ने व्यक्त किया है कि वीतरागता सर्वज्ञता

हितकरता या सच्चिदानन्द (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) रूप आत्मा को प्राप्त करना एक मात्र साधन है, लक्ष्य है, इष्ट है तथा यही मानव मात्र का कर्त्तव्य है।

श्री समय सार में भी कहा है कि :—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्य पावंच।
आसवसंवरणिज्जर वंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

निश्चयसे नौ पदार्थका जानना सम्यक्त्व है। इनका निर्माण जीव अजीव द्रव्य का निमित्त है। उस में अजीव द्रव्य त्यागने योग्य है। मात्र जीव द्रव्य ही कर्मों से निराला है, जो ग्रहण करने योग्य है, सम्यक्त्व है।

वीतराग—

इससे जाना गया कि सम्यक्त्वधारी (ज्ञानी) अपना स्वामित्व अपने शुद्धआत्मस्वरूप पर रखकर अपनी शुद्ध परिणति का कर्त्ता भोक्ता है। मोह जनित भावों का कर्त्ता भोगता नहीं है। जब आत्मा अपना दृढ़ निश्चय अपने आत्म स्वभाव में रखता है तब वह सिद्ध परमात्मा के समान अपने को पर का अकर्त्ता अभोक्ता मानता है। यही कर्म रहित होने का कारण है। जो पर में ममत्न भाव का त्याग कर देता है वही वीतरागी है। उसी ने रागादिक मल का त्याग किया है और अपनेको देखा है। ऐसा ही भव्यात्मा

मोहनीय कर्म की सत्ता को मिटाने वाला होता है। सर्वज्ञ सब को जाननेवाला होना चाहिये। जो मनुष्य कृतसंग्रहालय (अजायबघर) का हाल नहीं जानता है वह तीन लोक का हाल क्या जान सकता है? कहा भी है कि --

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञे नाम मेशिना।
भवितव्यनियोगेन, नान्यथा ह्याप्तताभवेत् ॥५॥

निश्चय से अठारह दोष से रहित वीतराग सर्वज्ञ और हेय उपादेय का विश्वास कराने वाले शास्त्र का प्रतिपादक आप्त होना चाहिये क्यों कि १८ दोष रहित हुए विना सत्य आप्तता हो नहीं सकती।

क्षुत्पिपासा जरांतक, जन्मान्तक भयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

भूख प्यास बीमारी बुढ़ापा जन्म मरण भय राग द्वेष अहंकार मोह, चिंता, शोक, आश्चर्य निद्रा, अरति खेद और स्वेद इन अठारह दोषों से रहित होना सच्चे आप्तका लक्षण है। वही सर्वज्ञ हो सकता है, अन्य नहीं।

हितंकर

हित का करने वाला हो, जिस के उपदेश से आत्म-साक्षात्कार हो जावे, जिससे कि जन्म मरण के चक्कर से छूट जावे वही हितकारी हो सकता है। जिसने अपने ऐहिक सुखों को त्याग

कर तृष्णा पर विजय प्राप्त कर ली है, मन के सकल्प विकल्प का शमन कर लिया है, वही संसार का कल्याण कर सकता है।

हितोपदेश

अनात्मार्थं विनारागैः शास्ता शास्ति सतो हितं।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥

हितोपदेशी अपने प्रयोजन रहित लाभ पूजा प्रतिष्ठा विना भव्यात्माओं को स्वर्ग तथा मोक्ष और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करने का उपदेश करता है। जैसे बजाने वाले के हाथ लगाने से बजता हुआ मृदंग क्या अपेक्षा करता है ? किसी के स्तुतिवाद या पूजा से सुख हो कर बरदान या आशीर्वाद नहीं देता।

इस कारिकासे ग्रन्थकार ने वीतराग सर्वज्ञ हितंकर शब्द की व्याख्यासे देखी न कहे, सुनी न कहे, हित उपजी न कहे, बोले तो न बोल सकी है। उस सिद्धि प्राप्त आत्मा का स्वभाव स्वभाव से ही सबसे निर्मोहता का भाव रखकर सबको जानना है और अपने में मग्न होने से पर का सम्बन्ध टूट जाता है। वही भव्यात्मा मोहनीय, को त्याग सम्यक्त्व गुण का प्रकाश करता है।

अध्यात्मवादियों ने आकाश की तुलना आत्मा से की है। जिस प्रकार आकाश जीव अजीव धर्म अधर्म काल और द्रव्य को अपने मे स्थान दिये हैं पर तदनुकूल रूप परिणत नहीं होता उसी प्रकार यह आत्मा जड़ शरीर के सम्बन्धसे उत्पन्न राग

क्रोध मान माया लोभ के विकारों से कृष्ण नील कापोत पीत पद्मरूप परिणमन करता है तथा मिथ्या भावों को त्याग कर सकल्प विकल्पों से रहित हो अपने शुद्ध चैतन्यत्व को प्राप्त कर अनत दर्शन अनत ज्ञान अनंत शक्ति अनत सुख रूप भी द्रव्य गत हो जाता है।

यही अनत चतुष्टय उसका निज रूप है। जैसे दृष्टि विकार से कोई मेह बादल धूम्र आदि से आकाश को आच्छादित भले ही करदे पर यथार्थ मे क्या आकाश मैला है ? तो कहना पड़ेगा कि नहीं।

यही हाल हमारे आत्मा का है। इसी को पडित प्रवर टोडर-मलजी मोक्षमार्ग प्रकाश अध्याय १ पृष्ठ ४४ में कहते हैं कि कर्म है सो पुद्गल परमाणु रूप अनत पुद्गल द्रव्यनि कर निपजाया कार्य है सो द्रव्य कर्म है।

मोह के निमित्त मिथ्यात्व क्रोधादिक रूप जीव के परिणाम से उपजाया अशुद्ध भाव भाव कर्म है। परस्पर एक दूसरे का वन्ध है वही ससार चक्र है पर ये कर्म न्यारे और आत्मा न्यारी है, यह सम्यक्त्वीही जानता है कि कर्म रूप आत्मा नहीं, आत्मा रूप कर्म नहीं, आत्मा आत्मा रूप ही है। यही आकाशवत् निर्मल स्वभाव आत्माका सिद्धि स्वभाव है क्योंकि कर्मो का स्वभाव नष्ट होता है।

(सिद्ध भगवान् का ध्रुव स्वभाव,)

इस आत्मा का स्वभाव ध्रुव है सिद्ध है, याने इस आत्मा में सिद्ध होने योग्य सामग्री–अनत दर्शन अनंत ज्ञान अनत बल अनंत शक्ति हर समय हर गति में मोजूद रहती है। परन्तु अपने बल पौरुप को मिथ्यात्व (गृहीत व अगृहीत) अव्रत योग कपाय के वश कर्मोदय कारणों से ज्ञानावर्ण दर्शनावरण अन्तराय मोहनीय आयु नाम गोत्र वेदनीय रूप परदो से ढककर प्रमादी बन रहा है।

आत्म गुण को व्यक्त नहीं करता और अज्ञान दशा में पर परणतियों की मगनता में लवलीन रहता है। आत्म शक्ति गोचर करने का एक समय ही नहीं मिलता, न इन्द्रियों की अपूर्णता से उपयोग ही लग सकता है और न उपयोग का साधन मान ही पाता है। पर एक मानव जीवन ही ऐसा है जहाँ इसे कुछ अपनी ध्रौव्यता का भान करने का मौका आया है। बाकी दशाओं में तो आयु, काय इन्द्रियों की अपूर्णता से शक्तिहीन है।

मनुष्य गति में भी कुभोग भूमि, म्लेच्छ खड के मनुष्यों को यह भी साधन नहीं है। चाहे इन्द्रिय आदि की पूर्णता भले ही प्राप्त हो जावे। सिर्फ आर्यक्षेत्र का मनुष्य ही जब संयम धारण कर वीतराग-चरित्र धारण करेगा तभी आत्म कल्याण कर सकेगा। नारकी और तिर्यंच गति वाले संयम को क्या जानें?

देवगतिवाले संयम को जानकर भी धारण करने में असमर्थ है। इसी कारण जीवों के भावों का किंचित् वर्णन विद्वानों ने बताया है जो देखने योग्य है। वहुत से जीव ऊपर से सचेत दीखते हैं पर भीतर से जड सम अचेत हैं। श्वास लेते, खाते पीते, चलते फिरते निर्जीव से हैं। भीतर रहने वाली प्रवृत्तियों से और स्मृतियों से बेखबर हैं। अन्तर्लोक को भुलाकर वाहर के लोक में धसे हैं। अन्तर आत्मा को खोकर वाहर को देखते हैं।। अपने को न पकड़कर बाहर (जड़ पुद्गल) को पकड़ रहे है। उनकी सारी वुद्धि, शक्ति, स्फूर्ति, सृष्टि विकास से वाहर को है। अनन्त कालसे वाहर के रहकर वाहर के वन गये हैं. पर आत्मा सव में है। और जो बहिरात्मा वन गये हैं उनका लोक अनतानुवंधं मिथ्यात्व से भरा है,—अनंतानुवधी मोह में मगन है, वे सव मिथ्यागुणस्थानी हैं। इनमे दो प्रकार के जीव हैं—१. कर्मफल चेतनावाले, २. कर्मचेतनावाले।

(१) कर्मफलचेतनावाले—समस्त एकेन्द्री, समस्त वनस्पति, समस्त विकलेन्द्रिय, कीड़े मकोड़े, मच्छर मक्खी, मीन मकर, पशु पक्षी ये सव जीव कर्मफल चेतनावाले हैं। इनकी सारी दुनियां दुखमय है, इनका जीवन दुख और भय से भरा हुआ है, आख मूंदकर रह जाने वाले है। इनकी समस्त दर्शन शक्ति ज्ञान शक्ति, कल्पना शक्ति, तर्क विचार शक्ति सव खो गई है। दु.ख दूर करने के वजाय ज्ञान को ही दूर कर दिया है। कर्म

इन्द्रियों को फैलाकर निष्पुरुषार्थी बने हुए हैं। छुई मुई के समान इनकी चेतना है। जरा से दुःख आने पर तिलमिला जाते हैं। इन मिथ्या गुण स्थानों में सिर्फ मनुष्य ही ऐसा है जिसने भय के खोल को तोड़ कर बाहर निकालने का साहस किया है। दुख के बीच विचारशक्ति रखता है, पर सब नहीं। बहुत से साहस रखकर भी भयभीत, शून्य, विचारहीन बने हुये हैं। नाममात्रके मनुष्य हैं। वास्तव में वे मनुष्य रूप में पशु ही हैं और पशुवत् आचार विचार और व्यवहार करते हैं। आख मूँद कर रह जानेवाली पशुसम अचेतन कर्मफल चेतना को भोगते हैं।

(२)कर्मचेतना वाले कुछ मनुष्य इस क्षेत्र से ऊपर उठे हैं, जिन में धैर्य, साहस, वितर्क, विचार, उपाय, योजना वाले दश पराक्रमी, चतुर, और चचल है, प्रज्ञ प्रवीण हैं। पर यह सब कार्य बाहर की सिद्धि के लिये है। वे तो बाहरी कठिनायो को ही हल करते है। भीतरी वेदनाओं को जानने, समझने, सोचने, विचारने, पूरा करने की इनके पास सामग्री नहीं है। भीतरी सवाल को उठा कर जवाब चाहते हैं तो उसकी उपेक्षा कर चुप कर देते हैं। ये सब कर्म चेतनावाले हैं। ये दु ख को लिखी हुई विधि जान कर अपने दिल को सतोप दे लेते हैं। बहुत बुद्धिमान् जो मन चाही चीजों को सिद्ध करने में चतुर, कार्य कुशल हैं, नई तरकीब (उपाय) का साधन जुटावे मूढ़ों के सरताज बने रहते हैं। निर्बलों के स्वामी, धन दौलत के मालिक बने हैं। इन

की शोभा देखते ही वनती है। सुरा और सुन्दरी में मगन, कचन और कामिनी के दास। भोगों में लिप्त हैं। वेवसों के समान दु ख भुलाने का कोई साधन नहीं है। वहुत से ऐसे हैं जो दु.ख पर ध्यान तो देते हैं, शंका और अर्थ समझने की योग्यता रखते हैं, पर मोह माया मे फसे हैं। अध्ययन और अन्वेपण को तनिक सा भी निकास नहीं। वाहर से उद्यमी और अन्दरमें प्रमादी है। दु ख का अन्त चाहते हुए भी कुछ करने को तैयार नहीं, किये कराये काम की तलाश मे रहते है। ऐसे उपाय के तलाशी हैं कि वे प्रमादी दुनिया (परम्परा मार्ग) को छोडे वगैर विना सोचे समझे, विना सकल्प और विना उद्यम के दु खों से छुटकारा पा जावें और जिन विश्वास और उपायों को पास पाते है, उन पर 'वावावाक्यं प्रमाण'के अनुसार सच्चा मान रूढ़िभक्त वने हुये हैं। उन्हीं रूढ़ियों में रंग कर धर्मात्मा वन जाते हैं। साम्प्रदायिक दुनियां की वाहवाही में आनन्द मान पथवाले वन जाते हैं। यह विभिन्नता तभी तक है जव तक दु ख नहीं आता। जब दु.ख आता है तव सव एकसे ही दु.खी होकर कराहते, रोत और चिल्लाते हैं, फिर विभिन्नता काम नहीं देती, सभी पुकारते चीखते और हाय हाय करते हैं और अपनी वेवसी का सवूत देते हैं। ये सव वाहरी उपाय वाले, वाहरी सवूत वाले मिथ्या मार्गी और मिथ्या गुण स्थान वाले हैं।

(स) ज्ञान चेतना वाले-वे जीव जो वाहरी दुनिया में रहते,

कामकाज करते, बाहरी अधाधुन्धी से भयभीत हैं, रूढ़ियों में अपना साधन न देख कर सारी दुनियाँ को भूल भुलैया समझते हैं और ससार की मान्यताएँ-बालक्रीडा, रूढ़ी चाल, अधकार के सिवाय कुछ नहीं है, ऐसा मानते हैं। ये रूढियां सिवाय बंधन के कुछ नहीं। इस दुनिया में रहने को तैयार नहीं। अधकार से प्रकाश, वधन से स्वतन्त्रता, बाहर से भीतर जाने को उत्सुक हैं।

इनका मन भीतर से बहुत बड़ा उत्सुक, सचेत, जागरुक, कोयल की गुञ्जार करने वाला, तारे की तरह चमकने वाला (झिलमिलाने वाला) है। सरितासा बहता है वह दो प्रकार का है (१) सासादनी (२) मिश्र गुणस्थानी।

(१) सासादनी—कुछ तो दुःख सम्बन्धों को बिना समझे ही उस पर जाना चाहते हैं, शिव शान्ति सुन्दरता को देखना चाहते हैं, वे विचारक नहीं हैं, भेद विज्ञानी नहीं है, भावना से भाव को जुदा रखने वाले नहीं भावना को भाव समझने वाले हैं, उसी में सन्तुष्ट रहने वाले तथा रमनेवाले हैं। सारा ससार भावना ही भावना है। ये काल्पनिक आनन्द लेने वाले स्वप्नवत् निरालोक को जानने वाले, पंख टूटे पक्षी की भाँति हैं। घर के निकट झांककर वापिस आ जाने वाले बड़े विकल और दु:खी हैं। वही सासादन गुण स्थान वाले है।

(२) मिश्र गुण स्थानी जो विवश (परवश) तो रहना नहीं

चाहते। पर निराधार भी रहना नहीं चाहते और कल्पना उड़ना भी नहीं चाहते, पर ये स्वाधीन होना चाहते हैं। किन्तु स्वाश्रित होकर रहना चाहते हैं। ये स्पष्ट रूप से देखना चाहते हैं कि यह दुःख शंका भय आदि क्या है ? इन का कारण उद्गम लक्ष्य, प्रयोजन क्या है ? ये बड़े जिज्ञासु, विचारक, तत्वज्ञ, दार्शनिक हैं, पर कुछ का तो आयु कर्म साथ ही नहीं देता, कुछ रोग व्याधि से घिरकर चिंता विपत्ति और उलझनों में फसकर रहते हैं, और कुछ दृढ़ सकल्पी, विचारक, स्थिर बुद्धि हैं, जो कठिनाइयों को हल करनेमें तत्पर रहते हैं। परन्तु अपनी भूल भ्रान्ति सस्कारके कारण से वह अल्पज्ञता से सत्य अंशों को असत्य अशों में मिला देते हैं। उन्हें भेद करना नहीं आता, सूक्ष्म की विधि से अनभिज्ञ हैं, ज्ञान से ज्ञेय, सत्य से असत्य, को मिलाने वाले हैं। इन का ज्ञान अधूरा है पर आत्मा चैतन्य सब में व्याप्त है, ज्ञान गुण का प्रकाश कर्म पटल से ढंका है। इससे यह परिस्थिति है। परन्तु जीव सत्ता सबमें है ध्रौव्य रूपसे अपने रत्नत्रयमय में विद्यमान है, इससे परे कुछ आत्मा अन्तरात्मा बनकर जागृति रूप मे है, जो अपने ज्ञान सूर्य को चमका कर परमात्मा बन कर मोक्ष धाम में विराजमान हुआ है, जो अपनी अनन्त-चतुष्टय (ज्ञान दर्शन बल और सुख) को ध्रौव्य से विद्यमान रहते हुये विराजमान हैं तथा जन्म जरा मरण के चक्कर को नष्ट कर अचल (ध्रुव) रूप में विराजमान हो गया है।

जो कभी न फिर ससार में आवेंगे और न शरीर धारण करेंगे। जिन्होंने सम्यक्त्व द्वारा मोहनीय को, ज्ञान द्वारा अज्ञान को, दर्शन द्वारा अदर्शन को, अवगाहना से आयु कर्म को, अ-गुरु-लघुत्व से गोत्रकर्म को और अव्याबाधत्व से वेदनीय कर्म को नाश कर दिया है। और अनन्तवीर्य द्वारा अन्तराय को सूक्ष्म तत्त्व द्वारा नाम कर्म को मिटा डाला है। जिनके पास न आठ कर्म हैं, न उनके सखा सहोदर हैं, कर्मों से सदा के लिए छुटकारा पा गये हैं वे ही सिद्ध भगवान् या सिद्ध आत्मा ध्रुव रहते हैं, अर्थात् स्वतः सिद्धस्वभाव ध्रुवपना है। परन्तु जो अपने कृत कर्मों के मर्म को समझ लेते हैं वे ही त्याग करदें और आत्मा के शुद्ध धर्म के मर्म को समझ लें तो सिद्धपना कोई कठिन कार्य नहीं रहता और न सिद्ध लोक भी दूर रहता है, जो सात राजू ऊँचा है। सम्यक्त्व प्राप्त मानव आत्मा क्षण भर में सात राजू उलघ सकता है।

इसी से कहा भी है कि—

आगम हती गुरु गम बिना, गुरु गम देइ लखाय।
लक्ष कोस की गैल है, पल में पहुँचे जाय॥

नहीं तो एक मनुष्य भव का किया हुआ पाप अनत सागर भ्रमण कराने में समर्थ हो जाता है।

अब आगे के श्लोक में यह बताते हैं कि ज्ञानी जीव आप अपने अदर देखेगा तो मोक्ष दूर नहीं है। इस बात को बतायेंगे।

अरिवरिविगंडपुंमरि वातनुमतदे काण्केगं।
गुरियुमडंगि काण्वनुमदे शरणं शरणार्थि सावुंदुं ॥
एरकवेरंगुवातनेरकक्धि दैवमुमात्म तत्त्ववे।
पोरगरसल्केवेड निजवेंदेयला अपराजितेश्वरा ! ॥७५॥

अर्थः—हे अपराजितेश्वर ! ज्ञान ही ज्ञान का विषय होता है ऐसे जानने वाले तथा वह ज्ञान ही दर्शन तथा दर्शन का लक्ष्य है, लक्ष्य पूर्वक देखनेवाले अलग न होकर दर्शन ही रक्षक है। रक्षण की इच्छा करने वाले ऐक्य को प्राप्त होते हैं, ऐक्य को प्राप्त होनेवाले को ऐक्य अधिदेवता ही आत्मतत्त्व हैं. और अन्य कोई नहीं है। अपने निजरूप को बाहर मत ढूंढो अपने अंदर ही है ऐसा आपने कहा है ॥७५॥

75. O, Aparajiteshwar ! The object of knowledge is knowledge itself Darshan is not different from knowledge. (It is only a process in the knowing) He who wants safty (from worldly troubles) should identify with his own self. None else is one's own than one's own self. "Do not seek your own self outside. It is within you," is what you have said.

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि ज्ञान का ज्ञान ही विषय होता है, इसी तरह जानना चाहिये तथा वह ज्ञान दर्शन ही दर्शन का लक्ष्य है और ठीक लक्ष्य देकर देखने वाला अन्य कोई न होकर दर्शन रक्षक है। अपनी रक्षा की इच्छा करनेवाले आप ही रक्षक हैं अन्य कोई रक्षक नहीं है। अपने अंदर रत होकर आप ही अपना रक्षण कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं। अपने अन्दर स्वयं ऐक्य होना ही अधिदेवता है। अधिदेवत्व को प्राप्त होने का नाम ही अपने आत्म तत्त्व में ऐक्य होना है। यही अपना निजतत्व है। इसके अलावा अन्य कोई तत्त्व नहीं है, बस इस अधिदेवता का नाम आत्म तत्त्व है। यह आत्मतत्त्व अपने भीतर ही है अन्य स्थान मे खोजने की जरूरत नहीं है। इस लिये हे जीवात्मन्! इस अमूल्य महा रत्न की खोज अपने भीतर के हृदय रूपी खान में ही करो।

सच्चे रत्न की खान अपने पास ही है परतु तू मिथ्या भ्रम में पड़ कर उसे बाहर खोज रहा है। इसलिये उस से वंचित हो रहा है। यदि तुम अपने अन्दर ही खोज करोगे तो तुरत ही मिल जायेगा। अतः तुम्हें उस सच्चे रत्नों का पता लगाने के लिये श्री गुरू का संग करना परमावश्यक है। श्री गुरू कौन हैं? उत्तर—जो स्वयं वीतरागी बनकर संसार के समस्त प्राणियों के आत्म हितकारी हों।

कहा भी है—

कोवा गुरूर्योहि हितोपदेष्टा, शिष्यस्तु को थो गुरू भक्त एव ।
को दीर्घ रोगो भव एव साधो, किमौषधं तस्य विचार एव ॥

श्री गुरु का लक्षण ऊपर बतलाया गया है। इसी प्रकार सर्व हितैषी भगवान् स्वयं वीतरागी बनकर (श्री वीतराग अरहंत देव हुए हैं) उन्होंने संपूर्ण आत्म-रत्न (आत्म ज्योति) मलीन या घात करने वाले ज्ञानावर्णी दर्शनावर्णी मोहनीय और अन्तराय कर्म रूपी मैल को ज्ञान रूपी साबुन द्वारा धोकर (स्वच्छकर) अपने अमूल्य रत्न को प्राप्तकर अनंत सुखी हो गये हैं। इसलि वे ही (परम) सच्चे गुरु कहलाते हैं। अतः उनके शरण में जाक उस वस्तु का पता लगाये बिना उसकी प्राप्ति होना अत्यन कठिन है।

क्योंकि सच्चे स्वरूप का ज्ञान हुये बिना शिखर में धन खोदने के समान सपूर्ण परिश्रम व्यर्थ जाता है। इस आत्म तत्त्व की असली खोज न करके यह संसारी जीव भ्रम में पड़कर अपने स्थान को भूलकर यत्र-तत्र खोजता है। इस विषय को दृष्टांत द्वारा समझाते हैं।

किसी एक नगर में एक साहूकार जिस समय मृत्यु के निक आ पहुँचा उस समय उसने अपने सभी पुत्रों को अपने पास बुल कर कहा कि हे पुत्रो! तुम लोग मेरे मरने के बाद भी जैस मेरी प्रतिष्ठा है वैसी की वैसी बनाये रखना इतना ही नहीं परन्

उससे भी अधिक बढ़ाना। यदि उसमें न्यूनता होगी तो तुमने मेरा यश डुबा दिया समझना। यदि मेरी कीर्ति तथा यश के अनुसार रहोगे तो मेरा नाम अजरामर रहेगा। अर्थात् मेरे कुल की कीर्ति तुमने बढ़ाई ऐसा सब समझेंगे। मेरी जितनी भी सब सम्पत्ति या स्थावर मिलकियत है वह सब तुम को अच्छी तरह से मालूम है उसमें से तुम लोग योग्य रीति से खर्च करना तथा योग्य काम में लगाते रहना। यदि दैववशात् व्यापार तथा उद्योग में नफा नुकसान होने का सम्भव हो। अगर तुम्हे रुपयों की आवश्यकता पड़ जाय तो, मेरी पुरानी रोकड़ बहियों को विचार पूर्वक ढूंढने से तुमको मेरा विशेष धन मिल जायगा। उससे तुम्हारा संकट दूर हो जायगा, इस प्रकार बात करके वह (साहूकार) मर गया।

एक समय किसी निमित्त से लड़कों के उद्योग में घाटा लगने से द्रव्य मे कमी आ गई। तब सब लड़कों ने मिल करके विचार किया कि पिताजी की पुरानी बही रक्खी है उसको ढूंढो। उसके द्वारा द्रव्य प्राप्त होगा। ऐसा विचार करके पुरानी बहियों को ढूंढने लगे। बहियों के मिलने पर पत्रों को उलट-पलट करते-करते एक बही में ऐसा लिखा हुआ मिला की चैत्र सुदी १० के दिन अपने घर के पास शिवालय के शिखर में बहुत सा धन रक्खा है जब तुमको रुपयों की जरूरत हो तब खोद कर निकाल लेना। ऐसे मार्मिक वाक्य को पढ़कर दूसरे दिन सब ने मिलकर निश्चय किया कि

शिवालय के शिखर में पिताजी का धन है तो उसको तोड़ करके उसमें से धन निकाल लेवें ऐसा विचार करके तुरन्त ही मजदूरों को लगाकर मन्दिर का (शिवालय का) शिखर गिरवाना प्रारम्भ कर दिया। यह समाचार सुनते ही सारे शहर में हाहाकार मच गया और लोग उन वणिक् पुत्रों से, कहने लगे कि अरेरे! सच-मुच कलिकाल आ गया है। जगत् में शिवजी के मन्दिर के शिखर को अभी तक किसी ने भी गिराया है ऐसी बात सुनने में नहीं आई परन्तु देखो ठीक सेठ के पीछे ये सपूत निकले कि जो इनके पिता ने खूब धन लगाकर धर्मार्थ के लिए शिवालय बनवाया था। उसको ये गिरवाने लगे। अरे! इन लड़कों ने दिवाला निकाल दिया अब शिखर में से धन निकालना चाहते है, परन्तु इन मूर्खों ने इतना भी विचार नहीं किया की शिखर में धन कहाँ से मिलेगा। अब उस मरे हुए साहूकार का इसी ग्राम में एक वृद्ध मित्र था। उसको यह समाचार मिलते ही उसने वहाँ आकर देखा और सेठ के पुत्रों से कहा कि अरे भाइयो! तुम यह क्या कर रहे हो? सेठ के पुत्रों ने उत्तर दिया कि हमारे पिता जी ने वहियों में लिखा है तदनुसार हम लोग इस मन्दिर के शिखर मे से धन निकालना चाहते हैं।

वृद्ध मित्र ने कहा अरे भोले पुत्रो! विचार तो करो कि शिखर में कहीं भी धन रक्खा जाता है—वहियों मे क्या लिखा है? वहियों को मुझे बताओ। तुम उनके आशय को ठीक समझे नहीं

ऐसा मालूम होता है। तब श्रेष्ठीपुत्रोंने तुरन्त ही वहियोंको लाकर वृद्ध मित्र के सन्मुख रख दिया। वृद्ध मित्र ने तुरन्त ही उन को अच्छी तरह से देखा तब पुत्रों से कहा कि यह बात तो सत्य है कि शिवालयके शिखर मे धन रक्खा है परन्तु तुम्हारे पिता विचक्षण पुरुष थे। इसके लिखने में कुछ भेद अवश्य है। विचार किये विना इसका मर्म समझ मे नहीं आ सकता है। यह तो विचार करो की मन्दिर को वनवाये तो वहुत वर्ष हुये हैं और धन (द्रव्य) वाद में (शिखर में) रक्खा है, तो क्या शिखर उतरवाकर उस में धन रक्खा होगा? परन्तु यह वात तो नहीं समझ में आती है कि शिखर उतरवा कर उस में धन रक्खें, और अमुक वर्ष में धन रक्खा है ऐसा भी नहीं लिखा है, परन्तु चैत्र सुदी १० को रक्खा है ऐसा लिखा है,तो अब चैत्र सुदी दसमी आने दो उस वक्त इस की ठीक-ठीक खोज हो सकेगी, तब तक रहने दो। चैत्र सुदी १० के दिन उस वृद्ध मित्र को वणिक् पुत्रों ने बुलाया तब उस समय दो पहर दिन चढ़ा हुआ था। उस वक्त सब लोग शिवालय के पास खड़े हुये थे। वृद्ध मित्र ने इधर उधर देख कर के वणिक् पुत्रों से कहा कि हे पुत्रो! क्या तुम यह बता सकते हो की इस शिवालय का शिखर कहा है? अगर कोई सब से पहले शिखर को छुयेगा तो उसे धन ज्यादा मिलेगा।

तब तीन पुत्र तो जैसे-तैसे विचार कर के शिखर को छूने के लिये मन्दिर के ऊपर चढ़ने लगे। उस वक्त चौथा पुत्र जो सब

से छोटा परन्तु बुद्धिमान् था, उस ने विचार किया कि मैं तो ऊपर चढ़ता हूँ, परन्तु जो शिखर की इस वक्त छाया दिख रही है उसी को ही शिखर के रूप में मानकर छू लेना ठीक है। ऐसा विचार करके वह शिखर की छाया के पास जाकर खड़ा हो गया।

तब यह देख कर वृद्ध मित्र ने उन तीनों के सामने दृष्टि कर के कहा कि अरे अज्ञानियो ! मिथ्या भ्रम क्यों करते हो ? नीचे उतर जाओ। तुम्हारे पिता के लिखे हुये शिखर को तो तुम्हारे छोटे भाई ने छू लिया है। तब तीनों भाइयों ने कहा कि इस छाया को शिखर कैसे कहते हो ? तब वृद्ध मित्र ने कहा की यह छाया किसकी कहलाती है। तब सब ने कहा कि शिवालय के मन्दिर की। तब फिर पूछा की उस में शिखर कहाँ है ? उस छाया की जगह को खोदो तुम को धन की प्राप्ति हो जायगी।

तुम्हारे पिता ने शिखर को गिराने को नहीं लिखा परन्तु खोदने को लिखा है, इस बात का तुम विचार क्यों नहीं करते हो ?

तब वृद्ध पिता के मित्र पर विश्वास रख कर उन पुत्रों ने उस छाया की जगह को खोद कर अपार (बहुत) धन की प्राप्ति कर ली। और उस वृद्ध मित्र की बड़ी प्रसन्नतापूर्वक स्तुति करते हुये कहने लगे कि हे दादा साहिब ! आप तो हमारे पिता के मित्र हैं सो हमारे पिता तुल्य ही हो। आप की बुद्धि के द्वारा ही

हम को धन की प्राप्ति हुई है। नहीं तो हम लोग व्यर्थ मन्दिर के शिखर को गिरा कर अनर्थ दण्ड करते। हम अज्ञानता से भ्रम में पड़कर यत्र तत्र खोद रहे थे।

इस दृष्टांत का तात्पर्य यह है कि इसी प्रकार यह जीवात्मा बाह्य वस्तु में रत हो कर सुख के मार्ग को बाह्य इन्द्रियों के दृष्टि-गोचर पदार्थों में अनादि काल से ढूंढ रहा है, लेकिन इनका श्रम व्यर्थ जा रहा है तो भी उन की तरफ से अपनी दृष्टि को नहीं हटाता है। इस लिये यह जीवात्मा अज्ञानी बन कर अज्ञान की दशा को भोग रहा है, यह कितने आश्चर्य की बात है।

अब इस भ्रम को दूर करने के लिए भगवान् अरहत देव हमारे पिता हैं वे हमको यह समझाते है कि हे भव्य प्राणी! यदि तुमको सच्चे सुख की प्राप्ति करने की इच्छा है तो हमारे कहे हुए मार्ग का अवलम्बन करो और मेरी कीर्ति को बढ़ाओ। इसी से ही (मेरी कीर्ति को बढ़ाने से ही) तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी ऐसा निश्चित समझो। अगर तुम्हें सच्चे सुख की प्राप्ति की इच्छा है तो वह सुख अपने पास में ही है, अपनी तरफ वैराग्यरूपी कुदाली द्वारा खोदो तब वह अखड रत्नत्रय रूपी आत्मनिधि प्राप्त होगी। इसलिए मेरे कहे हुए शास्त्र के अनुसार मेरे मार्ग को तुम अपनाओ। गीता में भी कहा है कि:—

वीतराग भय क्रोधा, मन्मयामामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञान तपसा, पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग भय और क्रोध से छुटे हुए तथा मेरे आश्रय में रहने वाले वहुत से पुरुष दर्शन और तप से शुद्ध होकर मेरे भाव को पहुँच गये हैं, एक तुकाराम कवि ने भी कहा है कि'—

तुझ आदे तुझ पासी, तू तरी जागा चुकलासी ।

हे आत्मन् ! तेरी चीज तेरे पास ही है, परन्तु तू जगह भूल गया है । अगर तू बाह्य सम्पूर्ण पर पदार्थों को अपने से दूर हटा कर अपने अन्दर आप ही विचार पूर्वक अन्वेषण करेगा तो तेरी वह चीज अपने अन्दर मिल जायेगी । वाहर ढूढना बन्द करेगा, तब तू हमेशा के लिये निश्चिन्त होकर अपने अन्दर आप सो जायगा, और चारों गति रूप भ्रमण को भूल जायगा केवल देखने में (दृष्टि में) अन्तर है ।

किसी मुमुक्षु ने एक साधु से जाकर पूछा कीं महाराज मुझे परमात्मा किस भाति से दिखेगा ? तथा वह कहाॅ रहता है ? सभी ज्ञानी जन तथा आप भी, बारम्बार यही कहते हैं कि जहाॅ तहाॅ सच्चिदानन्द ज्ञान दर्शन रूप आत्माराम विराजमान है, परन्तु मेरी दृष्टि से तो कहीं भी देखने में नहीं आता । इस वात को सुन कर महात्मा साधु ने कहा कि भाई ! तू कहता है, सो तेरी वात भी सत्य है । परन्तु केवल देखने २ में अन्तर है, हीरे की परीक्षा करके उसका परीक्षक जौहरी उस को वडे मुकुट तथा कण्ठी मे ही जड़ता है, परन्तु उस हीरा की कीमत नहीं जानने

वाले गंवार उस को तो एक चमकता हुआ पत्थर समझ कर अपनी अजा के गले में वाध देते है, परन्तु वह हीरा तो हीरा रूप ही रहता है, पत्थर रूप कभी नहीं होता। अगर तू जौहरी के पास रहकर रत्नों (हीरों) का परीक्षक बनेगा। तो तू खुद भी अपने पास के रत्नों का परीक्षक बन जायेगा। उससे तू महान् रत्नों का अधिपति बन कर हमेशा अनन्त सुख का भोगी बन जायगा।

अदनरिदातनेल्ल मरिदात न दोदने कंडनेल्लमं ।
सदरदे कंडनल्लिगे मनं वशमादोडे मुक्ति साध्यमा ॥
दुदुहलवेकदोंदु पोरगादोडा कल्त समस्त शास्त्रदिं ।
चदुररे निक्कु मात्मपद साधकरे अपराजितेश्वरा ! ॥७६॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! उस आत्म तत्त्व को जाना हुआ ज्ञानी सब कुछ जान लिया समझना चाहिये। अर्थात् आत्म-तत्त्व एक को ही जिन्होंने देखा है वह सुलभता से अपने अन्दर सभी देखने वाला हुआ। अपना मन उस आत्म तत्त्व के वश हो जाने से मोक्ष की सिद्धि होती है। अनेक विषयों से क्या प्रयोजन ? अगर उस आत्म स्वरूप के चिंतवन से रहित हो जाय तो पढ़ा हुआ द्वादशांग शास्त्रों से उत्तीर्ण कहलाने तथा अपने को चतुर कह लाने वाला क्या आत्मपद प्राप्त कर सकता है ? ॥७६॥

76. O, Aprajiteshwar ! whoever knows his Soul

really knows everything Liberation is attained by the absorption of the mind into the soul. Hence, why should one pay attention to many objects ? Is it not true that the knower of Dwadashanga scriptures even, who thinks himself intelligent and very learned, if is devoid of self-cotemplation, can not attain self-emancipation ?

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि जिस जीवने एक आत्म तत्त्व को जाना उसने सपूर्ण पदार्थ को जाना। अर्थात् कोई उनसे शेष नहीं रह गया ऐसा समझना चाहिये। एक मन अपने स्वाधीन होने से उनको मोक्ष भी स्वाधीन हो गया ऐसा समझना चाहिये । अन्य की क्या बात एक आत्म-स्वरूप का ही चिंतन करने से अपने जितने शास्त्र या उसके गर्भित जितनी विद्या, चतुराई, कला इत्यादि फलीभूत होते हैं उन सब में निपुणता आ जाती है, ऐसा समझना चाहिये। ऐसा ज्ञानी भव्य जीव क्या आत्म पद को प्राप्त नहीं हुआ ? अवश्य हुआ।

जिन्होंने अपने आत्मा की पहिचान नहीं की, उन्होंने कुछ नहीं जाना, क्योंकि सभी शास्त्रों का ज्ञाता महान् पडित, सम्पूर्ण विद्या, कला, तर्क, ज्योतिप, छंद, व्याकरण, निघंटु, काव्य तथा नाटक इत्यादि का पूर्ण ज्ञाता क्यों न हो जाय, परन्तु आत्म विद्या

के बिना सभी विद्यायें निष्फल हैं, ऐसा समझना चाहिये, इससे कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यदि कोई प्राणी व्रत भी करे तो वह सम्यक्त्व पूर्वक होना चाहिये। केवल व्रत या तप से बिना आत्म तत्त्व की पहिचान किये मोक्ष प्राप्ति का साधन नहीं हो सकता।

हे आत्मन्! तुझे अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य पर्याय प्राप्त हुई है। इसलिये तुम्हें वाह्य चिन्ताओं से रहित होकर आत्म सिद्धि की प्राप्ति का उपाय कर लेना ही श्रेयस्कर है।

कहा भी है कि—

त्वमेव मोग्धा मतिमांस्त्वमात्मन्,
नेष्टाप्यनेष्टा सुखदुःखयोस्त्वम्।
दाता च भोक्ता च तयोस्त्वमेव,
तच्चेष्टसे किं न यथा हिताप्तिः ॥ २ ॥

हे आत्मन्! तू ही मूढ (अज्ञानी) है और तू ही जानकार (ज्ञानी) है, सुख की इच्छा करने वाला तथा दुःख से द्वेष करने वाला भी तू ही है और सुख दुख का कर्त्ता भोक्ता भी तू ही है तो फिर तू हितकारी प्रयत्न क्यों नहीं करता है?

ऊपर के श्लोक में परिणाम हित के लिए प्रयत्न करने को कहा, परन्तु शिष्य शका करता है कि प्रयत्न तो दैवाधीन है।

इसलिए हमे परिणाम हित के लिए किस रीति से प्रयत्न करना चाहिए ? तव श्री गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! यह आत्मा ही अज्ञानी और ज्ञानी है । इसलिए जहाँ तक इसे ज्ञानावर्णीय कर्म घेरे हुए हैं वहाँ तक यह अज्ञानी है और उसे दूर करने से ज्ञानी वनता है । सुख को यह चाहता है और सव सयोगों मे दु.ख को धिकारता है परन्तु सुख दु.ख को उत्पन्न करने वाला वह खुद ही है क्योंकि सुख दु.ख की प्राप्ति कर्म वन्ध के आधार पर होती है । यह वात वताते हैं कि किए हुए कर्म भोगे विना छुट नहीं सकते । यह विचार कर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रमादी वनकर कर्म पर दृष्टि रख कर वैठ जाय । इस विचार का परिणाम यह आना चाहिए कि नए कर्म का वन्ध नहीं करना और पूर्व किए हुए कर्मों से छुटकारा हो (कर्मों की निर्जरा हो) इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए।

कितने ही लोग कहते हैं कि जैनी लोग कर्मवादी हैं परन्तु यह वात नहीं है मनुष्य प्रयत्न (पुरुषार्थ) करता है अगर उसमें सफलता प्राप्त न हो तो समझना चाहिये कि कर्म की अनुकूलता नहीं है यह जैनसिद्धान्त का मुख्य ध्येय है,परन्तु मनुष्य उसे भूलने लगे हैं और भूलने से जैनधर्म को कर्मवादी मानने लगे हैं । यदि वह केवल कर्मवादी ही हो तव तो कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । कारण यह है कि व्रतादिक अनुष्ठानों का करना भी पुरुपार्थ के लिए ही है । कर्म के वश पड़ा हुआ जीव केवल कर्म

वाद के सिद्धान्त से मुक्त नहीं हो सकता । कारण कि कर्म की प्रचुरता हो तो उसका कभी नाश नहीं हो सकता। पुरुषार्थ के बिना सर्वथा कर्म क्षय होना असंभव है । और मोक्ष को मानने वाले जैनी पुरुषार्थ से ही कर्म का क्षय मानते हैं, इस लिए वे एकात कमवादी नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिये।

कहा भी है कि—

अप्पा नइ वेयरणी अप्पा मे वक्ख सामली।
अप्पा काम दुहाधेणु, अप्पा मे नंदणं वणं ॥

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है, वही शाल्मलि वृक्ष है, वही कामधेनू गाय है और वही नन्दन वन है । सब सयोग निष्पन्न करने की शक्ति धरने वाले महान् आत्माओं के चरित्र जगद्विख्यात हैं। अर्थात् आत्मा के अन्दर सभी वस्तु की प्राप्ति है।

अब आगे बताते हैं कि सभी वस्तु बाह्य चक्षु से देख सकते हैं परन्तु ऐसे दुर्लभ आत्म वस्तु को देखना महा कठिन है। ऐसा कहते हैं।

उद्गतदृष्टियिंसकळमं पोरगीक्षिसवपुर्दात्मनं।
हृद्गतदृष्टियिंदोळगे निटिऽसवार दु जन्म जन्मदोळ् ॥
पुद्गळरूपदारु रसमं सुखिसल्बहुदात्मरूपसं— ।
चिद्गुणदा रसान्नमनुणल्करिदितपराजितेश्वरा ! ॥७७॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! वाह्य दृष्टि से वाहरी सभी वस्तु को देख सकते हैं। लेकिन आत्मा को जन्म-जन्म मे भी मनो-दृष्टि से अंतरग में देख नहीं सकते । यह तथा पुद्गल रूप लिखा, खट्टा, मिट्ठा, चपपर, नमकीन, कड़वा, इत्यादि इन छहों रसों से वस्तु से लोग सुखी होंगे, अर्थात् इस का स्वाद प्रेम से अनुभव करेंगे। परन्तु इसी तरह अनेक रसों तथा अनेक गुणों से परिपूर्ण आत्मरूपी रसायनरूपी अन्न को अनुभव करके सुखी हो जाना इस ससारी मनुष्य प्राणी को वहुत ही कठिन है ॥७७॥

77. O, Aprajiteshwar ! Every one can percieve the external object but the soul is not percievd. internally, in many lives even. Many people become pleased by the bitter, sour, sweet, puugent, saltish tastes but it is very difficult to taste the soul-dish which is too full of tastes and qualities.

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह वतलाया है कि—यह ससारी जीवात्मा वाह्य चक्षु इन्द्रियों के द्वारा वाहर के संपूर्ण पदार्थों को देख सकता है, परन्तु जन्म जन्मातर से अपने शरीर में स्थित आत्मस्वरूप को मनोदृष्टि से देख नहीं सकता। पुद्गल-मयी जड़ वस्तु को पुष्ट करने वाली रसना इन्द्रिय जन्य खट्टा,

मीठा, चरपरा, नमकीन, कड़वा, तिक्त इत्यादि छह रसों के स्वाद में मग्न होकर बार-बार उसीको ग्रहण किया। उसी के प्रति संसार में अनेक बार यातायात किया और उसी के निमित्त संसार में दीर्घ काल तक भ्रमण किया। अर्थात् जन्म मरण के आधीन होकर चारों गतियों का चक्कर लगाया। परन्तु अखड अविनाशी आत्मानन्द सुखामृत के स्वाद का अनुभव इस ससारी प्राणी को अति दुर्लभ हो गया। इसके बारे मे श्री पूज्य शुभचन्द आचार्य ने कितना सुन्दर कहा है:—

सुलभमिह समस्तं वस्तु जातं जगत्या-
मुरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम् ।
कुलबलसुभगत्वो द्दामशामादि चान्यत्-
किमुत तदिदमेकं दुर्लभं वोधि रत्नम् ॥ १३ ॥

इस जगत् में समस्त द्रव्यों का समूह मिलना सुलभ है, धरणेन्द्र, नरेन्द्र, सुरेन्द्रों द्वारा प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपना भी सुलभ है। क्योंकि ये सब कर्मों के उदय से मिलते रहते हैं। (उत्तम कुल, बल, सौभाग्य, सुन्दर स्त्री आदिक समस्त पदार्थ सुलभ हैं) किन्तु जगत् प्रसिद्ध अर्थात् तीन लोक में प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वोधिरत्न अत्यन्त दुर्लभ है।

अत्यंतदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित्कामार्थलालसा ॥ ७ ॥

यद्यपि पूर्वोक्त सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है, तथापि दैवयोग से प्राप्त हो जाय तो ससारी प्राणी प्रमाद के वशीभूत होकर अर्थात् काम और अर्थ में लुब्ध होकर सम्यग्दर्शन से च्युत हो जाता है ।

मार्गमासाद्य केचिच्च, सम्यग्रत्नत्रयात्मकम् ।
त्यजन्ति गुरुमिथ्यात्वं, विषव्यामूढचेतसः ॥८॥

कोई-कोई सम्यग्रत्नत्रय को पाकर भी तीव्र मिथ्यात्व रूप विष से व्यामूढ चित्त होते हुए सम्यग्मार्ग को छोड देते हैं। गृहीत मिथ्यात्व बड़ा वलवान् है। जो कि उत्तम मार्ग मिले तो उसको भी छुड़ा देता है ।

स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिन्नष्टैश्च नाशितः ।
कश्चित्प्रच्यवते मार्गाच्चण्डपापण्ड शासनैः ॥ ९ ॥

कोई-कोई तो सम्यग्मार्ग से आप ही नष्ट हो जाते हैं, कोई अन्य मार्ग से च्युत हुए मनुष्यों के द्वारा नष्ट किये जाते हैं और कोई कोई प्रचण्ड पाखण्डियों के उपदेश किये हुए मतों को देखकर मार्ग से च्युत हो जाते हैं ॥९॥

त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं, सर्वाभिमत सिद्धिदम् ।

अविचारित रम्येषु, पक्षेष्वज्ञः प्रवर्तते ॥ १० ॥

जो मार्ग से च्युत अज्ञानी है वह समस्त मनोवाञ्छित सिद्धि को देने वाले विवेक रूपी चिन्तामणि रत्न को छोड़ कर बिना विचार के रमणीक भासने वाले पक्षों में (मतों में) प्रवृति करने लग जाता है ॥१०॥

अविचारित रम्याणि, शासनान्यसतां जनैः ।
अधमान्यपि सेव्यन्ते, जिह्वोपस्थादि दण्डितैः ॥११॥

जो पुरुष जिह्वा तथा उपस्थादि इन्द्रियों से दण्डित हैं वे अविचार से रमणीक भासने वाले दुष्टों के चलाए हुये अधममतों को भी सेवन करते हैं। विषय कषाय क्या-क्या अनर्थ नहीं कराते हैं ॥११॥

सुप्राप्यं न पुनः पुंसां, वोधिरत्नं भवार्णवे ।
हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं, महामूल्यंमहार्णवे ॥१२ ॥

यह वोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र स्वरूप रत्नत्रय ससार रूपी समुद्र में प्राप्त होना सुगम नहीं है, किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है। पर इस को पाकर भी जो खो बैठते हैं उन को हाथ में रक्खे हुए रत्न को वड़े समुद्र में डाल देने पर जैसे फिर मिलना कठिन है, उसी प्रकार सम्यग्रत्नत्रय का पाना दुर्लभ है ॥१२॥

परवस्तु के आधीन हुआ अज्ञानी जीव इन्द्रिय जन्य सुखोंमें मग्न होकर अपने द्वारा किये हुये सुख दुःख रूपी शुभाशुभ कर्मों के जाल मे फंसकर अपने स्व-स्वरूप को विलकुल भूला हुआ है।

जैसे कि प्रवचनसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने भी कहा है:—

जेसिं विसयेसु रदि तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जई तं ण हि सब्भावं वावरो णत्थि विस पत्थं ॥६४॥

जब तक इन्द्रियां हैं, तब तक आत्मा को दुःख ही दुःख है सुख नहीं है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है—

जिन जीवों के इन्द्रियाँ जीवित अर्थात लोलुपी हैं, उन को किसी अन्य उपाधि ओं से दुःख की जरूरत नहीं है, क्यों कि उन्हें सहज मे यही महान् दुःख है। इस का कारण यह है कि इन्द्रियाँ अपने विषयों को चाहती हैं. और विषयों की चाह से आत्मा को दुःख उत्पन्न होना प्रत्यक्ष देखा जाता है। जैसे हाथी स्पर्शन इन्द्रिय के विषय से पीड़ित होकर कृत्रिम हथिनी के वश में पड़कर पकड़ा जाता है। रसना इन्द्रिय के विषय से पीड़ित होकर मछली लोहे के कांटा के मांस को चाटने के लोभ से प्राण खो देती है। भौंरा घ्राण इन्द्रिय के विषय से सताया हुआ सुगंधित पुष्प कमल में गंध के लोभ से कैद होकर दुःखी होता है। पतंग जीव नेत्र इन्द्रिय के विषय से पीड़ित हुआ दीपक में जल मरता

है, और हिरण श्रोत्र इन्द्रिय के विषय से पीड़ित होकर वीणा की आवाज के वशीभूत होकर व्याध के हाथ से पकड़ा जाता है। यदि इन्द्रियाँ दु:ख रूप न होतीं, तो विषय की इच्छा भी नहीं होती, क्योंकि शीत-ज्वर के दूर होने पर अग्नि के सेक की आवश्यकता नहीं रहती, दाह ज्वर के न रहने पर कांजी सेवन व्यर्थ होता है, जिस प्रकार नेत्र पीड़ा की निवृत्ति होने पर खपरिया के सग मिश्री आदि औषधि, कर्णशूल रोग के नाश होने पर वकरेका मूत्र आदि, व्रण (घाव) रोग के अच्छे होने पर आलेपन पट्टी आदि औषधियां निष्प्रयोजन होती हैं उसी प्रकार जो इन्द्रियाँ दु:खरूप न होवें, तो विषयों की चाह भी न होवे। परन्तु इच्छा देखी जाती है, जो कि रोग के समान है और उस की निवृत्ति के लिये विषय भोग औषधि तुल्य है। सारांश यह हुआ कि परोक्ष ज्ञानी इन्द्रियाधीन स्वभाव से ही दु:खी है।

सब से पहले पांचों इन्द्रियाँ ही वलवान हैं, क्योंकि चारों इन्द्रियों को चेतना देने वाली अर्थात् पुष्टी करनेवाली यही मुख्य मानी गई है। कैसी वलवान है? ज्ञात कराने के लिये इसे एक छोटे से दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं। किसी नगर के राजा को आम खाने की वहुत आदत पड़ी हुई थी। उस से उन को शूल नाम का रोग हो गया। परन्तु आम खाने की आदत ज्यादा वढ़ जाने से रोग भी वढ़ता ही गया, कुछ घटा नहीं। जव ज्यादा रोग वढ़ने लगा, तव उन्होंने किसी एक महान राज्य

वैद्य को बुला कर रोग का हाल वतला दिया। तव वैद्य ने रोग उत्पत्ति का कारण जान कर राजा से कहा कि —हे राजन् आपको ज्यादा आम खाने की वजह से यह रोग हो गया है, इस लिये आप आम खाना बिलकुल छोड़ दें तो यह आप का रोग ठीक हो सकता है, नहीं तो अन्य और कोई उपाय नहीं चल सकता है।

तव राजा ने बिलकुल आम खाना वन्द कर दिया और वैद्य के द्वारा दी गई औषधि पथ्य पूर्वक सेवन करने लगा। थोडे ही दिनों में राजा रोग से मुक्त हो गया। अन्त मे वैद्य ने राजा को समझा दिया कि राजन्! अगर आम कभी भी आप को देख कर मन में लालच हो जाने से उसे खायेंगे तो उसी समय शूल रोग उठेगा और तत्क्षण आप मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। इस वात को सुनकर राजा ने राज्य में जितने भी आम के वृक्ष थे उन सभी को कटवा दिया अर्थात् एक भी शेष नहीं रह सका।

थोड़े दिनों के बाद राजा शिकार खेलने के निमित्त जंगल में जा पहुँचे। उस समय गर्मी के दिन थे और उस जगल में अनेक झाड़ नज़र में आते थे। थोड़ी दूरी पर एक आम का पेड़ दिखाई दिया, तव राजा ने गर्मी की वजह से उस वृक्ष की छाया में विश्राम लेने का निश्चय किया और तुरन्त उस की छाया में जा वैठा। थोडी देर के वाद राजा की दृष्टि वृक्ष के ऊपर चली गई। उस वृक्ष में पके हुए आम काफी लगे हुए थे। राजा की दृष्टि उन आम के फलों पर पड़ते ही उसके मुँह में पानी

भर आया और मन आम के फल पर दौड़ने के कारण पहले वैद्यराज के द्वारा आम खाने की मनाई को वह बिल्कुल भूल गया और आम तोड़ कर तुरन्त खा गया। खाते ही राजा उसी वृक्ष के नीचे मृत्यु को प्राप्त हो गया। इसी प्रकार जीव इन्द्रिय लालसा में पड़कर अनादि काल से भव रोग प्राप्त हुए हैं परन्तु कदाचित् सद्गुरु वैद्य का समागम होता है तब कुछ रोग का कारण बतला कर रसना इन्द्रिय तृष्णा को छोड़ने को कहता है जब उस समय सद्गुरु वैद्य के वचन पर विश्वास रख कर छोड़ देता है तब रोग से कुछ आराम पा जाता है, परन्तु सद्गुरु अज्ञानी भविक को बारम्बार समझाते हैं कि हे संसारी प्राणी। अगर तुम इस विषय वासना को बढ़ाने वाली रसना इन्द्रिय का संसर्ग करोगे तो तुम्हें जन्म और मरण का चक्कर पुनः २ काटना पडेगा। इस प्रकार समझाकर उनसे हमेशा के लिए छुड़वा कर चले जाते हैं, परन्तु अज्ञानी प्राणी जब अपना स्वास्थ्य ठीक समझता है तब पहले के दु खों को भूल जाता है और उसी विषय वासना के आधीन होकर पुनः २ जन्म मरण के आधीन होता है। यही रसना इन्द्रिय का प्रताप है। इस विषय से अपने असली निज स्वरूप को भूल जाता है और यत्र तत्र मनमाने चारों गतियों में चक्कर काटता है।

पप्पा इट्ठे विसये फासेहि समस्सिदे सहावेण।
परिणाममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६५

इस आत्मा की शरीर अवस्था होते हुए भी हम यह नहीं देखते हैं कि सुख का कारण शरीर है। क्योंकि यह आत्मा मोह प्रवृत्तियों से मदोन्मत्त इन्द्रियों के वश में पड़कर निन्दनीय-अवस्था को धारण करता हुआ अशुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, स्वभावरूप, परिणमन करता है और उन विषयों में आप ही सुख मानता है। शरीर जड़ है, इसलिए सुख रूप कार्य का उपादान कारण अचेतन शरीर कभी नहीं हो सकता। सारांश यह है कि संसार अवस्थायें भी शरीर सुख कारण नहीं हैं, आत्मा ही सुख का कारण है। यह आत्म सुख की प्राप्ति इन्द्रिय वासनाओं में रगे जीवात्माको मिलना बहुत ही कठिन है।

एक कवि ने कितने सुन्दर शब्दों मे कहा है कि—

राम नाम में ध्यान धर, जो सॉसा मिल जाय।
तो चौरासी विच संतदास, देह न धारे काय॥
राम शब्द विच परम सुख, जो मनवा मिलि जाय।
चौरासी आवै नहीं, दुख का धका न खाय॥
जिन्ह पाया संतदास अरु, राम भजन का सुक्ख।
तिनका सब ही मिट गया, चौरासी का दुक्ख॥
बंदा को दीखे नहीं, गंदा सब संसार।
गंदा से बंदा होत है, कोइ कहे नाव ततसार॥

जिनदेव भजन की औषधी, जो अठ पहरी खाय।
संत दास रच पच रहे, तो चौरासी मिट जाय॥

राम रतन धन संत दास, चौड़े धर चा निराट।
छाने ओले मे लिये, कुछ झूठ कपट को साट॥

* रामरतन धन संतदास, ध्यान जतन कर राख।
इस धन की महिमा करत, सब संतन को साख॥

तीन लोक कूँ पूँठ दे, सोही कहेगा राम।
वही लहेगा संतदास, परम धाम विसराम॥

यदिह जगति किञ्चिद्विस्मयोत्पत्ति बीजं
भुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः।
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठं
भजत नियत चित्ताः शश्वदात्मानमेव॥

अर्थ—हे भव्य जीवो! इस जगत् में जो कुछ अधोलोक में भवन वासी देवोंका मध्यलोकमें मनुष्यों का और ऊर्ध्वलोक में देवों का सामर्थ्य विस्मय उत्पन्न करने का कारण है सो सभी सामर्थ्य निश्चय करके इस एक आत्मा ही में है। इस कारण हम उपदेश करते हैं कि निश्चलचित्त होकर तुम एक आत्मा ही को

* आत्म रत्न—तीन लोक में किसी से पूछोगे तो वह यही कहेगा कि आत्म रतन ही श्रेष्ठ है।

निरन्तर भजो । भावार्थ–आत्मा अनन्त शक्ति का धारक है, सो इसको जिस प्रकार वा जिस रीतिसे प्रगट किया जावे उसी प्रकार से यह आत्मा व्यक्त रूप होता है ।

अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं कः प्रभुर्भवेत् ।
तच्च नानाविधध्यान पद्वीमधितिष्ठति ।

अर्थ—इस आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है । उसको प्रकट करने को कोई समर्थ नहीं है । यह शक्ति नाना प्रकार ध्यानकी पदवी के आश्रय से होती है । अर्थात नाना प्रकारके ध्यान से ही आत्मा की अचिन्त्य शक्तियाँ प्रगट होती हैं ।

तदस्यकर्त्तुं जगदं हि लीनं तिरोहिताऽऽस्ते सहजैव शक्तिः ।
प्रबोधितस्तां समभिव्यनक्ति प्रसह्यविज्ञानमयः प्रदीपः ॥

अर्थ––पूर्वोक्त आत्मा का सामर्थ्य इस जगत् को अपने पदमें लीन करने का स्वभाव रूप ही है, परन्तु वह कर्मों से आच्छादित हैं, विज्ञान रूप उत्कृष्ट दीपक को प्रज्वलित करने से वह उस शक्ति को प्रगट करता है ।

भावार्थ—आत्मा की शक्तियाँ सब स्वाभाविक हैं, जो कि अनादि काल से कर्मों के द्वारा ढकी हुई हैं, ध्यानादिक करने से प्रगट होती हैं, सब नई उत्पन्न हुई दीखती हैं । सो ज्ञान रूपी दीपक के प्रकाश होने पर प्रगट होती हैं । पर वस्तु में कोई भी शक्ति नहीं होती, अन्य निमित्त से उत्पन्न होने पर जो

अन्य से हुई मानते हैं सो भ्रम है, वे पर्याय बुद्धि हैं, जब वस्तु का स्वरूप द्रव्य पर्याय स्वरूप से जाने तब भ्रम नहीं रहता।

अयं त्रिजगतीभर्त्ता विश्वज्ञोऽनन्तशक्तिमान्।
नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात्परिच्युतः ॥

अर्थ—यह आत्मा तीन जगत् का स्वामी है, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है, अनन्त शक्तिवाला है, परन्तु अनादिकाल से अपने स्वरूप से भिन्न होकर अपने आपको नहीं जानता।

भावार्थ—यह अपनी ही भूल है, अर्थात् कर्म के पक्ष से यह दूसरा अज्ञान पक्ष बताया गया है।

अनादिकालसम्भूतैः कलङ्कै कश्मलीकृतः।
स्वेच्छयार्थान्समादत्ते स्वतोऽत्यन्त विलक्षणाद् ॥

अर्थ—यह आत्मा अनादि काल से उत्पन्न कलंक से मलिन किये हुए अत्यन्त विलक्षण अपने से भिन्न पदार्थों को स्वेच्छा से ग्रहण करता है।

भावार्थ—पदार्थों मे राग द्वेष मोह से अहकार ममकार इष्ट अनिष्ट आदि बुद्धि करता है।

दग्बोधनयनः सोऽयमज्ञानतिमिराहतः।
जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ॥

अर्थ—यह आत्मा दर्शन ज्ञान नेत्र वाला है, परन्तु अज्ञान

रूपी अन्धकार से व्याप्त हो रहा है इस कारण जानता हुआ भी नहीं जानता और देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता।

अविद्योद्भूतरागादिगरव्यग्रीकृताशयः ।
पतत्यनन्त दुःखाग्नि प्रदीप्ते जन्मदुर्गमे ॥

अर्थ—अविद्या से उत्पन्न रागादिक रूपी विष के विकार से व्यग्र चित्त होने से यह आत्मा दुःख रूपी अग्नि से जलते हुए दुर्गम ससार मे पडता है।

लोष्टेष्वपि यथोन्मत्तः स्वर्णबुद्ध्या प्रवर्त्तते ।
अर्थेष्वनात्मभूतेषु स्वेच्छयाऽयं तथा भ्रमात् ।

अर्थ—जैसे धतूरा खाने से उन्मत्त पुरुप पत्थरादिक में सुवर्ण बुद्धि से प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान से अपने स्वरूप से भिन्न अन्य पदार्थों मे स्वेच्छाचार रूप प्रवृत्ति करता है।

अर्थात् उनसे राग द्वेष मोह करता है।

वासना जनितान्येव सुखदुःखानि देहिनाम् ।
अनिष्टमपि येनायमिष्टमित्यभिमन्यते ॥

अर्थ—जीवों के जो सुख दु ख हैं वे अनादि अविद्या की वासना से उत्पन्न हुए हैं इसी कारण यह आत्मा अनिष्ट को भी इष्ट मानता है।

संसार सम्बन्धी जितने सुख दु:ख है, वे सभी कर्म जनित होनेके कारण अनिष्ट ही हैं तथापि यह आत्मा उनको इष्ट मानता है।

अविश्रान्तमसौ जीवो यथा कामार्थलालसः।
विद्यतेऽत्र यदि स्वार्थे तथा किं न विमुच्यते ॥

अर्थ—यह आत्मा जिस प्रकार काम और अर्थ के लिये निरन्तर परिश्रम करता है, उसी प्रकार यदि अपने स्वार्थ अर्थात् मोक्ष वा मोक्षमार्ग में लालसा सहित प्रवृत्ति करे तो क्या यह कर्मों से मुक्त न हो ? अवश्य ही हो।

इस प्रकार इस त्रितत्त्व के प्रकरण का तात्पर्य यह है कि इन तीन तत्त्वों की जो चेष्टा कही गई है सो सब इस आत्मा ही की चेष्टा है और वे सब ध्यान करने से प्रगट होती हैं। इस कारण आत्मा के ध्यान करने का विधान है। सो ऐसा ही करना चाहिये, मिथ्या कल्पना किस लिये करनी ? मिथ्या कल्पनाओं से कुछ लौकिक चमत्कार तो हो सकता है परन्तु उससे मोक्ष का साधन नहीं होता। इस कारण ऐसा ही ध्यान करना उत्तम है कि जिससे मोक्ष और सासारिक दोनों अभ्युदय उत्पन्न हो।

अब आगे के श्लोक मे आत्ममनन करना ही दु:ख को मिटाना है ऐसा कहते हैं—

नडे नडे दोड्डुतिर्प मनसं पिडिदात्म नोळिटड्डु तन्नतां।
नुडिनुडि दात्मनोळ् स्वपर तत्त्वरहष्यमनात्मरूपमं ॥

अडिगडिगोल्दु नोडुत शमामृतमं सले पीर्दु पीर्दु व ।
पडर्द तपस्वियै सुखिपेरं सुखियै अपराजितेश्वरा ! ॥७८॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! वाह्य विषयों में वार वार दौड़ने वाले मन को रोक रोक कर अपने आत्मा में स्थित कर अपने आप को, आत्म स्वरूप के रहस्य को, वस्तु स्वरूप के रहस्य को तथा पर वस्तु के रहस्य को अपने आत्मा में कह कहकर आत्म स्वरूप को प्रेम से वार-वार देखते हुए शान्ति रूपी अमृत को अच्छी तरह खींच खींचकर पानकर रागद्वेष को दूर करने वाला तपस्वी ही सुखी है, क्या इसके अतिरिक्त अन्य मनुष्य सुखी होगा ? अर्थात् नहीं ? ॥७८॥

78. O, Aparajiteshwar ! The ascetic is only happy who restrains the wandering mind in the soul and understands the secrets of the soul and othersubstances by again andagainchantingtheir truthinthesoul,by perceivingthetruenature of the soul with great affection, by drinking the nectar of peace in a great measure, cooling down the passions of attachment and aversion will there be any one happy else than such a fellow.

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकारने यह वताया है कि वाह्य विषय में दौड़ने वाले मनको रोककर ठीक तरह से अपने आत्म-

स्वरूपमें स्थिर करके अपने आत्म स्वरूप के रहस्यको आप ही मनन करके बादमें स्वपर भेदविज्ञान द्वारा दोनों के स्वरूप को पृथक २ जानकर अंत में पर वस्तु से भिन्न आत्मानंद रसको प्रेमपूर्वक बारम्बार अच्छी तरह खींच खींच कर पीता हुआ तपस्वी सुख या आनद को प्राप्त नहीं होगा क्या? अवश्य ही आनद को प्राप्त होगा अर्थात् सुखी होगा।

बाह्य वस्तु अर्थात् बाह्य पर पदार्थ में दौड़ने वाले इस मन को वश में करने के लिए यह आत्माराम क्या उपाय करता है? क्योंकि मन को हमेशा घसीटते हुए खींचकर लेजाने वाले इन्द्रियरूपी पांचों महान् सुभट अत्यन्त बलवान् हैं और इनका सेनापति मोहमयी रावण है। इनको परास्त करना, अत्यन्त कठिन है। आत्माराम किस तरह इनको वश मे करा दिया? इसका समाधान यह है कि—

जैसे राम रावण का युद्ध हुआ था और रामचन्द्र अपने आत्मिक बलके द्वारा रावण को आधीन किया उसी तरह आत्माराम का और कर्मरूपी शत्रु अर्थात् मिथ्यारूपी सुभट का युद्ध होता है। इस बातको बतलाने के लिये आत्मिक रामायण की कथा सुनायेंगे—

मोह शत्रु के दुःखसे दुःखी असह्य वेदनामें औषधि रहित अत्यंत निरुपाय होनेपर भी उपाय करने का इच्छुक, आत्माराम भव वन में भटकते २ एक उच्च स्थानको देखता है। ज्योंही दृष्टि फैलाता

है और क्षणभर विचारकरता है, त्योंही धर्मोपदेशरूप सुग्रीवके शात मुख को देखकर साता प्राप्त करता है और चित्त का शोक भूलकर एकाकी में मिल जाता है। सभाषणका आनन्द लेते हुए आत्माराम धर्मोपदेशके मुखपर मलिनता जानकर उसका कारण सुनकर उसके शत्रु मिथ्योपदेशरूप साहसगत.नाम माया मई सुग्रीव को विजय करनेके लिये कमर कसता है। धर्मोपदेश और मिथ्योपदेश दोनोंका बाह्य एकरूप देख परीक्षा लक्षणको दृष्टि में रखते हुए आत्माराम और धर्मोपदेश दोनो मिथ्योपदेश को पराजय करते हैं। इस उपकारसे उपकृत हुए धर्मोपदेश आत्माराम की वियोगिनी अनुभूति सीता का पता लगाने का उद्यम करता है और शीघ्र श्रुतिरूपी नाम विद्या घर से खबर पाता है कि मोह—रावण अनुभूति को चुरा ले गया है। पश्चात् धर्मोपदेशपरमवीर, निर्भय, अद्भुत विद्याधारी सतोंके लिये परमकामदेव श्री सम्यक्त्व-हनुमान से भेंट कराता है। सम्यक्त्व योद्धा आत्माराम से इस प्रकार मिलता है जैसे दूध में दूध मिलता है। दोनोंमें एकाग्र प्रीति होती है। अपने मित्र की अनुभूति रानी से मिलने के लिये सम्यक्त्व तय्यार होता है। और अपनी अपूर्व विद्या के बलसे शीघ्र ही देख लेता है कि उस अनुभूति रानी को मोह—रावण कलकित करना चाहता है। परन्तु परम पतिव्रता आत्माराम में आशक्त अनुभूति, मोह के बिछाए हुए माया जाल मे न फसकर आत्माराम के नाम और गुणोंका कीर्तन

करती हुई अपने शील की रक्षा कर रही है । शीघ्र ही सम्यक्त्व रूपी हनुमान अनुभूति रूपी से मिलते है और आत्माराम की खबर सुना कर विश्वासार्थ आत्मारामकी विवेक मुद्रिका प्रदान करते हैं। इस संवाद रूपी अमृत को पाकर अनुभूति के अंग का प्रवेश हर्षांकुरमें अंकुरित हो जाता है। अनुभूति अपने भेदविज्ञान—चूड़ामणि को देखकर शीघ्र सम्यक्त्व के पास भेजती है। आत्माराम अपने सम्यक्त्व मित्र द्वारा अपनी प्रिया अनुभूति की खबर पाकर परमानंदित होता है और परम साहस करके अपनी अनुभूतिको ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाता है। धर्मोपदेश और सम्यक्त्व दशलक्षणरूप सेनापतियों को आज्ञा देता है कि वे अपनी अपनी चमत्कारिक गुणरूप सेना को क्षेत्र में परिणत होने की आज्ञा दे दें। सर्वसेना एकत्रित होती है । सम्यग्ज्ञान मुख्य सेनापति सब को योग्य चक्र में सुसज्जित करता है। सोह के युद्ध वाद्य बजते हैं और सेना एकाएक मोह के बाह्य मनोहर व आभ्यंतर महाभयानक औगुणों से भरपूर मोह व विपयपुर रूपी लका नगरके बाहर आकर उपस्थित होती है। सोह की स्याद्वादमय-गर्जना को सुनकर मोह एकाएक काप उठता है और तब साहस बाँधकर युद्ध की तैयारी करता है । मोह रावणका भाई शुभोपयोग रूप विभीषण अपने भाईको समझाता है कि अनुभूति आत्माराम को दे दी जाय। परन्तु मोहाध रावण की मूढता देख कर शुभोपयोगी विभीषण ऐसे कुसंगको तजना योग्य समझकर

शीघ्र आत्माराम के पास आकर उनके चरणों में लोटता है। और आत्मारामकी प्रियतमा सीता को आत्माराम को दिलाने वाले न्याय रूप कार्य में परिणामन करने की चेष्टा कर आत्माराम की पूरी २ सहायता करता है। रावण अशुभयोगरूप अपने भ्राता कुम्भकरण और रागद्वेष रूप इन्द्रजीत मेघनाथ आदि पुत्रों से सलाह करके चार कषायरूप प्रचंड सेनापतियों को आज्ञा देता है कि, सर्व औगुणों की सेना तैयार की जाय। मिथ्याज्ञान रूप सेनाधिपति सब को चक्र में सुसज्जित कर के युद्ध क्षेत्र में आ जाता है।

मोही रावणऔर आत्मा-राम का युद्ध प्रारम्भ होता है। कभी औगुणों की कभी गुणों की हार होती है, दोनों तरफ से योद्धा एकाग्र चित्त होकर युद्ध करते हैं। सत्यपथानुयायी आत्मा-राम का साहस बढ़ता जाता है। अन्याय-मार्गी मोही रावण अपनी सेना को हारती हुई देख कर साहस हीन होता जाता है। आत्मा राम का सहोदर संयम रूप लक्ष्मण अपने अद्भुत पराक्रम के बल से, मोही-रावण का सामना करता है। इतने में मोह मिथ्या-चारित्र रूप चक्र संयम का घात करने के लिये भेजा, परन्तु सयम के तेज और प्रभाव से उसी समय सम्यक्त्व-चारित्र रूप परम प्रचंड सुदर्शन चक्र ने मिथ्या चारित्र को खंड २ कर डाला और सयम की प्रदक्षिणा देकर संयम के निकट जाकर उपस्थित हुआ। संयम ने अपने सर्वोत्कृष्ट सम्यक् चारित्र रूपी चक्र को एकाग्रता

से झपट के [साथ योद्धा के ऊपर ज्यों ही फेंका त्यों ही मोही-रावण का उरस्थल भिद गया और वह अचेत होकर भूमि में गिर पड़ा। मोह का गिरना और प्राण-रहित होना था कि मोह की सम्पूर्ण सेना भाग गई और परम उदासी छा गई।

आत्माराम अपने मित्र धर्मोपदेश, सम्यक्त्व व शुभोपयोग की सहायता से और अपने सच्चे भ्राता सयम के उद्योग से मोह को नाश कर अपनी प्रिया स्वानुभूति को प्राप्त किये। अनुभूति और आत्माराम दोनों के मिलाप का जो आनन्द है वह या तो श्री सर्वज्ञ भगवान् ही जानते हैं या वे अनुभव भोक्ता जानते हैं। आत्मा राम अपनी स्वानुभूति पटरानी के प्रेम में तल्लीन होकर सदा स्वस्थ और बाधा-रहित शिवमहल मे आकर विश्राम करता है, और अपने अटूट प्रेम से उत्पन्न सुधा-समूह का पान कर सांसारिक पराधीन और क्षणिक आनन्दों से विलक्षण अतीन्द्रिय, स्वाधीन और अविनाशी अनुभवानन्द का स्वाद लेता है।

प्रश्न—यह आत्मा राम पहले नहीं जानता था कि यह कर्म शत्रु मुझे दुःख देता है अतः इसका साथ छोड़ देना चाहिये—ऐसा विचार पहले क्यों नहीं किया और इस समय शत्रु मान कर उसको क्यों मार दिया गया?

समाधान—यह जीवात्मा अनादि काल से अविनाशी अखंड द्रव्य सिद्ध भगवान् के समान अपने स्वरूप में रमण करने वाला होने पर भी पर वस्तु के निमित्त अशुद्ध पुद्गल परमाणुओं के

निमित्त अपने स्वरूप ज्ञानको आच्छादित किये हुये है, आच्छादित होने के कारण अपने स्वरूप का बिलकुल प्रकाश छिप गया है, इस लिये इसे अपने स्वरूप का भान नहीं रहा। जैसे २ शुद्ध अशुद्ध परमाणुओं का संयोग होता गया, वैसे-वैसे स्वरूप का भी रंग बदलता गया। तब वह आत्मा पर वस्तु में रममाण होता हुआ उसी में रत होकर मतवाला बन कर नरकादि चारों गतियों में भ्रमण करने वाला होकर जन्म मरण के चक्कर को काटने वाला हुआ है।

जब इन को यह मालूम हुआ कि मुझको इस तरह भ्रमण कराने वाला यह दुष्ट कर्म रूपी शत्रु ही है, अन्य कोई नहीं है तब अचानक श्री सद्गुरु समागम प्राप्त हो जाने से गुरु की वाणी के द्वारा ज्ञान जाग उठा और अपने सच्चे स्वरूप की पहचान अपने आप अपने अन्दर ही हुई। तब अपने को आप ही में मान कर अपने अन्दर ही रत हुआ और पर को पर मानकर, पर से भिन्न जब अपने को माना तब वह आत्मिक सुख में सोने लगा, पर वस्तु से मुक्त होकर निज रत्नत्रय आत्म निधि का स्वामी बना।

प्रश्न—कर्म से सम्बन्ध है—यह बात कैसे जानी जाती है?

समाधान—यदि कर्म को जीव से सम्बन्ध न माना जाय तो कर्म के कार्य रूप मूर्त शरीर से जीव का सम्बन्ध नहीं बन सकता

है, इस अन्यथानुपपत्ति से प्रतीत होता है कि कर्म का जीव से सम्बन्ध है।

शका—जीव कर्मों से भिन्न है ऐसा क्यों नहीं माना जाता है?

समाधान—यदि कर्मों [से जीव को भिन्न माना जावे तो कर्मों से भिन्न होने के कारण अमूर्तत्त्व को प्राप्त हुए जीव का मूर्त शरीर और औषधि के साथ सम्बन्ध नहीं वन सकता है। इसलिये जीव कर्मों से सम्वद्ध ही है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये।

शरीर आदि के साथ जीव का सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर के छेदे जाने पर जीव को दु:ख की उपलब्धि होती है, इस लिये शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि अन्य के छेदे जाने पर उससे भिन्न दूसरे के दुःख उत्पन्न होता देखा जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मान लेने से अव्यवस्था का प्रसग प्राप्त होता है। यथा, [यदि जीव और शरीर में एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध नहीं माना जायगा तो जीव के गमन करने पर शरीर को गमन नहीं करना चाहिये, उसी प्रकार औषधि का पीना जीव के आरोग्य का कारण नहीं होना चाहिये, क्योंकि औषधि शरीर के द्वारा पिलाई जाती है। यदि कहा जाय कि अन्य के द्वारा पी गई औषधि उससे भिन्न दूसरे के आरोग्य को

उत्पन्न कर देती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की कहीं भी उपलब्धि नहीं होती है, उसी प्रकार जीव के रुष्ट होने पर, शरीर में कप, दाह, गले का सूखना, आंखों का लाल होना, भौं का चढना, रोमाञ्च का होना, पसीना आना आदि कार्य नहीं होने चाहिये, क्योंकि शरीर से जीव भिन्न है। तथा जीव की इच्छा से शरीर का गमन और आगमन तथा पैर, हाथ, सिर और अंगुलियों का सञ्चालन भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि जीव से शरीर का सम्बन्ध नहीं है। तथा सम्पूर्ण जीवों के केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्त वीर्य अनन्त विरति और सम्यक्त्व आदि गुण हो जाने चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार सिद्ध जीव कर्म और शरीर से पृथक् हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीव भी कर्म और शरीरसे पृथक् माने गये हैं। अथवा यदि संसारी जीवों के शरीर और कर्मोंसे पृथक्भूत रहते हुए भी अनन्त ज्ञानादि गुण नहीं पाये जाते हैं तो सिद्धों के भी नहीं होने चाहिये। यदि कहा जाय कि अनन्त ज्ञानादि गुण सिद्धों के नहीं होते हैं तो मत हो, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा नहीं माना गया है। अतः इस प्रकार की अव्यवस्था न हो, इस लिये जीव से कर्म अभिन्न अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध को प्राप्त है ऐसा श्रद्धान करना चाहिये।

शका—अमूर्त जीव के साथ मूर्त जीव का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

समाधान—जीव और कर्मोंका अनादि सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, यदि आदि संबंधस्वीकार किया होता तो उपर्युक्त दोष आता।

शंका—जीव और कर्मों का अनादि कालीन सम्बन्ध है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—यदि जीव का कर्मों के साथ अनादि कालीन सम्बन्ध स्वीकार न किया जावे तो वर्तमान काल में जो जीव और कर्मों का सम्बन्ध उपलब्ध होता है वह बन नहीं सकता है, इस अन्यथानुपपत्तिसे जीव और कर्मोंका अनादि कालीन सम्बन्ध है यह माना जाता है।

शंका—जीव मूर्त है, ऐसा क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता है ?

समाधान—स्थूल शरीर प्रमाण जीव को कुल्हाड़ी से काटने पर या तो बहुत जीवों का प्रसंग प्राप्त हो जायगा या जीव के अभाव का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा, इसलिये जीव मूर्त न होकर अमूर्त है ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

इस जीव ने अपने स्वरूप से च्युत होकर अपने शुभाशुभ बंध के कारण दीर्घ संसारी बन कर अज्ञान से मूर्त कहलाता है। इसका मुख्य कारण एक मिथ्यात्व ही है।

अगले श्लोक में यह बताते हैं कि मन को अपने आत्मा के

अंदर ही रोककर उसीमें रत होगा तो फिर किसी प्रकार का भय नहीं है, ऐसा कहते हैं—

मनमनिदोंदने तनुविनोळ्नेलसिर्दनिजात्मनल्लि ने ।
ट्टने निलिसल्के साकु भयवेत्तणदेत्तमदार्तरौद्रमी ॥
तनुसुखदासेयेत्तनदु तीव्र परीपहवेत्त मोहम ।
ल्लन कुरुपाटवेत्त पलवु कोसरेकपराजितेश्वरा ! ॥७६॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर! इस अकेले मनको ही अपने शरीरस्थ आत्मा में निश्चलता से स्थिर करे तोबस, फिर उन को डर काहेका ? आर्तरौद्र ध्यान कहां से होगा ? इस सुख की आशा कहां से आयेगी ? कठिन वाधा कहां से होगी ? मोहरूपी दुष्ट पिशाच की दु चेष्टा कहा से आएगी ? अनेक विपय कपाय की उत्पत्ति कहां से होगी ? ॥७६॥

79 O, Aparajiteshwar ! The only thing to be done is to make this mind steady in the soul. what eles then is he to fear ? where the painful and angry thinking (Arta and Raudra Dhayna) desire tor pleasures, hard difficulties, evil deeds for delusion and various passions will come from ?

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि अगर मानव प्राणी सच्चा सुख शान्ति चाहता है, तो इसके लिए

एक उपाय है कि इन्द्रिय जनित पर द्रव्य रूप विषय वासनाओं में हमेशा भटकने वाले इस चंचल मन को अपने शरीरस्थ आत्म स्वरूप में स्थिर करे। वाद में उन को अन्य किसी भी प्रकार का डर तथा आर्तरौद्र ध्यान का क्या काम रहेगा, शारीरिक सुख की भी क्या आवश्यकता रहेगी, अत्यन्त कठिन वाधाये वहाँ से उत्पन्न होंगी, मोह योद्धा यहाँ आकर दु'चेष्टा इत्यादि करके तेरी क्या हानि पहुँचाएगा तथा सङ्कल्प विकल्प की क्या जरूरत है ?

लेकिन यह संसारी जीव अपने सच्चे आत्म-स्वरूप से विपरीत इन्द्रिय सुख में मग्न होकर उस की तृप्ति के लिये नाना प्रकार के व्यवसाय के द्वारा अनेक कष्ट उठाया, और दीर्घ ससारी हो कर मिथ्या मार्ग पर आरूढ़ होते हुए अनन्त वार भव भ्रमण किया किन्तु सच्चे सुख की ओर दृष्टि न डाल कर वाहर इन्द्रिय सुखों के प्रति दौड़ता हुआ तीव्र मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ।

सागार धर्मामृत में भी कहा है कि:—

आसंसार विसारिणोऽन्धतमसान्मिथ्याभिमानान्वया।
च्च्युत्त्वा काल वलान्नि मीलित भवानन्त्यंपुनस्तद्वलात् ॥
मीलित्वा पुनरूद्वेतन तद पत्ते पाद विद्याच्छिदा, सिद्धयै।
कस्यचिदूच्छ्रयत स्वमहसा वृत्तं सुहृन्मृग्येता, ॥

यह अनादि मिथ्या दृष्टी जीव समस्त संसार में फैले हुए अपने कार्य से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने वाले विपरीताभि निवेश रूप भाव मिथ्यात्व से अथवा दुराग्रहों के निमित्त भूत

युक्तियों के द्वारा उत्पन्न हुआ अहंकार जिस का अनुगमन करता है ऐसे अधतम द्रव्य मिथ्यात्व से और दुर्नयों के विलास से अनन्त संसार का निमीलन—संवरण, करता हुआ, तिरस्कार करता हुआ किसी प्रकार कालादि लब्धि के निमित्त से अथवा कार्य सिद्धि के लिये अनुकूल समय के सामर्थ्य से दूर हुआ। किन्तु फिर भी वह उसी मिथ्यात्व के सामर्थ्य से उस के प्रभाव में तिरोहित हो गया, क्योंकि अनादि मिथ्या दृष्टी भव्य कालादि लब्धि के निमित्त से अन्तमुर्हूर्त के लिए औपशमिक-सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है, परन्तु शीघ्र ही उस से च्युत होकर फिर मिथ्यात्व परिणामों के द्वारा नियम से आक्रान्त हो जाता है। जैसे कहा भी है।

निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम् ।
पश्चादायातिमिथ्यात्व, सम्यक्त्वस्यास्यनिश्चितम् ॥

जिस प्रकार निर्मल दिन के बाद मलीमस (अन्धकार) रात्रि का आगमन अवश्य ही होता है उसी प्रकार इस अनादि मिथ्या-दृष्टी जीव के प्रथम ही उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन के बाद मिथ्यात्व परिणाम भी नियम से होते हैं। ऐसा होने पर भी उस अधतम-द्रव्य मिथ्यात्व का प्रध्वस हो जाने से अविद्या-अज्ञान, कुमति कुश्रुत, विभंग, सशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय, इन तीन अज्ञानों का छेदन करने वाला यह सम्यग्दर्शन रूप आत्मीय अर्थात् निजी तेज फिर से उद्भूत होता है। किन्तु वह सिद्ध

शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये अथवा अपना उत्कर्ष और पर का अपकर्ष सिद्ध करने के लिये किसी २ के ही निकट भव्य के अथवा विजिगीषु के, ही मित्र के समान बढ़ते हुए चारित्र की सहायता की अपेक्षा करता है। क्योंकि जिस प्रकार मित्र की सहायता के विना विजय प्राप्त नहीं हो सकती उसी प्रकार चारित्र की सहायता के विना सम्यग्दर्शन भी सिद्धि का लाभ रूपी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इस लिए मिथ्यात्व को दूर करना ही सुख का कारण है। कहा भी है कि—

दवयन्तु सदा सन्तसूतां, द्रव्यादि चतुष्टयीम्।
पुंसां दुर्गति सर्गे, या मोहारे कुलदेवता॥

जिस प्रकार विजिगीपुओं के प्रतिपक्षिओं की दुर्गति करने में कुलदेवी सहायता किया करती है उसी प्रकार मनुष्यों के मिथ्या ज्ञान या नरकादि दुर्गतियों को प्राप्त कराने में द्रव्यादि की चौकड़ी मिथ्यात्व की सहायता किया करती है परन्तु समय के अनुसार मानी हुई कुदेवादिक की मूर्ति प्रभृति को मिथ्यात्व के द्रव्य, को बढ़ाने वाले तीर्थादि अनायतनों को उसका क्षेत्र संक्रान्ति ग्रहण प्रभृति मिथ्या दर्शन के बढ़ानेवाले तीर्थादि अना-यतनों को उसके काल शंका और कांक्षा आदि परिणामों को मिथ्यात्व का भाव कहते हैं,यह द्रव्यादि की चौकड़ी मिथ्यात्व को तैयार करती है और मनुष्योंके लिए कुज्ञान तथा नरकादि दुर्गतियों

को उत्पन्न करती है, अतएव सत्पुरुषों को उचित है कि वे सदैव उसको दूर करने का ही प्रयत्न करें।

अब मिथ्यात्व का कारण और लक्षण बताते हैं—

मिथ्यात्वकर्मपाकेन जीवो मिथ्यात्वमृच्छति ।
स्वादुपित्तजरेणेव येन धर्मं न रोचते ॥३॥

मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीवों के जो भाव होते हैं उनको मिथ्यात्व कहते हैं। जिनसे कि उस जीव को धर्म की तरफ रुचि नहीं होती। क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म मद्य के समान माना जाता है अतएव इसके उदय से जीव वस्तु तत्त्व में अनेक प्रकार से मोहित मुर्छित हुआ करता है और विपरीत अभिनिवेश से आक्रांत-ग्रस्त हो जाया करता है इसलिए वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप का श्रद्धान नहीं कर सकता और धर्म के विषय में उसकी रुचि भी नहीं होती। जिस तरह से कि पित्त-ज्वर वाले मनुष्य को स्वादु मधुर रस भी रुचिकर नहीं होता उसी प्रकार मिथ्या दृष्टी के भी वास्तविक धर्म रुचिकर नहीं होता है।

अब मिथ्यात्व के भेदों को उसके प्रणेताओं की अपेक्षा से बताते हैं—

वौध शैव द्विजनेत, पट मस्करिपूर्वकाः ।
एकान्तविनयभ्रान्ति, संशय ज्ञान दुर्दृशः ॥४॥

मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं—एकान्त, विनय, विपर्यय, संशय और अज्ञान, किसी एक धर्म के अंश को देखकर समस्त वस्तु को सर्वथा वैसा ही मानना, इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं और वैसा मानने या प्रणयन करने वाले बौद्धादिकों को एकान्त मिथ्या दृष्टी कहते हैं। समीचीन और मिथ्या दोनों ही प्रकार के देव गुरु, शास्त्र को समान समझ कर वैसी ही दोनों की एकसी भक्ति करने को विनय मिथ्यात्व कहते हैं तथा इसके प्रणेता शैवादिको को भी वैनेयिक कहते है। वस्तु तत्त्व के विपरीत श्रद्धान को विपर्यय मिथ्यात्व और उसके प्रणेता याज्ञिक ब्राह्मणादिकों को वैनयिक कहने हैं। केवली कवलाहारी होते हैं अथवा उसके विपरीत यद्वा "स्त्री को उसी भव से मोक्ष होती है या नहीं ?" इस प्रकार जिसमें चलायमान प्रतीति पाई जाय उस मिथ्या श्रद्धान को संशय मिथ्यात्व और उनके प्रणेता श्वेताम्बरादिकों को संशय मिथ्या दृष्टी कहते हैं। सर्वज्ञादि के विषय में किसी भी प्रकार का विश्वास न करने को तथा अज्ञान से ही मोक्ष होती है इस श्रद्धान को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं और उसके प्रणेता मस्करी आदिकों को अज्ञान मिथ्यादृष्टी कहते हैं।

श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ मे और श्री महावीर स्वामी के समय में मस्करी पूर्ण नाम का एक ऋषि हो गया है। वह ग्यारह (११) अंग का पाठी था। वह चाहता था कि मैं, केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही वीर भगवान् की दिव्य ध्वनि सुनूं,

मेरे निमित्त से ही उनकी दिव्य ध्वनि खिरना शुरु हो और मैं ही उनका गणधर बनूं। इस लिये वह केवल ज्ञान होते ही महावीर स्वामी के समवशरण में गया। किन्तु उसके निमित्त से भगवान् की दिव्य ध्वनि न निकल कर गौतम के निमित्त से निकली। इस लिये उसको यह मत्सरता उत्पन्न हुई कि इन्होंने ग्यारह अग के धारक मेरे निमित्त से अपनी दिव्य ध्वनि का निर्गमन किया, किन्तु अपने शिष्य गौतम के निमित्त से किये हुए इस मत्सरता के कारण वह विरुद्ध होकर कहा कि ये सर्वज्ञ ही नहीं हैं, ऐसा मान कर समवशरण के बाहर आया और बाहर आकर अपना यह मत प्रकाशित किया कि—"अज्ञान से ही मोक्ष होता है" अतएव अज्ञान, मिथ्यात्व का प्रणेता मस्करी माना जाता है।

पांचों प्रकार के मिथ्यात्वों में दोष दिखाने के अभिप्राय से क्रमानुसार पहले एकान्त मिथ्यात्व के दोष बतलाते हैं।

अभिसरीत यतोङ्गी सर्वथैकान्त संवित।
परयुवति मनेकान्तात्मसंवित्प्रियोपि॥
मुह रूपहित नाना बन्धदुःखानु बन्धं।
तमनुप जति विद्वान कोनुमिथ्यात्वशत्रुम् ॥५॥

जिस के निमित्त से यह प्राणी अपनी अनेकान्त संवितिरूप प्रिया वल्लभा के रहते हुए भी पर कान्ता के समान सर्वथैकान्त संवित्ति से अभिसरण करने लगता है, और इसलिये जो विविध

प्रकार के बन्ध प्रकृति आदि कर्म बन्धों से उत्पन्न हुए दु.खों की परम्पराओं को उन प्राणियों के लिए पुनः पुनः उपस्थित करता है ऐसे मिथ्यात्व शत्रु से भला ऐसा कौन विद्वान् होता जो कि सम्वन्ध रखना चाहे ? कोई भी नहीं ।

भावार्थ—जिस प्रकार लोक में विचार शील पुरुष व्यसनों में फंसकर दुःख भोगने वाले को अपना शत्रु समझ कर छोड़ देते हैं, या उससे सम्वन्ध नहीं करते हैं, उसी प्रकार मुमुक्षु ज्ञानी भव्यों को आत्म-स्वरूप से हटा कर पर स्वरूप मे मोहित कर देने वाले और विविध प्रकार के दु खों को देनेवाले तथा उनके कारणों को संचित करने वाले मिथ्यात्व को शत्रु तुल्य समझ कर छोड़ देना चाहिये और उससे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये ।

अव विनय मिथ्यात्व वतलाते हैं ।

शिवपूजादिमात्रेण, मुक्तिमभ्युपगच्छताम् ।
निःशङ्कं भूत यातोयं, नियोगः कोषिदर्विधे ॥६॥

जिस देव में शिव का गुण नहीं है ऐसे कपोल कल्पित मनमाने हुए शिव या जिसके अन्दर सच्चे गुरु का स्वरूप नहीं है ऐसे गुरु की पूजा अर्चा आदि के करने मात्र से ही मुक्तिप्राप्त होती है,ऐसा जो मानने वाले हैं उनका दुर्दैवनिःशक होकर प्राणी वध में प्रवृत्त हो जाना अथवा उनकी मानी हुई हिंसामई आज्ञा अर्थात् दूषित आगम प्राणी वध करने के लिये मनुष्यों को नियम से अच्छी

तरह से प्रवृत्त कर देना इत्यादि यह सभी कपोल कल्पित अथवा हिंसा की पुष्टि करने वाला शास्त्र है ऐसा समझो।

इसका कारण यह हो सकता है कि महादेव को उनके सिद्धांत में भूतों का संहार करने वाला है ऐसा कहा है इसलिए उनके सिद्धात को आदर्श पूज्य बताकर पूजकों को आदर्श के अनुसार चलने का भूतघात प्राणी वध करने का अवश्य ही उपदेश देता है, अतएव उसकी पूजा मात्र से मुक्ति मानने वाले वैनयिक भी निःशक होकर उस कर्म में प्रवृत्त हो सकते हैं परन्तु ऐसे निशाचर वृत्ति करने वाले अनन्तकाल तक दुःख भोगते रहते हैं, सुख तो प्राणी मात्र की रक्षा करने वाले एक अहिंसा धर्म में ही है। वैदिक धर्म में भी लिखा है सो सुनिये, महानुभाव मनुने ४८-४६वें श्लोक मे प्राणी वध का निषेध स्पष्ट रूप से दिखलाया है यदि उन श्लोकों को कल्पित माने तो मांसाहार से स्वर्ग होता है यह भी कल्पित क्या नहीं माना जाय। जब कि दोनों कल्पित नहीं हैं तो यही दोनों श्लोक बलवान होते हैं।

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत् शतं समाः।
मांसानि च न खादेत् यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥५३॥

भावार्थ—दो वर्ष में एक पुरुष अश्वमेध करके सौ वर्ष तक यज्ञ करे और एक पुरुष बिलकुल माँस न खाय तो उन दोनों का समान ही फल है। यज्ञों के नामों के अर्थ निम्न लिखित है।

यजुर्वेद में—

यज्ञों के नाम के अर्थ—

अश्वं वैराट्म् ॥

गौरत्नं गौर्वै पृथ्वी

नरमेघः (अतिथि यज्ञ)

अर्थ—अश्व नाम ईश्वर का है और गौ शब्द का अर्थ रत्न तथा पृथ्वी होता है। नरमेध अतिथि यज्ञको कहते हैं तथा सात वर्ष के पुराने धानों को अज कहते हैं।

साक्षी व्याकरणानि

अश्वमेधः—न श्वः, अश्वः, अश्वे, परमात्मनि मेधा यस्मिन् कर्मणि सः, अश्वमेधः।

गौमेधः—गौरिन्द्रियं, तासु मेधा यस्मिन् कर्मणि सःगौमेधः

नरमेधः—नरः माया सबल परमात्मा तस्मिन्मेधा यस्मिन् कर्मणि स नरमेधः।

अजमेधः—न जायते इति अजःतस्मिन्मेधा यस्मिन् कर्मणि स अजमेधः।

अश्व नाम परमात्मा का है उसमे बुद्धिकी धारणा जिस यज्ञ में की जाय वही अश्वमेध कहाता है।

'गौ' नाम इन्द्रियों का है उसका दमन जिस यज्ञ में किया जाय वह गौ-मेध है।

'नरमेध' अतिथि यज्ञ को कहते हैं।

सात वर्ष का पुराना धान 'अज' कहाता है उन धानों की आहुति देना अजमेध है, बकरा काटना नहीं।

तस्यैतत्प्रयोजनं, योगाङ्गं यथा विज्ञायेत सति च योगांङ्गे योग विभागः करिष्यते, सह सुप्समस्यते केन सह समर्थेन अनुव्यचलद् अनुप्राविशत् ततः सुपा, सुपाच सहसुप समस्यते अधिकारश्च लक्षणञ्च यस्य समासस्या-न्यल्लक्षणं नास्ति इदं तस्य लक्षणं भविष्यति, पुनरुत्स्यूतं वासोदेयम् पुनर्निष्कृतो रथ इति, (मे) इत्यत्र क्रियार्थोप पदस्य च कर्मणि स्थानिनः (अ० — २-३-१४) इति चतुर्थी।

योग साधन पाद सूत्र

अहिंसा, सत्य, चोरी का परित्याग, ब्रह्मचर्य और दान न लेना यम है।

पातञ्जलि योगदर्शन साधन पाद सूत्र

अहिंसा रूप प्रथम 'यम' को साङ्गोपाङ्ग सिद्ध कर लेने से यह फल होता है कि उस पुरुष के साथ भी किसी का वैर नहीं रहता

सदैव सभी प्राणियों के साथ सब भांति (मन, कर्म, वचन) से द्रोह न करना अहिंसा कही जाती है।

व्यास वाक्य

जो जड़ बुद्धि प्राणियों की हत्या करके धर्म लाभ करना चाहता है वह काले साँप के मुख रूपी खोखले से अमृत की वर्षा प्राप्त करना चाहता है, पुराणों में व्यास के दो ही वचन हैं वे ये हैं—परोपकार भलाई है तथा दूसरे को सताना बुराई है।

दान-धर्म

जो यज्ञ और वैदिक मार्ग से अपरिचित पुरुष मांस के लोभो से पशुओं को मारे वह अवश्य नरक गामी होगा।

वेदान्त शास्त्र

जो लोग पशुओं की बलि देते हैं वे घोर अन्धकार में डूबे हुए हैं। हिंसा न कभी धर्म हुई और होगी।

वृहत्पाराशर संहिता

जो मूर्ख प्राणी हत्या करके मांस से, अपने पित्रों को परितृप्त करना चाहता है वह चन्दन जला कर उसके कोयले बेचना चाहता है, जैसे बालक कोई वस्तु कुए में फेक कर फिर उसक लेने की इच्छा करता हुआ अज्ञान के कारण स्वयं ही उसमें गिर जाता है, उसी भाँति मांस में श्रद्धा करने वाला भी है।

वशिष्ठ-वाक्य

जो मनुष्य जीवन भर विष समझ कर माँस का भक्षण न करे वह अवश्य स्वर्ग सुख भोग प्राप्त करता है, और भी देखिये राक्षस वृत्ति वाले क्रूर पापी निरपराधी पशुओं के गले घोट कर अपनी स्वार्थ वृत्ति को बढ़ाने वाले पापी जीवों को वेद पुकार पुकार कर कहता है कि हे अधम पापी मानव प्राणी ! सुनो मैं तुम्हे हितका (कल्याणका) मार्ग बताता हूँ।

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत् फलमवाप्नोति, यन्मांस परिवर्जनात् ॥५४॥

अर्थात्—जो पवित्र फल मूलादि के भोजन करने से फल नहीं मिलता है वह केवल मांसाहार के त्याग करने से ही मिलता है।

मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५५॥

अर्थात्—जिसका मांस मैं यहाँ खाता हूँ वह मुझको जन्मान्तर में अवश्य ही खाएगा ऐसा मांस शब्द का अर्थ महात्मा पुरुषों ने कहा है। ५३ वें श्लोक में लिखा है कि सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करने से जो फल मिलता है वह फल मात्र मांसाहार के त्याग करने से होता है हिन्दू शास्त्रानुसार अश्वमेध की

विधि करना इस समय बहुत कठिन है क्योंकि पहिले तो समस्त पृथ्वी जीतनी चाहिए तब अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी होता है और उन पर भी लाखों रुपये खर्च होते हैं इतने परभी हिंसा जन्य दोष होता ही है ऐसा सांख्य तत्त्व कौमदी में दिखलाया है—स्वलय–सङ्करः—सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः अर्थात् स्वल्यसंकर याने दोष सहित यज्ञ का पुण्य है तथा सपरिहार याने कितने ही प्रायश्चित्त करके शुद्ध करने योग्य तथा सप्रत्यवमर्ष अर्थात् यदि न होवे तो पुण्य भोगने के समय हिंसाजन्य पाप भी अवश्य सहना पड़ेगा इत्यादि।

यद्यपि इस विषय में वैदिक धर्म को नहीं मानने वाले के साथ विवाद है तो भी मनुजी ने मांसाहार त्याग करने से जो फल दिखलाया है वह तो सबके मतमें निर्विवाद और अनायास साध्य होनेसे सर्वथा स्वीकार करने योग्य है। ५४वें श्लोक में लिखा है कि मुनियोंके आचार पालनेसे जो पुण्यमिलता है वह पुण्य केवल मांसाहारके त्याग से ही मिलता है,अर्थात् शुष्क जीर्ण पत्राहारादि से जो लाभ होता है, वह लाभ मांसाहार के त्याग करने से होता है, ऐसे सरल निर्दोष निर्विवाद मार्ग को छोड़कर सदोष विवादास्पद पर के प्राण घातक कृत्योंसे स्वर्ग को चाहने वाले पुरुष को ५५वें श्लोक पर अवश्य दृष्टि देनी चाहिये। मांस शब्दकी निरूक्ति में ऐसा लिखा है 'मा' याने मुझको खाने वाला 'स' याने वह होगा जिस का मांस मैं खाता हूं इस प्रकार मास शब्द-का अर्थ

मनुजी कहते हैं। अब मनुजी के शब्दों को मान्य करके यज्ञादि करने वालोंको ध्यान रखना चाहिए कि स्वर्ग जाने के लिये बहुत से रास्ते हैं तो फिर समस्त प्रजा के अनुकूल मार्ग मे जाना उचित नहीं है क्या ?

पुराणोंने भी पुकार २ कर हिंसा का निषेध किया है। देखिये व्यासजी ने पुराणों में इस तरह कहा है:—

ज्ञानपाली परिक्षिप्ते, ब्रह्मचर्यदयाम्भसि ।
स्नात्वाऽतिविमलेतीर्थे, पापपङ्काप हारिणि ॥१॥

ध्यानाग्नौ जीव कुण्डस्थे, दममारुतदीपिते ।
असत्कर्म समित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरुत्तमम ॥२॥
कषाय पशुभिर्दुष्टै,र्धर्म कामार्थनाशकैः ।
शममन्त्रहतैर्यज्ञं, विधेहि विहित बुधैः ॥३॥

प्राणीघातात्तुयोधर्म,मीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाऽहि मुख कोटरात् ॥४॥

अर्थात्—ज्ञान रूप पाली से युक्त ब्रह्मचर्य और दया रूप जलमय अत्यन्त निर्मल पाप रूप कीचड़ को दूर करने वाले तीर्थ में स्नान करके ध्यानाग्निमय दम रूप वायु से संतप्त हुआ जीव रूप कुण्ड में असत् कृत्य रूप काष्ठों से उत्तम अग्नि होत्रों को करिये। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय रूप दुष्ट पशुओं

को (जो धर्म अर्थ काम को नाश करने वाले हैं) शम रूप मन्त्र से मारकर पण्डितों से किये हुए यज्ञ को करो।

और प्राणियों के नाश से जो धर्म की इच्छा करता है, वह श्याम वर्ण सर्प के मुख से अमृत की वृष्टि चाहता है।

इस प्रकार इन ऊपर की (महापुरुष की) वाणी पर विश्वास रख कर इन क्रूर पशु वृत्ति का त्याग करेंगे, तो पाप रूपी कुंभी पाक से वच जायेंगे और शीघ्र ही कल्याण की प्राप्ति होगी।

विपरीत मिथ्यात्व—

येन प्रमाणतः क्षिप्तां श्रद्ध-श्रुतिंरसात् ।
चरंति श्रयसे हिंसा स हिंस्यामोह राक्षसः ॥७॥

अपना हित चाहने वाले को उस विपरीताभिनिवेश के (विपरीत मार्ग) उत्पन्न करने वाला मोह रूपी राक्षस निशाचर का ही बध करना उचित है जिस के वश में पड़ कर प्राणी विपरीत मिथ्या दृष्टी जीव लोक प्रमाण से वेद अर्थात् भगवान प्रणीत वाणी के विरुद्ध पशु वध का उपदेश देता है, और समझाने पर अपने हठाग्रह छोड़नेके लिए तैयार नहीं होता.वह कहता है कि पशु वध ही स्वर्ग या मोक्ष के लिए कारण है, और यह हिंसा पुण्य का निमित्त कारण है ऐसे भोले संसारी अज्ञानी जीवों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराके हिंसा का आचरण किया करते हैं।

संशय मिथ्यात्व—

अंतः स्खलच्छल्यमिव प्रविष्टं रूपं स्वमेव स्ववधाय येषाम् ।
तेषां हि भाग्यो कलिरेष नूनं, तपत्यलं लोक विवेक
मश्नम् ॥ ८ ॥

जिनका वह स्वरूप है जिसमें कि पूर्वोक्त श्रीवीतराग भगवान् कवलाहार—करते हैं मानना या अन्य प्रकार स्त्री भव से मोक्ष मानना अर्थात्—दिगम्बर आम्नाय मे स्त्री पर्याय से मोक्ष नहीं मानते हैं, श्वेताम्बर आम्नाय में स्त्री भव से मोक्ष तथा केवली भगवान् का केवल आहार मानते हैं। यह सभी कलिकाल का मिथ्यात्व है।

अज्ञान मिथ्यात्व—

युक्ता वनश्वस्य निरस्य चाप्तं, भूतार्थ अज्ञान तमोनिमग्नाः
जनानु पापै रति संधानाः, पुष्णंति ही स्वव्यसनानि
धूर्ताः ॥९॥

जिस प्रकार सुख पदार्थ अवश्य है क्योंकि उसका कोई बाधक प्रमाण सम्भव नहीं है उसी प्रकार कोई न कोई सर्वज्ञ भी अवश्य ही है, क्योंकि उसका बाधक (विरुद्ध) कोई सर्वज्ञ नहीं है, इस बात को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण सम्भव नहीं है यह बात निश्चित है। इस प्रकार सर्वज्ञ की साधक युक्तियों पर विश्वास न कर के परमार्थत सत्प्रमाण से सिद्ध होने पर भी उस आप्त-

परमेष्ठी का निरसन करके बड़े दुःख की बात है, कि अज्ञान के अंधकार में डूबे हुये कुछ अज्ञानी स्वार्थी लोग संसार के लोगों को अनेक प्रकार के उपायों से ठगते फिरते हैं, और उस से अपने व्यसनों को पुष्ट किया करते हैं, उन लोगों को यथार्थ सच्चा आगम गुरु तथा देव का श्रद्धान नहीं है, हमेशा लोग वंचना करके अपने विषय वासनाओं की पुष्टी करते फिरते हैं। ऊपर प्रतिपादन किया हुआ जो मिथ्यात्वका प्रकरण है वह इस जीवात्मा को हमेशा अपने सच्चे आत्म-स्वरूप को भुलाकर ससार में जन्म मरण के चक्कर मे हमेशा भ्रमण कराने वाला है, जब यह आत्मा सच्चे ज्ञान को प्राप्त कर भेद विज्ञान के अभ्यास के साधन में बाह्य अनेक प्रकार के विकल्पों को हटाते २ स्वपर की ठीक प्रतीति करने लगता है, तब पूर्व रुप से दोनों वस्तु भिन्न २ दिखने लगती है। ज्ञानी जीव अपने ज्ञान के द्वारा अपने एकाग्र मन में जब अपने आत्म-स्वरूप मे अत्यन्त लीन हो जाता है, तब जितने भी बाह्य विकल्प तथा मिथ्यात्वादि हैं वे स्वयं हट जाते है। और आत्म-ज्योति का जितना २ तेज भीतर झलकने लगता है, उतना ही उनको आनन्दमय रसायन का स्वाद आता जाता है फिर उनके अन्दर विकल्प आने की शंका कहां से आवेगी, अर्थात् कभी नहीं—तब पूर्व ज्ञाता अमृत का स्वादी होकर आत्म स्वरूप के सुखसागर में निरन्तर मग्न रह कर अखण्ड सुख का अनुभव करता है, वही ज्ञानी आत्मा धन्य है ।

अब आगे के श्लोक में बतलायेंगे कि इन्द्रिय, कषायादिक ही आत्म-स्वरूप का घात करने वाला है इस लिए इन से भिन्न आत्म-स्वरूप का अनुभव करना ही सर्वोत्तम (श्रेष्ठ) है, ऐसा कहते हैं—

मनद् विकल्पमिंद्रिय कषायमनागिपुदंतवादोडा-
तनु वचनंगळाडुववुतानदरिंदवे कर्मलम्भिया ॥
मनवे निजात्मरूपदोळे मग्नवनेयिद्दमेले कर्म बं-
धनदेडे पेत्त निर्जरेगि दोंदेयला अपराजितेश्वरा ! ॥८०॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! जो मनका विकल्प है वह इन्द्रिय जन्य क्रोधादि कषाय को उत्पन्न करता है, उसी माफक उस इन्द्रियादि कषायकी उत्पत्ति होनेसे उस शरीर और वचन की हलन-चलन क्रिया होती है। उन शरीर वचनादि व्यापार से ही कर्म वर्गणाओं के आनेका मार्ग सुलभ होता है और वह कर्म वर्गणा आकर आत्मा के साथ अवगाहना रूपों में आश्रय कर लेती है अर्थात् कर्म का बन्ध होता है। इन सभी कर्म वर्गणाओं के लाने की तथा उत्पत्ति का मूल कारण मन ही है। इस मन को अगर अपनी आत्मा में स्थिर करोगे तो कर्म बंध के लिये अवकाश कहां से मिलेगा ? ॥८०॥

80. O, Aparajiteshwar ! The activities of mind cause anger and other passions, which, in

their turn, cause the movement of body and word The movements of body and word make way for the influ of karmic molecules, which bind the soul. The root cause of this bondage is mind, When. this mind becomes steady where shall it get time to bind the soul from ?

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह समझाया है कि—अज्ञानी मानव, विषय कषाय के वशीभूत होकर मन के संकल्प विकल्प और इन्द्रिय द्वारा अन्य क्रोधादि कषाय को उत्पन्न करके अनेक पापमय प्रवृत्ति के आधीन होता है। जैसे-जैसे इन्द्रिय कषायों की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे २ मन, वचन, काय तथा इन्द्रियों का खेल प्रारम्भ हो जाता है। अर्थात् हलन-चलन क्रिया बढ़ती जाती है। उस शरीर और वचनों के व्यापार से ही कर्म का आश्रय या प्राप्ति होती है। इन सब का मूल कारण मन ही है, अगर इस चंचल मन को स्थिर करके अपने आत्मा में लीन होने का यत्न किया जाय तो फिर कर्म का बन्ध कहा से होगा ? आत्म-स्वरूप में लीन होना ही संवर और निर्जरा के लिये कारण है।

१-कर्मास्त्रव कारण—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेयो ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परोहोदि ॥

जीव के जिन परिणामों से कर्म आते हैं उनको भावाश्रव और कर्मों के आने को द्रव्याश्रव कहते हैं।

भावास्रव का भेद–

मिथ्यादर्शनमुक्तलक्षणमसुभ्रंशादि कोऽसंयमः।
शुद्धावष्टविधोदशात्मनि वृषे मान्द्यंप्रमादस्तथा॥
क्रोधादिःकिल पंचविंशतितयो योगस्त्रिधा चास्रवाः।
पंचैते यदुपाधयः कलियुजस्ते तत्प्रदोषादयः॥२७॥

भावास्रव के पाँच भेद हैं। मिथ्यात्व, असयम, प्रमाद, कषाय, और योग। इन्हीं के विशेष भेद तत्प्रदोषादिक हैं, जैसा कि पहले शरीरादि द्वारा कषायों के द्वारा बताया गया है और फिर इसका विवरण सक्षेप में करेंगे।

मिथ्यात्वादि का वर्णन ७६ वें श्लोक के विवेचन मे किया गया है। अब केवल कर्माश्रय और निर्जरा के स्वरूप का विवेचन सक्षेप मे करेंगे।

असंयम–

प्राणघात—हिंसा आदि भावों को असयम कहते हैं, इस के बारह भेद हैं। इस में प्राणी संयम के छः और इन्द्रिय संयम के छै भेद हैं। पांच स्थावर—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति

और त्रस इन छै काय के जीवों की हिंसादि करना प्राणी असयम है। पांच इन्द्रिय और एक मन इन छहों को अपने अपने विषय से न रोकना इन्द्रिय असयम है। इस प्रकार असंयमके कुल बारह भेद हैं।

प्रमाद—

किसी भी काम में सावधानता न रखने को प्रमाद कहते हैं। यहाँ साधु अपेक्षा से है। अतएव * आठ प्रकार की शुद्धि, दश प्रकार का धर्म, तथा और भी धर्माचरणों में मन्दता करने को उस के सेवन करने में उत्साह न रखने को प्रमाद कहते हैं। ऐसे जानना चाहिये।

चार विकथा—स्त्री कथा, भोजन कथा, राष्ट्र कथा, और राज कथा।

चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ-इन्द्रिय, पांच-स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु और श्रोत्र अर्थात् कान। एक निद्रा और स्नेह इस प्रकार प्रमाद पन्द्रह है।

आत्मा के क्रोधादि रूप विकृत भावों को कषाय कहते हैं। इसके ५२ भेद हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायों में से प्रत्येक के चार २ भेद हैं, अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्याना-

---

* १—आठ प्रकार की शुद्धि—भिक्षा, ईर्यापथ, शयन, आसन, विनय, व्युत्सर्ग, वचन, मन और काय। २—उत्तम क्षमा मार्दव इत्यादि।

वरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इस के सिवाय हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक यह नौ भेद हैं। कुल मिलाकर कषाय के २५ भेद होते हैं। यद्यपि हास्यादिक को नौ कषाय कहते हैं न कि कषाय। फिर भी नौ कषाय शब्द का अर्थत् ईषत् अर्थात् कुछ नून्यता कषाय होती है। और थोड़ेसे भेद की विवक्षा नहीं भी की जा सकती है। अतएव कषाय शब्द से ही यहां उल्लेख, किया है। और आगम में भी कषाय २५ गिनाये हैं, इस लिये इस में किसी तरह की शका का स्थान नहीं रह सकता।

योग—मन, वचन और काय के द्वारा आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दरूप जोव्यापार होता है, उस को योग कहते हैं। अतएव आलवनकी अपेक्षा इस के तीन भेद है। मनयोग, वचनयोग और काययोग।

इस प्रकार भावाश्रव के भेद हैं। इन्हीं के उत्तर भेद मोक्षशास्त्रादि मे। "तत्प्रदोप निन्हवमात्सर्यान्तराया" आदि सूत्रों के द्वारा वताया गया है। ये मिथ्यादर्शनादिक और उनके तत्प्रदोपादिक उत्तर भेद समस्त और व्यस्त दोनों ही तरह से वंध के कारण वताये गये हैं। तथा जहां जो निमित्त हो वहां उस निमित्त के अनुसार स्थिति और अनुभाग की अपेक्षा से ज्ञानावरणादि कर्मों का, जैसे कि सूत्र में वताया गया है, वध होता

और प्रकृति प्रदेश की अपेक्षा से सभी कर्मों का वध हुआ करता है।

पहले और तीसरे गुण-स्थान मे ये पाच भेद पाये जाते हैं। सासादन और असंयत सम्यग्दृष्टी मे मिथ्यात्व को छोड़कर बाकी चार, सयतासयत और प्रमत्तसयत मे मिथ्यात्व तथा अविरत के सिवाय तीन, अप्रमत्त से लेकर सूक्ष्म साम्पराय तक कपाय और योग—एव उपशान्त कपायादिक मे एक योग ही पाया जाता है। चौदहवॉ गुण स्थान अयोगी है, और इस लिये वह अवधक है।

वंध का स्वरूप

स वन्धो वध्यन्ते परिणतिविशेपेण विवशी।
क्रियन्ते कर्माणि प्रकृतिविदुपो येन यदि वा॥
स तत्कर्माम्नातो नयति पुरुषं यत्सुवशतां।
प्रदेशां योवा स भवतिमिथः श्लेप उभयोः॥२८॥

पूर्ववद्ध कर्मों के फल का अनुभव करनेवाले-फल को भोगने वाले जीव के जिन परिणामों मे कर्म वधते हैं—परतन्त्र हो जाते हैं उसको वध कहते हैं। अथवा उसकर्म को ही वंध कहते हैं जो कि जीव को अपने अधीन कर लेता है। इसी तरह जीव और कर्म इन दोनों के ही प्रदेशों के परस्पर में प्रवेश हो जाने को भी वंध कहते हैं।

भावार्थ—यहां पर वध के जो तीन लक्षण किये गये हैं सो तीन अपेक्षाओं से हैं। पहला लक्षण करण साधन की अपेक्षासे और दूसरा कर्तृ साधन की अपेक्षा से तथा तीसरा लक्षण भाव साधन की अपेक्षा से है।

पहला लक्षण बंध के बाह्य और अन्तरंग दोनों कारणों की प्रधानता से किया गया है। बाह्य कारण योग और अन्तरङ्ग कारण मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुये विकार भाव हैं। योग का लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है कि मनो-वाक्-काय वर्गणाओं के अवलम्बन से जो आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द होता है उसको योग कहते हैं। यह भी जीव का ही एक विकार परिणाम विशेष है कि जिसके द्वारा बंधने वाले कर्म आया करते हैं। आते हुए कर्मोंको वा पुण्यपाप रूपसे परिणत होकर प्रविष्ट हुए जीवों को विलक्षण रूप में परिणमाकर उनको योग्य बना कर जीव के साथ सम्बद्ध करदेना अन्तरङ्ग कारण का कार्य है। क्योंकि पूर्वसञ्चित कर्मों के उदयसे प्राप्त हुये फल को भोगने-वाले जीव के जो राग-द्वेष या मोहरूप स्निग्ध परिणाम होते हैं। वे ही कर्मपुद्गलों को विशिष्ट शक्ति युक्त परिणमन को प्राप्त कर अवस्थित करने में निमित्त हैं किंतु योग जीव प्रदेश और कर्म स्कन्ध दोनों के परस्पर में अनुप्रवेश का कारण है। अतएव वह बहिरङ्ग माना जाता है। इस प्रकार ये दोनों ही जीव के परिणाम विशेषरूप कारण कर्मों का फल देने के लिये विवश कर

देते हैं। आगममें भी ये दो ही वध के कारण प्रधानतया माने गये हैं। यथाः—

जोगणिमिंतं गहणं जोगो मणवयण काय संभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरायदो समोहजुदो॥

इस प्रकार करण-साधन की अपेक्षा से यह वध का लक्षण हुआ। क्योंकि यहां पर वध के कारणों का ही प्राधानतया निर्देश किया गया है और असाधारण कारणों को ही कारण कहते हैं। किंतु कर्तृसाधनकी अपेक्षा से कर्म को प्रधान्य दिया जाता है। ऊपर बंध का दूसरा जो लक्षण दिखाया गया है उसमें कर्मकी स्वतन्त्रता की अपेक्षा है। इस अपेक्षा से जीव को अपने आधीन बना लेता है और भोक्तृतया आत्माके साथ सम्बद्ध होता है। उस कर्म को बंध कहते हैं। इसी तरह तीसरे भाव साधन की अपेक्षा से जीव और कर्म के परस्पर में प्रदेशानुप्रवेश होने को वध कहते है। यहांपर योग के द्वारा अनुप्रविष्ट हुए जीव प्रदेशवर्ती कर्म स्कन्धों का कषायादिक के निमित्त से उत्पन्न हुये विशिष्ट शक्तियुक्त परिणमन को धारण कर अवान्वित होना वध समझना चाहिये। आगम में भी ऐसा ही कहा है यथा—

परस्पर प्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः।
एकत्व कारको बन्धोरुक्मकांचनयोरिव॥

जिस प्रकार अनेक तरह से रस और शक्ति वाले फल फूलों को पात्र विशेष में रखने पर उस का मदिरा आदि परिणमन हो जाता है उसी प्रकार योग और कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले पुद्गलों का भी कर्म रूप परिणमन हो जाता है। यह परिणमन कारण की मदता तीव्रता आदि के अनुसार मंद तीव्र आदि हुआ करता है। किन्तु सामान्य से बंध के दो भेद हैं। एक भाव बंध, दूसरा द्रव्य बंध। राग द्वेष या मोह-रूप जो जीव के शुभ या अशुभ स्निग्ध, परिणाम होते हैं, उसको भाव बंध कहते हैं। और उसके निमित्त से शुभ या अशुभरूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ परस्पर में संबंध हो जाने को द्रव्य बंध कहते हैं. जैसा कि आगम में भी कहा है—

बज्जदि कम्मं जेणदु चेदण भावेण भावबंधो सो।
कम्मादप देसाणं अण्णोण्ण पवेसणं इदरो॥
पयडिठ्ठिदि अणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसाठिदि अणुभागा कसायदो होंति॥

प्रश्न—आश्रव और बंध दोनों हीमें मिथ्यात्व अविरत आदि कारण समान बताया है; फिर उनमें क्या विशेषता है?

समाधान—प्रथम क्षण में जो कर्म स्कन्धों का आगमन होता है उस को आश्रव कहते हैं। आश्रव के अनन्तर द्वितीयादि क्षण में जो उनका जीव प्रदेशों में अवस्थान होता है उसको बंध

कहते हैं, यह भेद है। तथा आश्रव में योग की मुख्यता है। और वंध में कषायादि की मुख्यता है, यही भेद है। जिस प्रकार राज सभा मे अनुग्राह्य या निग्राह्य पुरुष के प्रवेश करने में आदेश देने वाले पुरुष की मुख्यता होती है, और उस के साथ अनुग्रह या निग्रह करने मे राजा के आदेश की प्रधानता रहती है। उसी प्रकार आश्रव और बध के कारणों मे भी कंथचित् भेद समझना चाहिये। इसका खुलासा गोम्मट सारादि अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिये। इस तरह यह आत्मा शरीर और इन्द्रियों के आधीन हो कर कपायों से रञ्जित होकर पर परिणति में रमण करता हुआ अनन्त सुख दु खों का भोगी बन कर दु.खी हो रहा है।

इस लिये हे आत्मन्! यदि तू इन विषय-वासनाओं से मुख मोड़कर एक मन से अपने आत्मा में एकाग्र होते हुए शरीरादि इन्द्रिय तथा कषायों को दूर कर भेद विज्ञान के द्वारा आप अपने को पहचानकर उसी में समाधि लगायेंगे तो क्या परम, अखंड, अविनाशी परम पद मिलने में देरी लगेगी? नहीं। तब वह कर्म तुम्हारा क्या करेगा? अर्थात् कुछ नहीं करेगा।

गुणभद्र आचार्य ने कहा भी है कि.—

आराध्यो भगवान् जगत् त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता।
क्लेशस्तच्चरण स्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम्॥

साध्यं सिद्धिसुख कियान् परिमितः कालोमनः साधनं।
सम्यक् चेतसि चिंतयन्तु विधुरं किंवा समाधौ बुधाः ॥११२।

परम ज्ञान सम्पन्न तीनों जगत् के स्वामी परमात्म-समाधि में चिंतवन करता हुआ जिसे कि सभी श्रेष्ठ पुरुष अच्छा समझते हैं, उसी परमात्मा के चरणों का चिंतवन करना बस, इतना ही क्लेश हुआ समझना चाहिये। इस से कर्मों का धीरे-धीरे क्षय हो जाता है, इतना नुकसान हुआ समझना चाहिये। इस समाधि के धारण करने से फल क्या है? मोक्ष का फल अर्थात् शुद्धात्मा की प्राप्ति होना ही इस का फल है। इस के सिद्ध करने में समय बहुत सा लगता होगा? नहीं थोड़े से समय में ही इस समाधि की सिद्धि हो सकती है। इस के लिये सामग्री इकट्ठी करने में बहुत दिक्कत उठानी पड़ती होगी? नहीं अपना मन ही केवल साधनोपाय है। अब देखिये, समाधि के साधने में कितनी कठिनाई है? थोड़ी सी भी है या नहीं? इस बात का बुद्धिमान् मनुष्यों को खूब विचार करना चाहिये।

भावार्थ—तप से आत्मा की सिद्धि होना माना गया है। जैसे अग्नि में सुवर्ण को तपाने से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है, वैसे ही एकाग्र चित्त से अपने मन को अपने में रोक कर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तपों द्वारा आत्मा शुद्धहो जाता है। और अनन्त-सुख की प्राप्ति होती है। फिर इस दुःखमय संसार में इस आत्मा को परिभ्रमण करने की जरूरत नहीं पड़ेगी। इसलिये मुमुक्षु

ज्ञानी जीव को स्व पर भेद विज्ञान के द्वारा शरीर इन्द्रियों तथा कषाय भावनाओं को रोक कर आत्म-स्वरूप में लीन होकर आत्म-स्वरूप की प्राप्ति कर अनन्त सुखमय भण्डार में हमेशा रत होते हुए सुखमय अनुभव का निरन्तर पान करते रहना यही कर्म निर्जरा का कारण है ॥८०॥

आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि मन ही पुण्य पाप बंध तथा मोक्ष का कारण है।

मनद् कुभावमे दुरितमल्लि सुभावमे पुण्यमीयरे ।
ळ्मनदोळगिल्लदा मनमे तन्न निजात्मनोळैक्यमागिसु ॥
म्मने निले मोक्षमतंदरि नात्मनेतां पगे ताने बंधुवुं ।
तनगेविनियश्चयक्के गुरु ताने यला अपराजितेश्वरा ! ॥८१

अर्थः—हे अपराजितेश्वर ! मनका दुःख परिणाम ही पाप का मूलकारण है। और मनमें होनेवाला उत्तम तथा पवित्रपरिणाम ही पुण्य का कारण है। इस पुण्य और पाप दोनों से रहित होने वाले मनही अपने आत्म स्वरूप में ऐक्य याने लीन हो कर शान्त रहे तो मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस तरह होने से अपना आत्मा ही अपना भाई बंधु और गुरु नहीं है क्या ? ॥८१॥

81. O, Aparajiteshwar ! The root cause of sin is unauspicious attiudes and that of punya (merit) is auspicious attitude. If the mind

से अथवा मिथ्या अनात्मीय-विपयादि से हटकर साधु जो-समागम धर्मोपदेश, मोक्षमार्ग, तत्त्व ज्ञानादि मे रुचि करता है, वह शुभ अवस्था है। इसको कुछ लोग राजसी वृत्ति या रजो गुण कहते हैं, ऐसी शुभ अवस्था प्राप्त पर जब जोव की प्रवृत्ति आत्म तत्त्व की तलाश में और भी अधिक झुकती है, तब वह साधु समागमादि शुभ कामों से भी धीरे-धीरे मन को हटा कर केवल निर्विकार शुद्ध आत्मा के चिंतवन करने में लग जाता (लगादेता) है। इसी का नाम शुद्ध अवस्था है। प्रीति या राग उत्पन्न होने से आत्मा ससार मे रूदन करता है। इस लिए राग द्वेष को बुरा व हेयमाना है, परन्तु ससार सम्बन्धी रागद्वेप की अपेक्षा से साधु समागम, जिन पूजा-तत्वज्ञान आदि सम्बन्धी राग को अच्छा कहा है। यह शुभ राग ऐसा है कि विषयादि मे मोहित न होने देकर अपने पुरुषार्थ द्वारा एक दिन आत्मा को शुद्ध अवस्था में पहुँचा दे। वहा किसी भी वात का सकल्प विकल्प नहीं रहता। आत्मतत्त्व के अवलोकन के सिवा वाहरी सभी प्रकार की चीजों से मन हट जाता है। इस लिए ससार विपय सम्वन्धी राग को अशुभ हेय तथा अन्धकार के तुल्य कहा है और तत्त्व ज्ञानादि राग को शुभ कहा है, इस राग मे जीव मोहित न कर अपनी परणति को पुरुषार्थ द्वारा शुद्ध कर सकता है।

जैसे सूर्य मे लालिमा दो प्रकार की होती हैं प्रात: काल में और संध्याकालमें-लालिमा दोनों-एक प्रकार की दीखती हैं।

परन्तु सध्याकाल की लाली कुछ ही आगे चलकर सूर्य को अधेरे मे पटक देती है और जगत् में अन्धेरा ही अन्धेरा छा देती है इसलिये वह अत्यन्त निकृष्ठ लालिमा है। परन्तु प्रातःकाल की लालिमा ऐसी नहीं है वह कुछ ही देर के बाद सूर्य को अत्यन्त शुद्ध प्रकाशमान बना देती है और जगतमें भी प्रकाश ही प्रकाश फैला देती है इसलिए वह लालिमा बुरी नहीं है क्योंकि वह सूर्य को शुद्ध बनाने वाली है तथा इस लाली के बाद सूर्य अधकार में फसता नहीं है। इसी प्रकार तत्त्व ज्ञानादिक में राग उत्पन्न होनेसे जीव संसार विषय सम्बन्धी अशुभ राग वासना छोड कर शुभमें प्रवेश करता है वही राग आगे चलकर जीव को शुद्ध बना देता है इसलिए वह राग बुरा नहीं किन्तु अच्छा है। ग्रहण करने लायक है। इसलिये साधुओं को तत्त्व ज्ञान श्रुतज्ञान के तथा शास्त्रादिके अध्ययन में प्रीत रखकर ज्ञान संपादन करना चाहिये। इसमे प्रीति रखना बुरी नहीं है इस बात को और भी स्पष्टतया कहते हैं, देखिये—

विधूत तमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
सध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयायसः ॥

अर्थ—श्रुतज्ञान के विपय में उत्पन्न हुआ राग संसार विषय सम्बन्धी अधकार सदृश अशुभ राग का नाश करने वाला है। इसलिए वह जीव को स्वर्ग-मोक्ष-के उत्तम फल को देने वाला है।

अर्थात् सच्ची आत्मीय सम्पत्ति को बढ़ाने वाला है (आत्मा-को शुद्ध बनानेवाला है) इससे ऐसे रागको उत्तम कहना चाहिये। जैसे सूर्य की प्रातः काल सम्बन्धी लालिमा आगे चलकर सूर्य के प्रकाश व तेजको बढ़ानेवाली होतीहै, सूर्य को शुद्ध बनाने वाली है, इस लिए वह लालिमा सायंकाल की लालिमा की तरह सूर्य के लिये अहित का कारण नहीं है किन्तु हित साधक है, इस लिए वह ग्राह्य है, इसी प्रकार तप वह श्रुत ज्ञान-शास्त्राध्ययन मे साधुओं को प्रीति बढ़ानी चाहिये। वह कालान्तर में हित साधक होती है।

जो इस प्रकार ज्ञानाराधन नहीं करते उनकी दशा आगे दिखाते हैं। अशुभ राग का दृष्टान्त सहित फल—

विहाय व्याप्तमालोकं, पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन्, पाताल तलमृच्छति ॥

अर्थ—सूर्य जब कि मध्याह्न के फैले हुए शुद्ध प्रकाश की अव-हेलना करके शाम के समय उस राग में फँसता है, जिस से आगे चलकर अधकार में डूब जाता है—तब उसका उदय नष्ट हो जाता है, अर्थात् उसे अस्त होना पड़ता है।

इसी प्रकार जो सयमी साधु तत्व ज्ञानादिक अभ्युदयके कारण भूत सतोगुण मे से तो अपनी प्रीति हटाता है, और तामसी वृति को उत्पन्न करनेवाले विषयों में प्रीति करने लगता है तो वह

साधु अवश्य अज्ञान मोहादिक अधकार मे फसकर नरकादि के दु खों मे जाकर पड़ता है।

भावार्थ—सूर्य की प्रातःकाल सम्बन्धी अधकार में भस्म कर उसे गिरा देने वाली है। क्यों कि पूर्ण प्रकाश रूप शुद्ध अवस्था को पाकर भी उससे विमुख होकर जो रागान्ध बनता है उसने पाया हुआ उदय हाथोंसे खोदिया यों कहना चाहिये। इस लिये उस की दुर्दशा होना हीन दशा में पड़ना स्वाभाविक बात है। इसी प्रकार साधु भी जो तत्त्व ज्ञानादिक आत्मप्रकाश में साक्षात् पहुँचकर उससे विमुख सध्यारागकी तरह मोह अज्ञान उत्पन्न करने वाले विषय राग मे आशक्त होते हैं उनकी दुर्गति होना स्वाभाविक बात है किन्तु जो अध्यात्म, विचार तथा श्रुत ज्ञानादिक मे प्रीति करता है जिससे कि आत्मा की साक्षात् शुद्धि प्राप्त हो कर संसार क्लेश नष्ट होने वाला है और अन्तिम प्रति बोध तो जिससे तत्काल ही प्राप्त होता है, वह प्रीति सूर्यकी प्रात' काल सम्बन्धी लालीके तुल्य है इससे उदय व पूर्ण प्रकाश क्यों न उत्पन्न हो ?

यद्यपि शुद्ध दशा प्राप्त हो जाने से आगामी उदय बढ़ाने वाला प्रात. काल की लालिमा तुल्य शुभ राग है परन्तु जब तक शुद्ध दशा प्राप्त न हुई हो तब तक ग्राह्य है और जो सध्या काल के राग तुल्य विषय सम्बन्धी राग भाव है वह सदैव अहितकारी है तथा पाप कर्म बढाने वाला है इस लिये सदा ही

हेय है (त्याज्य है) किसी भी समय वह ग्राह्य नहीं हो सकता ।

इष्टरुमेन्नोळिर्दपरनिष्टरुमन्नोळे इर्दपं जिनो ।
द्दिष्टमिदिर्द मेले पोरगेननभिन्निपेनेनमाडुवें ॥
अष्ट गुणंगळोळ्नलिवुतोत्तरिसुत्तोडनष्टकर्ममं ।
दृष्टियनेन्नोळां निरिसि निंद्पे निन्न पराजितेश्वरा ! ॥८२॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! मित्र भी अपने में ही है और शत्रु भी अपने मे ही है । इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ यह सत्य वाक्य है । फिर मैं इसके अतिरिक्त बाहर क्यों देखता हूँ ? क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक ज्ञान इत्यादि आठों गुणों में सतोष करते हुए रहने से उसी समय ज्ञानावरण इत्यादि आठों कर्मों को दूर करते हुए अब मैं अपनी ज्ञानदृष्टि को अपने में स्थिर करके उसी में रहूँ उसी को देखूँ उसीमे खेलू अब मुझको अन्य वस्तु को देखने का क्या काम ? ॥८२॥

82 O, Aparajiteshwar ! It is a truth saidby Jinendradeva that the friend and foe of the soul is the soul itself. Then, why do I look out side ? By becoming satisfied in perfect belief, perfect knowledge the eight qualities of the soul I destroy Gyanavarniya etc , the eight karmas. Therefore I should now, making steady

the right vision of things in myself, live in myself see myself, get pleased in myself. What good is in looking at other things ?

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोकमें यह बतलाया है कि मन का कुत्सित परिणाम ही पाप और मन का उत्तम परिणाम ही पुण्य है। इस पाप पुण्य दोनों को हटा करके अपनी आत्मा में एक होकर उसमें स्थिर होने से मोक्ष की प्राप्ति होगी इस प्रकार ध्यान करने से आत्मा का साक्षात्कार होना ही अपना बन्धु है। निश्चय स्वरूप को प्राप्त करने के लिये अपना आत्मा ही अपने को गुरू है।

राग द्वेप को दूर करने के लिए इस प्रकार की भावना अपने आत्मा में करने की जरूरत है।

ज्ञान भावना का फल

ज्ञानमेव फलं ज्ञानं ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥१७५॥

ज्ञान की आराधना करने का या ज्ञान में मग्न होने का असली व उपयोगी फल यही है कि परोक्ष व अल्प श्रुतज्ञान हट कर सकल प्रत्यक्ष केवल ज्ञान का लाभ हो। यह फल अविनश्वर है व आत्मा को पवित्र तथा सुखी बनाने का कारण होने से स्तुत्य है। तपश्चरण करना धर्माचरण करना ज्ञानाभ्यासादि करना

यह सब इसलिये है कि अणिमा महिमा आदि ऋद्धि-सिद्धि व संपत्ति आदिकी प्राप्ति हो ऐसा मानना मोह का माहात्म्य है। जिन जीवों को मोह शान्त होकर आत्म तत्व की परीक्षा प्राप्त हुई है वे इन पराधीन क्षणनश्वर दुखमय संसार विषयों की अभिलाषा करते हैं घर का द्वार छोड़कर तपस्वी बनने पर भी उनकी यह अभिलाषा नष्ट नही हो पाती। इस मोह की महिमा का क्या ठिकाना है परन्तु यह खूब समझ लो कि चाहने से कुछ मिलती नहीं है।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अंगारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत्॥

शास्त्रों का ज्ञान होने से वस्तुओं का सच्चा प्रकाश होता है और कर्मकलक जल जाते हैं। इसलिये शास्त्र ज्ञान एक प्रकार की अग्नि है। अग्नि पड़ने से रत्न जैसे शुद्ध होकर चमकने लगता है वैसे ही निर्मोही हुए भव्य जीव शास्त्र ज्ञान में मग्न होकर कर्म कालिमा को जला डालते हैं और निमल होकर अथवा कर्मो मे छूट कर प्रकाशमान हो जाते है। और जिनकी विषय वासना छुटी नहीं है ऐसे मोही जीव शास्त्रज्ञान में प्रविष्ट होकर भी आधे जले हुए अंगारे की तरह चमकते तो हैं परन्तु मलिन ही बने रहते है। अन्त में जब कि पूरे जल चुकते हैं तो भस्म की तरह प्रकाश से भी शून्य निस्सार हो जाते हैं। ठीक ही है मोही

जीव यदि ज्ञान का सम्पादन भी करे तो भी अन्त में विषयासक्त होकर अज्ञानी बन जाते हैं जीव कर्म करने से वे मलिन दीखने लगते हैं व विवेक शून्य हो जाने से अन्त में भस्म की भांति निस्सार दीख पड़ने हैं। परन्तु ज्ञानी उसी शास्त्र ज्ञान के द्वारा पवित्राचरण रखता हुआ चमकता है अन्त में शुद्ध बन जाता है।

निर्मोही साधुओं की शुद्ध ज्ञान भावना

मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः॥

अपने श्रेष्ठ ज्ञान को बारम्बार पसार कर यथा स्थित सर्व तत्वों को देखे और राग द्वेष को छोड कर उन तत्वों का बार बार जैसा का तैसा चिंतवन करे। ऐसा आत्मवेदी वीतराग के हाथ से ही हो सकता है।

पर जो कि मोही हैं वे जिस पदार्थ को देखने लगते हैं उस मे उनकी प्रीति नहीं, बल्कि अप्रीति अवश्य व तत्क्षण उत्पन्न हो जाती है। वह उत्पन्न हुए बिना रहती नहीं और वह उत्पन्न हुई कि जीव को कर्म बन्धन तैयार है। देखो—

वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिभवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोमन्थानुकारिणः॥

आवृत्ति किसी वस्तु को अपनाना या अपनी तरफ खींचना। परिवृत्ति किसी वस्तु को अहितकारी समझ कर उसे दूर करना या उससे मन हटाना। अर्थात् राग व द्वेष। ये जबतक जीव से छूटे नहीं हैं तब तक वस्तुओं के ग्रहण करने से भी कर्मबन्ध होता है। व समय पाकर उदय प्राप्त होता है और वस्तुओं के छोडने से भी कर्मों का बन्ध व उदय होता है क्योंकि वस्तुओं का छोड़ना व ग्रहण करना उन दोनों ही अवस्थाओं में राग द्वेष जाज्वल्यमान बना हुआ है।

वेष्टन बन्ध होना। उद्वेष्टन फल देते हुए कर्मों का छूटना है। दोनों बातें तब तक अवश्य बनी हुई रहती हैं जब तक कि ाग द्वेष या इच्छा पूर्वक बुरा भला मान कर वस्तुओं के छोड़ने ारने की चिन्ता में मग्न रहना, अनात्मज्ञानी बन कर कर्मबन्ध से जकड़ना, उदयकाल आने पर और भी अधिक मोहित होकर उन्मत्तवत् दुखी होना, इधर उधर जन्म धारण करते हुए भटकना बना रहताहै.इसीका नाम भवभ्रमण है,जबतक राग द्वेष है यह भ्रमण तब तक नहीं छूटेगा। जैसे रई में पड़ी हुई रस्सी को मनुष्य जब तक साधकर निकालना तो न चाहे किन्तु एक डोर को खींचता रहे एक को ढीला करता रहे तो रई के चक्कर कभी बन्द न होंगे। उसके खींचने से भी बल पड़ते हैं और ढीला करने से भी बल पड़ते हैं। भ्रमण उसका तभी बन्द होगा जब कि उसमें से रस्सी को बिल्कुल निकालकर अलग कर दिया जाय। यही उपाय जीव

के छूटने का है यही बात आगे कहते हैं। देखो —

मुच्चमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम्॥

जीव में यदि राग द्वेष बने हों तो कर्म बन्ध के छूटते समय भी राग द्वेष के वशीभूत होने के कारण भवभ्रमण तथा नवीन कर्म बन्धन होता ही रहेगा। अर्थात् कर्म बन्धनों का छूटना ही केवल कल्याणकारी नहीं है। क्योंकि राग द्वेष के रहते हुए एक कर्म के छूटते ही दूसरा कर्मबन्धन जकड़ जाता है। इसलिये वह छूटना किसी काम का नहीं है। इसलिये यदि वास्तविक कर्म बन्धन से छूटना हो तो इस तरह से उसे छोड़ना चाहिये जिससे कि बहु भ्रमण व नवीन कर्म बधन होना रुक जाये। उस का एकमात्र यही उपाय है कि राग द्वेप हटाकर पूर्व कर्मों की निर्जरा की जाय। नहीं तो 'तदन्धरज्जुवल न स्नानं गजस्याथ वा' इस पूर्वोक्ति के अनुसार सदा ही जीव दुखी व कर्म परतत्र रहेगा। क्योंकि—

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानाभ्यां ताभ्यामेवेच्यते मोक्षः॥ १८०॥

जब तक राग द्वेष है तब तक जीव की कुल प्रवृत्ति व निवृत्ति ससार के विषयों मे ही रहेगी और इसलिये तब तक कर्म बन्ध

होगा। किन्तु राग द्वेष छूटकर शुद्ध होजाने पर तत्त्व ज्ञान द्वारा जो प्रवृत्ति व निवृत्ति होगी वह आत्मा को कुछ लक्ष्य बनाकर होगी। इसलिये इस प्रवृत्ति से भी कर्मबन्धन छूटेगा और निवृत्ति सेभी छूटेगा। प्रवृत्ति हुई तो आत्म चिंतवन में या आत्मा की अद्भुत चेतनादि मे शक्तियों की महिमा विचारने में होगी। यदि निवृत्ति हुई तो अध्यात्म भावना में आने वाले विषयों से होगी। पर ये दोनों ही शुद्ध विचार को बढ़ाने वाली बातें है। इसीलिये तत्त्व ज्ञान पूर्वक प्रवृति करते रहना चाहिये। इससे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होगी। इसी का समर्थन—

द्वेषानुराग बुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीतं पुण्यं तदुभयरहितयोर्मोक्षम् ॥१८१॥

जीव की मानसिक भावना एक तो रागद्वेष पूर्वक होती है और एक वीतराग हो कर तत्त्वज्ञानी बनने पर होती है। रागद्वेप मिश्रित भावना भी किसी की तो स्वार्थपूर्ण अन्याय भरित पक्षपात् पूर्ण होती है और किसी की पक्षपात रहित न्याया-नुकूल होती है। पहली अशुभ है दूसरी शुभ है। वीतराग की जो भावना होती है वह तीसरी शुद्ध है, मुक्ति का कारण है।

अर्थात् गुणों के साथ द्वेष सन्मार्ग के साथ द्वेष सज्जनों के साथ द्वेष न्यायमार्गके साथ द्वेष एवं दोषों में या नीच कर्मों के साथ में राग दुर्जनों के साथ राग अन्यायमार्ग में चलने की

इच्छा इत्यादि अशुभ कर्मों के साथ राग व शुभ कर्मों से द्वेष होना यह पापकर्मो के बन्ध का कारण होता है। इससे उल्टी प्रवृत्ति अर्थात् गुण व गुणी जनों में तथा न्याय मार्ग धर्म कार्य आदि में प्रीति होना और दोष व दुष्ट जनों से तथा अन्यायमार्ग-अधर्ममार्ग से द्वेष रखना शुभ कर्म है। इससे पुण्य कर्म बन्ध होता है। परन्तु जिस की बुद्धि में गुण व गुणी देखकर आनन्द नहीं होता और दोष व दुष्ट जनों को देखकर द्वेष नहीं होता ऐसी जो रागद्वेष रहित शुद्ध बुद्धि है वह मोक्ष का कारण है। वह बुद्धि जिसे प्राप्त हो जाती है वे संसार से छुटकारा पाकर सदा के लिये पवित्र व सुखी बन जाते हैं।

भावार्थ यह है कि रागद्वेष न तो भले कामों में ही अच्छा है और न बुरे कामों में। क्योंकि कर्मबन्धके कारण प्रत्येक राग-द्वेष हैं ही। इसी लिये जिसे अपना परम कल्याण करना इष्ट है उसकी भावना राग द्वेष छोड़कर केवल शुद्ध ज्ञान में रहनी चाहिये। रागद्वेष का नाश कैसे हो.—

मोह बीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाकुँराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधक्षुणा ॥१८२॥

रागद्वेष की उत्पत्ति मोह कर्म से होती है। अर्थात् रागद्वेष की उत्पत्ति के लिये मोह कर्म बीज के समान है। जिस प्रकार कि वृक्ष के अकुर व जड़ की उत्पत्ति उसके बीज से होती

है। जैसे बीज अग्नि से जल सकता है वैसे ही उस मोह बीज का जलाने वाला अग्नि भी कोई होना चाहिये। मोह अज्ञान व विपरीत ज्ञान उत्पन्न करने वाला है। इसलिये इसको जला-डालने वाला अग्नि सम्यग्ज्ञान हो सकता है। जब कि मोह की अनर्थकारी रागद्वेष का निदान कारण है तो उसे ज्ञानाग्नि से भस्म कर देना गाहिये। क्योंकि रागद्वेष अनर्थकारी हैं। इस लिये उन्हें नष्ट करने का तो विचार साधुओं का रहता ही है। और भी देखोः—

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः संगतिः सरुक्।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुध्यति रोहति ॥१८३॥

मोह ऐसा दुःखदायक है जैसा कि एक फोड़ा। अथवा फोड़े से भी अधिक। देखिये फोड़ा जो बहुत दिनों का हो जाता है वह अधिक पीड़ा देने लगता है। मोह की तो कुछ मर्यादा ही नहीं है कि अमुक समय उत्पन्न हुआ था। मोह अनादिकलीन है। तो फिर इस की विपमता व दुःख का क्या ठिकाना लग सकता है। इसी लिये फोड़ा की वेदना होते हुए भी जीवों को सचेतनता बनी रहती है। परन्तु इस मोहरूप फोड़ेने जीवों की सावधानीतक नष्ट कर दी है। इतनी बड़ी वेदना इस मोहसे प्राप्त हो रही है!

फोड़ा आदि रोगोंकी उत्पत्ति में विरोधी ग्रह निमित्त होभी

जाया करते हैं। इसी प्रकार मोह की उत्पत्ति में परिग्रह की आसक्तिता कारण हो रहा है। यदि परिग्रहों में आसक्ति न होती तो मोह की उत्पत्ति व वृद्धि भी कभी नहीं होती। अज्ञान व रागद्वेषादिक उपजना सब मोह का कार्य है व मोह का कारण है।

फोड़ा बढ़ जाता है तो वह गहरा घाव कर देता है पर मोह की गहराई का तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। जो अनादि काल में पैदा होकर सदा बढ़ रहा है उस मोह की गहराई का क्या ठिकाना है?

मोह नरकादि गतियों को प्राप्त कराने वाला है और फोड़े से पीव वगैरह प्राप्त होते हैं। पीड़ा देने वाले तो दोनों हैं ही। यदि इतना दुःखदायक है तो यह कैसे ठीक हो।

मोह के ठीक होने का उपाय यह है कि परिग्रहों से वासना हटालो। अपने शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाओ। बस इस में मोह धीरे २ निर्मूल हो जायगा। जब तक विषय वासना हटकर आत्मज्ञान नहीं होता तब तक मोह की वृद्धि बढ़ती रहेगी। जिस प्रकार कि फोडे को सुखाना हो तो पीव वगैरह जो निकलता है उसे धो धोकर घाव पटाते रहना चाहिए और उत्तम लोनी आदि चीजों की बनी हुई मलहम उस पर लगाते रहना चाहिए। ऐसा करने से फोड़ा भीतर से साफ भी होता है व ऊपर से भर कर चमड़ा पुरकर बराबर भी हो जाता है। ठीक यही दशा

मोह की है। इसलिये मोह को भी आत्मानुभव के मलहम से साफ या नष्ट कर देना चाहिए।

तब यह देखना चाहिये कि मोह जहां उत्पन्न होता है वहा की क्या अवस्था है जिन चीज़ों से मोह हो जाता है वे चीजें यदि परिपाक में वास्तविक दुःख के साधक हों तो उनमें मोह करना वृथा है। देखोः—

> सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुखयन्तो यदि द्विपः।
> सुहृदोपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितु मृताः ॥१८४॥

सुहृद व बन्धु जन यदि सुखी बनाने वाले होते और जो दुख हैं वे यदि शत्रुता से होते हैं तो सुहृद भी मरने पर दुख देते हैं इसलिए जग में जीव का कोई सुहृद हो ही नहीं सकता है। जब कि सुहृदों का मरण होता है तब प्राणी इष्टवियोग समझकर दुःखी अवश्य होते हैं। अहो भाइयो ! पर तुम इतना विचार नहीं करते कि बन्धुजन तुझे जीते तो आकुलता व प्रेम बन्धन में फँसाकर दु.खी करते हैं और मरते हुए इष्ट वियोग मनवाकर दु खी करते हैं। तो भी तुम उनके लिये शोक ही करने बैठते हो, यह कहां की बुद्धिमानी है ? जो मरते मरते भी दुःख देने से बन्द न पड़े उसे सुहृद मानने की क्या जरूरत है ? उसमें व एक हाड़ वैरी में क्या अन्तर रहा ? तुम यह विचार नहीं करते क्या। और भी देखो.—

अपरमरणे मत्वात्मीमानलङ्घ्यतमे रुदन्,
विलपतितरां स्वस्मिन् मृत्यो तथास्य जडात्मन् ।
विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा,
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतोपि न केनचित् ॥१८५॥

मरण तो अवश्य है परन्तु प्राणी पुत्र कलत्रादि के मरने पर उन्हें अपना मानता हुआ रोता पीटता है। अपने मरण को भी पास आते जानकर विचारकर खूब रोता है। यदि निर्भय होकर मरने के समय सावधानी व धीरता धारण करे तो परलोक भी सुधरता है और साहसी होने के कारण कीर्ति भी अतिशय बढ़ती है। इस लिये कदाचित किसी कारण वश यदि किसी का मरण हो तो बुद्धिमान् जन उसका शोक क्यों करेंगे ? शोक उसी मूर्ख को होगा कि जो इस बातको समझता नहीं है। जो मरण से निर्भय होते हैं। उनके साहस की लोग भी अति प्रशसा करते हैं और रागद्वेष का उद्वेग न बढ़ने से परजन्म भी बिगडता नहीं है। परन्तु ऐसी समझ मूर्खों को कहां से हो। यह समझ तो बुद्धिमानों को ही हो सकती है।

मनुष्य जब तक पर वस्तुओं से राग द्वेष की भावना रखता है तभी तक दुःखी है। जब कि यह भावना छूटी कि वास्तविक सुख उत्पन्न होता है। देखोः—

दुःख दूर करने का उपाय

हानेः शोकस्ततो दुःखंलाभाद्रागस्ततः सुखम् ।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात् सर्वदा सुधीः ॥१८६॥

प्राणी किसी एक वस्तुको जब कि इष्ट समझ रहा है तो उस की हानि होने पर उसे शोक पैदा होता है। शोक हुआ कि दुःख होना ही चाहिए। इसी प्रकार उस इष्ट मानी हुई चीज के मिलने पर प्रेम बढ़ता है। वह प्रेम बढ़ा कि सुख प्रतीत होने लगता है यह अवस्था अज्ञानियों की है। यद्यपि शोक से दु ख व प्रीति होने से सुख जान पडता है। पर वह सुख भी आकुलता पूर्ण होने से असली व अविच्छिन्न रह नहीं पाता तो किसी की हानि होनेपर शोक करना व किसी का लाभ होते प्रीति करना यह छोड़ दो। ऐसा करने से सदा सुख ही सुख रहेगा और वह सुख ऐसा होगा कि जिस की फिर विच्छेद कभी न हो सके। पर यह विचार उसी को होगा जो कि सच्चा बुद्धिमान् होगा। इस प्रकार से यदि विषयों की हानि लाभ में राग द्वेष करना छोड़ दिया जाय तो निरविच्छन्न सुख अवश्य मिल सकता है देखो:—

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसन्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ॥१८७॥

पूरी निराकुलता होना असली सुख है। दु:ख नाम आकुलता का है। आकुलता का कारण विषय है। वह यदि रहे तो आकुलता बढती है नहीं तो नहीं। इसी लिए संपूर्ण विषयों को छोड़कर विरक्त होकर बैठने से सदा सुख ही प्राप्त हो सकता है।

और इसीलिए वह जीव इस जन्म में भी सुखी रह सकता है व परलोक मे भी सुखी ही रहेगा; किन्तु जब तक विषय-वासना छूटी नहीं है तब तक दु:ख ही दु:ख है। विषयासक्त जीव यहा तो आकुलतावश दु:खी रहते हैं और पर जन्म के लिये भी पाप कर्म कमाकर लादे जारहे है। जिससे कि वे पापके उदयसे वहाँ भी सदा दु:खी ही बने रहते हैं। इसलिए कल्याणकी इच्छा है तो विषयों से उदास हो कर रहो, तो तुझे सुख ही सुख मिलेगा। और जब तक उदास नहीं हुए तब तक दु:ख ही दु:ख है।

अरसुवेनेन्न देहदोळगेन्ननेकाणवेनमूर्त सिद्धनं।
पोरगोळगेल्लमं लोळेदुतिंगळ पुत्तळि माडिनोडुवें॥
तर बुवेनल्लिये मनमनागळे वाह्यसमस्तचिंतेयं।
मरेवे ननन्त सौख्यदोगाळ्दपे ननपराजितेश्वरा!॥८३

अर्थ—हे अपराजितेश्वर! अब मैं अपने शरीर में ही अपने को ढूंढता हूँ, अपनेको देखता हूँ, अन्दर और बाहर संपूर्ण अंगो को धोकर चन्द्रमा के समान उज्वल तथा निर्मल करके अमूर्त ऐसा सिद्धात्मा को देखता हूँ, मनको उन सिद्धात्मा में ही स्थिर कर

रखूं, तव उस समय में ही वाहरके सर्व चिंताओंको भूल जाऊ, और अनन्त सुखमें डूव जाऊं, और अन्य क्या ? ॥८३॥

83. O, Aprajiteshwar! Now I seek myself in the body, see myself pure as formless Siddhatama, make my mind steady in myself. (I am sure) I shall dive in the infinite bliss forgetting the external.

विवेचन:—ग्रन्थकार ने समझाया है कि अरहन्त भगवान् ने इस तरह हमे समझाया है कि सपूर्ण रागद्वेप मोह इत्यादि को दूर हटाकर अपने अन्दर ही स्थिर हो कर यदि विचार किया जाय तो शत्रु भी अपने अन्दर है और मित्र भी अपने अन्दर ही है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने कह दिया है कि इस पर श्रद्धा रखना ठीक है। अगर ऐसा है तो फिर हम वाहर क्या देखते हैं, क्या करते हैं, क्या आचरण करते हैं, कहाँ भ्रमण करते हैं तथा कौन २ सी क्रियाएं करते हैं इसका ध्यान रखना चाहिये। इस ज्ञानी जीव को क्या करना उचित है ? सपूर्ण वाह्य पदार्थों को दूर कर क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक ज्ञान इत्यादि आठों गुणोंसे युक्त होते हुए, अपने स्वरूप में रत रहते हुये तथा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों को हटाते हुए ज्ञान दृष्टि को अपने में स्थिर करना उचित है ।

मूल सम्यक्त्व जिसे दूसरे शब्दों में क्षायिक सम्यक्त्व कहते

हैं। उसकी सिद्धि होना कहा है। वह आत्मा का एक गुण तथा पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थ की सिद्धि को जैनाचार्यों ने क्षायिक सम्यक को उद्वेग करने वाला एक का अंक मूल में माना है। और तीन गुप्ति, चौदह मार्गणा, चौदह गुण स्थान, सात सयम नव केवललब्धि, इस प्रकार सैंतालीस सुन्न के ध्यान द्वारा आत्मा की सिद्धि का वर्णन किया है। जिससे यह हमारा आत्मा जो कि अनादि काल से चतुर्गति रूप संसार में भटक रहा है (दु ख पा रहा है) वह मुक्त हो कर त्रिकालदर्शी परमात्मपद प्राप्त करे, इसी हेतुका इस कारिका में क्षायिक सम्यक्त्व के आधार वर्णित सैंतालीस विषयों से या उनकी विभक्ति द्वारा ध्यान करना या योगाभ्यास करना कहा है। जैसे:—

सिद्धि विशेष सुन्न स्वभाव दीप्ति चौदह ।
दृष्टि चौदह, सर सात, उत्पन्न नव त्रिलोक उत्पन्न ॥

शब्दार्थ.—विशेष सिद्धि, सम्यक्त्व का उदय, सुन्न स्वभाव= मन वचन काय, त्रिगुप्ति की एकता, दीप्ति चौदह=चौदह प्रकार प्रकाश (मार्गणा आत्मसत्ता का ज्ञान) दृष्टि चौदह=सम्यक्त्व श्रद्धान को यथावत् जानना (अर्थात् गुण स्थान) सरसात= अन्तरंग परिणित (संयमरूप सप्त सरोवरों का अन्तरंग चारित्रा-चरण पर अवगाहन)।

उत्पन्ननव=नव केवल लब्धियों की प्राप्ति का क्रमाभ्यास

उत्पन्न त्रिलोक=तीन लोक का ज्ञान होना अर्थात् सर्वज्ञ पद प्राप्त होना।

क्षायिक सम्यक्त्वः—और सम्यक्त्व वस्तुतः एक ही चीज है। आचार्यों ने भेद विवक्षा से या उनकी विभक्ति द्वारा तीन (क्षायिक, क्षयोपशम (वेदक) क्षायिक) भेद रूप किसी ने दश भेद रूप (१ आज्ञा, २ मार्ग, ३ उपदेश, ४ सूत्र, ५ बीज, ६ संक्षेप, ७ विस्तार, ८ अर्थ, ९ अवगाढ़ १० परमावगाढ़) माना है।

जब कि जैनाचार्य ने ६ भेद रूपसे (१ मूल सम्यक्त्व, २ आज्ञा सम्यक्त्व, ३ वैदिक सम्यक्त्व, ४ उपशम सम्यक्त्व, ५ उपशम सम्यक्त्व, ६ शुद्ध सम्यक्त्व) को माना है।

उपरोक्त दूसरे आचार्यों की अपनी अपनी भेद विवक्षा- उपयुक्त होने पर भी श्री जैनाचार्यों ने जिस क्रम को अपनाया है और ६ भेद रूप माना है वह सरल मार्गानुसारी क्रमबद्ध और अनुभव करने की दृष्टि से विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है। इस क्रम का संक्षिप्त दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है।

१. मूल सम्यक्त्व.—जिसे नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने मिथ्यात्व के नाम से कहा है। जिसमें यह आत्मा मिथ्याश्रद्धान को लिए संसारी बन रहा है उसे ही जेनाचार्यों ने मूल सम्यक्त्व कह कर उसे बाहर निकालने का प्रयत्न कर आगे बढ़ने का संकेत किया है।

इसे सम्यक्त्व मानने का प्रबल कारण यही है कि उस मिथ्यात्व को भी सत्य मान कर सत्यतासे ग्रहण कर रहा है और उस मिथ्यात्व से कल्याण होना मानता है। इतनी उस आत्मामे पवित्रता है जो उपदेश ज्ञान के अभाव से है। जिसे मिथ्यात्व का इतना गाढ़ श्रद्धान है, वह सत्संग या सदुपदेश का भी इतना श्रद्धान कर लेगा ऐसा माना गया है, सम्भव होता है।

२. आज्ञा सम्यक्त्व—में छह द्रव्य (जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश,काल) पचास्तिकाय (जीवास्ति,अजीवास्ति, धर्मास्ति, अधर्मास्ति,आकाशास्ति) सात तत्व (जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, और मोक्ष) नव पदार्थ (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष) ऐसे सत्ताइस तत्वों को जिनेन्द्रदेव ने जैसा वर्णन किया है उसी प्रकार श्रद्धान करने को जैनाचार्यों ने आज्ञा सम्यक्त्व (अधिगमज) कहा है। यही सत्ताइस तत्त्वों का श्रद्धान स्वतः स्वभाव आत्मा में जागृत हो तो निसर्गज कहलाता है। किंतु परिणामों की अपेक्षा से कोई भेद दोनों में नहीं है।

गो० जी० ५६०

षट्पंचनवविधानामर्थानां जिनवरोपदिष्टानाम् ।
आज्ञया अधिगमेन च श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥५६०॥

३. वेदक सम्यक्त्वः—जिसे क्षयोपशम भी कहते हैं। उपरोक्त सत्ताइस तत्त्वों का श्रद्धान् आत्मा में किया है उसका वेदन (ज्ञान) करना। वारम्बार के अभ्यास करने रूप आत्मज्ञान का आनन्द लेना ही वेदक सम्यक्त्व है, जिसके बल से आत्मा अनन्त कर्मों का क्षय करना प्रारम्भ कर देता है। यही सम्यक्त्व की श्रेणी मानना उपयुक्त है, जब कि किन्हीं आचार्यों ने इसे उपशम के बाद लिया है, और जैनाचार्यों ने वेदक को लेकर बाद में उपशम को स्थान दिया है।

४. उपशम सम्यक्त्व.—इसे प्राप्त करने के बाद (साधक) वेदक (ज्ञान) के बल से कषायादि अनन्त कर्म प्रकृतियों को इस तरह उपशम कर लेता है जैसे जल मिश्रित रजकण जो जल के नीचे बैठ जाते हैं और स्वच्छ निर्मल जल ऊपर दृष्टिगत होने लगता है। उसी स्वच्छ जल की भांति यह साधक की आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर परम आनन्दित होता हुआ मोक्ष ऐसे सुख का अनुभव करने लगता है, जिसे आचार्य ने भाव मोक्ष कहा है।

वेदक (क्षयोपशम) में उन अनन्त कर्मप्रकृतियों की क्षय होने की दृष्टि से ही दूसरे आचार्यों ने वेदक को उच्च स्थान दिया है। इस दृष्टि से उनकी यह मान्यता भी सर्वथा उपयुक्त है, कोई बाधक नहीं।

५. क्षायिक सम्यक्त्वः—इस में मिथ्यात्व प्रकृतियों का इस

भांति सर्वथा क्षय हो जाता जैसे कि जल मिश्रित रजकण सर्वथा निकाल देने से स्वच्छ जल रह जाता है।

तदनुसार वह साधक अपने आत्मस्वरूप को मिथ्यात्व प्रकृतियों से सर्वथा रहित कर अपने शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव का पान करता है। (रसिक बना रहता है) उसका वह आत्मिक आनन्द दर्शन मोहनीय के द्वारा कभी नष्ट नहीं होता और समय पाकर यही क्षायिक सम्यक्त्व उस आत्मा का चरित्र मोहनीय नाश कर उसे बारहवें गुणस्थान मे पहुँचा देता है, जिसकी दशा का वर्णन छहढाला में दौलतराम जी ने किया है।

जिन परम पैनी सुबुध छैनी डार अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि से निज भाव को न्यारा किया।
निज माँहि निजके हेत निज कर आपको आपहि गह्यो।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मझार कुछ भेद न रह्यो॥
जह ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहा।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना किरिया तहां॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा।
प्रगटी जहा दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा॥
परमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आनभाव जो मोविषै॥

मैं साध्य साधक मैं अवाधक कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित्पिण्डचड अखंड सुगुण करंड च्युत पुनि कलनितैं॥

यों चिंत्य निज में थिर भये तिन अकथ जो आनन्द लह्यो.
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो॥

अर्थात् आज्ञा सम्यक्त्व से चायिक सम्यक्त्व तक की अवस्था प्राप्त करने का अधिकारी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टिश्रावक भी होता है, जब कि चायिक सम्यक्त्व की सर्वाङ्ग परिपूर्ण अवस्था वारहवें चीणमोह गुणस्थान में होती है। यही पूर्णावस्था अपने अन्तर्मुहूर्तकाल में केवल ज्ञान प्रकाश करने में समर्थ होती है।

अतएव जीव मात्र का कर्त्तव्य होता है कि अपने आपको मिथ्यात्व गुणस्थान से जिस में अनन्तानुवन्धी चार कपाय और तीन मिथ्यात्व का सद्भाव रहता है उसे निकालकर अविरत सम्यक्त्व चौथे गुण स्थान को प्राप्त कर वेदक सम्यक्त्व उपशम सम्यक्त्व और चायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करे। अव्रती से व्रती श्रावक (प्रतिमाधारी) वने तथा प्रतिमाधारी की जो व्रती उच्च दशा चुल्लक ऐलक तक पहुंच मुनि व्रत धार अपने ध्यान (योगाभ्यासादि साधनों) द्वारा वारहवें गुण स्थान चीणमोह में पहुच कर केवल ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश करे।

एकमात्र इसी दृष्टि से जैनाचार्यों ने सिद्धि विशेष से सुन्न

स्वभाव की रचना की है जिसके फलस्वरूप यह आत्मा अपने शुद्ध सम्यक्त्व को जो सर्वाङ्ग आत्म ज्ञान स्वरूप है (केवलज्ञान स्वरूप है) प्राप्त करे।

६ शुद्ध सम्यक्त्व.—इस अवस्था का कथन एक मात्र इतने में ही समाप्त हो जाता है कि यह वह दशा है कि जिस में आत्मा पर कोई लेश मात्र भी सम्यक्त्व के बाधक कारण नहीं होते अर्थात् चार घातिया कर्मों के नाश होने पर ही यह शुद्ध सम्यक्त्व होता है। यही सम्यक्त्व की उच्चतम श्रेणी जैनाचार्यों ने मानी है। जिस की प्राप्ति पर ही आत्मा त्रिलोकदर्शी त्रिकालज्ञ केवल ज्ञानी या सर्वदर्शी परमात्मा कहाता है।

सुन्न स्वभावः—आत्यन्तिक एकाग्रता या योग निग्रह को कहते हैं। योग निग्रह से जो एकाग्रता प्राप्त होती है, उसे ही सुन्न स्वभाव कहा है । इस में मन वचन काय योगों को वश में करना ही त्रिगुप्ति है अतः इस सुन्न स्वभाव में त्रिगुप्ति का बोध कराते हुए श्री जैनाचार्यों ने उपदेश दिया है कि सम्यक्त्व प्राप्ति में तीन गुप्तियों द्वारा आत्म सत्ता का बोध (ज्ञान) प्राप्त करो। बढ़ती हुई आत्मश्रद्धान की दृढ़ता या दर्शन प्राप्त करो। सयम रूप अन्तरग चारित्र की वृद्धि करो। इन्हीं तीनों की प्राप्ति करना मोक्षमार्ग है।

अब चौदह मार्गणा का क्रमशः वर्णन किया जाता है।

गुण जीवा पज्जत्तो पाणा सण्णाय मग्गणा ओय ।
उवओगो विय कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा ।।२।।

गुणस्थान, जीव, समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा मार्गणा, उपयोग इन सात स्थानों से वीस प्ररूपणा का पूर्वाचार्यों ने कथन किया है जिनका सन्क्षेप में कथन किया जाता है। जिनका पाना हर जीव मात्रको किसी भी योनिमें आवश्यक होता है और जिस का ध्यान रखकर ही वह उन्नति के शिखर पर चढने का प्रकाश प्राप्त कर सकता है। यही उसका पाया हुआ प्रकाश पथ प्रदर्शक बनेगा इस से ही जैनाचार्यों ने चौदह मार्गणा की दीप्ति सज्ञा दी है। क्योंकि इस प्रकाश काअवलोकन स्थावर और त्रस काय सभी जातियों में से एक मनुष्य जाति ही कर सकती है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही उस ध्यानी साधक को उपदेश दिया गया है कि जो अपने कल्याण मार्ग की रुचि रखकर पथारूढ़ बनने को अग्रसर हो गया है ।

१. गुण स्थान.—मोह और योग से होने वाली आत्माके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुणों की अवस्थाओं को कहते हैं। जिसमें मोह को छोड़कर योग को संकोचकर उन्नति के पथ पर दृष्टि लगाई जाती है । और अपने अभीष्ट के प्राप्त करने में सफली भूत होते हैं । ये चौदह हैं जिनका वर्णन आगे

किया जायेगा, जिन्हें जैनाचार्य ने दृष्टि चौदह से संबोधित किया है।

२.जीव समास.—जिन सदृश धर्मों के द्वारा अनेक जीवों का सग्रह किया जा सके, उन सदृश धर्मों का नाम समास है। वे उन्नीस हैं १ पृथ्वी २ जल ३ अग्नि ४ वायु ५ नित्य ६ इतर। इनके सूक्ष्म और वादर से वारह भेद हुए, दो तीन चार इन्द्री के सेनी असेनी से छह भेद तथा प्रत्येक वनस्पति का भेद मिलाकर उन्नीस भेद समास के हुये।

३. पर्याप्ति.—शक्ति विशेष की पूर्णता जिससे शरीर और इन्द्रियाँ वन कर सचालन होती हैं और शरीर पूर्णता पाता है, वे छह हैं। १ आहार २ शरीर ३ इन्द्रिय ४ श्वासोच्छ्वास ५ भाषा ६ मन।

४ प्राणः—जिसके सयोग पर जीवन और वियोग पर मरण का व्यवहार किया जाता है वह प्राण है। वह चार प्रकार से दश भेद का होता है।

१. इन्द्रिय (एक दो तीन चार पांच भेद) २ बल (मन वचन काय) ३ श्वासोच्छ्वास ४ आयु है।

५ सज्ञा—१ आहार, २ निद्रा, ३ भय, मैथुन (सुख) की इच्छा का होना सज्ञा का स्वरूप है।

६. मार्गणा—जिनके द्वारा अनेक अवस्थाओं में स्थित

जीव का ज्ञान हो। वे मार्गणा चौदह हैं।

गइ इंद्रिये सुकाये जोगे वेदे कसायणाणेय।

संजन दसण लेस्सा भविया सम्मत सन्णि आहार॥

गो० जीव कांड

१ गति २ इद्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ कषाय ७ ज्ञान ८ संयम ९ दर्शन १० लेश्या ११ भव्यत्व १२ सम्यक्त्व १३ संज्ञा १४ आहार के भेद से चौदह प्रकार की मार्गणा है।

७. उपयोग.—वाह्य और आभ्यंतर अवस्थाओं के द्वारा होने वाली आत्मा के चेतना गुण की परिणति उपयोग है। इसके भी वारह भेद हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, बनस्पति और त्रस इन छह कायिक जीवों की रक्षा करना और शरीर मुह नाक आंख कान इन पांच इन्द्रियों को वश में करना ऐसे ११ व मन का वश करना-बारह प्रकार का है। उपरोक्त दोनों गाथाओ से वीस प्ररूपणाओं का कथन गुणस्थान और मार्गणाओं से ही सकता है क्योंकि मार्गणा के वर्णन में जीव समास पर्याप्ति प्राण संज्ञा उपयोग का समर्थन होता है। इसके अभेद विवक्षा से गुणस्थान और मार्गणा दो ही का प्ररूपण है पर भेद विवक्षा से वीस प्ररूपणा कही गई है।

(व) वे सभी पर्याप्त—निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त होते हैं। इससे १६×३=५७ भेद भी समास के माने हैं।

गो० ७४ गा०

(स) तिर्यञ्च के ८५ मनुष्य के ९ नारकी के २ देव के २ ऐसे सब मिलकर ६८ भेद भी समास के माने गये हैं जिन्हे नीचे कहा है।

(१) तिर्यंचों के ८५ भेद—(अ) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु नित्य निगोद वनस्पति, इतर निगोद वनस्पति, ये छः भेद× वादर और सूक्ष्म के भेद से बारह+प्रत्येक वनस्पति प्रतिष्ठिव तथा अप्रतिष्ठित से १४ भेद हुए।

(व) विकलत्रय दो, तीन, चार, इन्द्री, पर्याप्तक, निर्वृत्य-पर्याप्तक, लब्ध्यपर्याप्तक से नौ भेद हुए।

(स) सम्मूर्च्छन पचेन्द्री जलचर, थलचर, नभचर तीनों सैनी असैनी से ६ भेद भी पर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक, लब्ध्य-पर्याप्तक, से १८ भेद हुए।

(ड) गर्भज पचेन्द्री के १६ कर्म भूमि के जलचर, थलचर, नभचर×सैनी असैनी से ६ भेद के पर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक से बारह+भोग भूमि के थलचर, नभचर, पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त से ४ ऐसे १६ भेद मिलकर ८५ भेद तिर्यंचों के कहे गये हैं।

(२) मनुष्यों के ६ आर्य खंड म्लेच्छखंड भोगभूमि कुभोग-भूमि×पर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक से आठ भेद गर्भजों के+१

सन्मूर्च्छन मनुष्य के लब्ध्यपर्याप्तक ऐसे नव भेद कहे गये हैं।

(३) नारकी और देवों के पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक के भेद से ४ भेद हैं। इस प्रकार १८ भेद कहे। इस तरह से जीव समास के चौदह सत्तावन व अट्ठानवे भेद की व्यवस्था आचार्यों ने की है। (गो० गा० ७३) तथा स्थान, योनि, शरीर, अवगाहना, कुल के भेदों से गा० ७४ से ११६ तक नेमिचन्द्राचार्य ने कथन किया है।

२ पर्याप्तिः—(१) आहार वर्गणा द्वारा पृथ्वी रूप, रस रूप, परिणमन करने की शक्ति को पूरा करना।

(२) शरीरः—पृथ्वी रूप परमाणु को हाड़ रस रूप को इन्द्रियों के विषय ग्रहण शक्ति को पूरा करना।

(३) आहार वर्गणा के परमाणुओं का इन्द्रिय रूपव इन्द्रियों के विषय रूप ग्रहण शक्ति को पूरा करना।

(४) श्वासोच्छ्वास—आहार वर्गणा के परमाणुओं का श्वासोच्छ्वास रूप होने की शक्ति को पूरा करना।

(५) भाषा—भाषा वर्गणा रूप परमाणुओं का वचन रूप होना।

(६) मन—वर्गणा के परमाणुओं का हृदय में ८ पंखडी के कमलाकार को यथावत् विचार शक्ति का पूरा करना।

एकेन्द्री के भाषा और मन के सिवाय शेष चार पर्याप्ति होती है। विकलेन्द्री और असैनी पंचेन्द्री के मन सिवाय शेष पांच

पर्याप्ति होती है और सैनी पंचेन्द्री के छहों पर्याप्ति होती है। इनके पानेका पूरा काल एक अन्तर्मुहूर्त है।

इनका प्रारम्भ एक साथ और पूर्णता क्रमसे होती है। जब तक पूर्ण हो या पूर्ण होनेवाली हो तो निर्वृत्यपर्याप्ति कहलाती है और पूर्ण होने पर पर्याप्तक कहाती है। जिसकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण न होवे वह लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है।

एक लब्ध्यपर्याप्तक की आयु श्वास के अठारहवें भाग मात्र होने से एक अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ जन्म हो जाते हैं जो एकेन्द्री से पंचेन्द्री तक के होते हैं।

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठिसहस्स माणमरणाणि।
अंतोमुहूत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२२ ॥
सीदी सट्ठी तालं विगले चउवीस होंति पंचक्खे।
छावट्ठि च सहस्सा सयं च बत्तीसमेयक्खे ॥ १२३ ॥

(गो० सा० जीवकांड)

एक अन्तर्मुहूर्त में लब्ध्यपर्याप्तक जीव ६६३३६ जन्म मरण से अधिक नहीं कर सकता है जिसमें दो इन्द्री के अस्सी भव तीन इन्द्री के साठ भव चार इन्द्री के चालीस भव और पंच इन्द्री के चौबीस भव में आठ सैनी, आठ असैनी, आठ तिर्यंच तथा छासठ हजार एक सौ बत्तीस भव एकेन्द्री स्थावरों के होते हैं, अधिक नहीं।

पुढविदगा गणि मारूद साहारण थूल सुहमत्तया ।
एदेसु अपुण्णोसुय एक्केक्के वारस्स छक्कं ॥१२४॥

गो० सार जीवकाड

सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के जो पृथ्वी जल अग्नि वायु और साधारण तथा प्रत्येक वनस्पति ऐसे ग्यारह भेद लब्ध्यपर्याप्तकों में से प्रत्येक के ६०१२ से ६६१३२ भव हो जाने है।

इनमें भ्रमण करके अन्त के अपर्याप्त शरीर को तीन मोड़ाओं द्वारा ग्रहण करनेवाले जीव के प्रथम मोड़ा के समय सर्व जघन्य ज्ञान होता है। इसी को पर्यायज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा निरावरण और प्रकाशमान रहता है। यह ज्ञान स्पर्शन इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान पूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान कहाता है।

लब्धिनाम :—श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का है। और अक्षर नाम अविनश्वर का। इसी लिए हो इस ज्ञान को लब्ध्यक्षर कहते हैं क्योंकि क्षयोपशम का कभी विनाश नहीं होता। कम से कम इतना क्षयोपशम हर जीव के रहता ही है।

(३१६। ३२०। ३२६। गो० सा०)

सर्व जघन्य पर्याय ज्ञान के ऊपर अनन्त भाग वृद्धि, असख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि तथा अनन्त गुण वृद्धिसे छह वृद्धि होती है।

सर्व जघन्य पर्याय ज्ञान ही इन वृद्धियों के द्वारा बढ़ाता हुआ द्वादशांग रूप हो जाता है जो श्रुतज्ञान कहाता है। जिसका अधिकारी केवली या परमात्मा बन जाता है।

(३२२, ३६७ गो० सार जीवकाड)

सुद केवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति वोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥३६८॥

(गो० सार)

ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवल ज्ञान दोनों ही सदृश हैं परन्तु दोनों मे अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। श्रुतज्ञान का परोक्ष होने का कारण यही है कि वह मन और इन्द्रियों की सहायता से होता है। इससे उसकी अमूर्तिक पदार्थों मे और उनकी अर्थ पर्याय तथा दूसरे सूक्ष्म अशों मे स्पष्ट रूप से प्रवृत्ति नहीं होती। इसका कारण कर्मों का आवरण है। केवलज्ञान निरावरण होने से समस्त पदार्थों को स्पष्ट रूप से प्रकाश (ज्ञान) करता है।

३ प्राण:—जिस प्रकार आभ्यतर प्राणों के कार्यभूत नेत्रों का खुलना वचन की प्रवृत्ति उच्छ्वास निश्वास आदि वाह्य प्राणों से जीव जीते हैं। उसी प्रकार आभ्यंतर इन्द्रिय वरण कर्मोंके क्षयोपशमादि द्वारा जीवितपने का व्यवहार हो तो उसे प्राण कहते हैं। प्राण यह पर्याप्तियों का कार्य है। वचन, व्यापार आदिक करण को भी प्राण कहते हैं। वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरणी

कर्म के क्षयोपशम से मनोबल और इन्द्रिय प्राण की उत्पत्ति होती है। शरीर, नाम कर्मसे, काम, बल, प्राण, श्वासोच्छ्वास और शरीर नाम कर्म प्राण। आयु से ही श्वासोच्छ्वास और स्वर नाम कर्मके साथ शरीर नाम कर्म के उदय पर ही वचन, बल, प्राण कर्म के उदय से आयु प्राण के उदय का अवसर आता है।

इन्द्रिय, काय आयु—ये तीन प्राण तो पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों में होते हैं। यह श्वासोच्छ्वास पर्याप्त के ही होता है। वचन बल द्विइन्द्रियादिक के मनोबल प्राण संज्ञी पर्याप्तक के ही सम्भव है। इससे संज्ञी पंचेन्द्री पर्याप्तक के दश प्राण होते हैं। शेष असज्ञी के मनोबल प्राण छोड़कर नव चतुरिन्द्रिय के श्रोत्र इन्द्रिय छोड़कर आठ, तीन इन्द्रिय के चक्षु छोड़कर सात, दो इन्द्रिय के प्राण छोड़कर छ., प्राण और एक इन्द्रिय के रसना इन्द्रिय और वचन बल को छोड़कर चार प्राण होते हैं। यह सब पर्याप्त अपेक्षा कथन है।

अपर्याप्तक में .—संज्ञी और असंज्ञी के श्वासोच्छ्वास वचन बल मन प्राण छोड़कर शेप सात प्राण होते हैं। आगे क्रम से एक २ कम होता जाता है। चौ इन्द्री के छह, तीन इन्द्री के पाच, दो इन्द्री के चार, एकेन्द्री के रसना को छोड़कर तीन प्राण होते है। इससे पर्याप्त जीव के अन्त समय भी जो प्राण १ सुख २ सत्ता वीर्य ३ बोध (ज्ञान) ४ चैतन्य (सम्यक्त्व) ही जैनाचार्यो ने माने हैं। (१२६। १३२ गो०)

४ सज्ञा जीव की चाहने रूप वांछा का नाम संज्ञा है। १ आहार २ भय ३ मैथुन (सुख) ४ परिग्रह रूप है। जिसकी पूर्ति में संसार और मर्यादा में शान्ति और विजय से मोक्ष है। जो फिर संज्ञायें पास भी नहीं फटकतीं हैं।

१. आहार सज्ञाः—आहार के देखने (उपयोग से) पेट के खाली होने से असातावेदनीय है। उदय और उदीरणा होने पर नियम से आहार संज्ञा होती है।

२. भय सज्ञाः–अत्यन्त भयकर पदार्थ के देखने से पूर्व में देखे पदार्थ के स्मरण से, शक्ति हीनपना से, अन्तरग में भय कर्म की उदय उदीरणा होने से भय सज्ञा होती है।

३ मैथुन.—स्वादिष्ट गरिष्ट रसयुक्त भोजन से या पहिले भुक्त विषयों के स्मरणादि से तथा कुशील सेवन से वेद नाम कर्म के उदय उदीरणा से मैथुन संज्ञा होती है।

४. परिग्रहः—इत्र, भोजन, वस्त्र, स्त्री आदि भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थों के देखने या प्रथम देखे या भुक्त पदार्थों के स्मरण करने से ममत्व परिणामों के होने से और लोभ के उदय उदीरणा से परिग्रह सज्ञा होती है।

अप्रमत्त सातवें गुणस्थान मे आहार सज्ञा नहीं होती, कारण वहॉ असाता वेदनीय का उदय नहीं है। शेष तीन उपचार से होती है, क्योंकि वहॉ उनके कारण मौजूद हैं। किन्तु उनका कार्य

वहाँ पर नहीं होता। कारण साता असाता और मनुष्यायु की उदीरणा, प्रमत्त विरति गुणस्थान में ही होती है, आगे नहीं। यह केवल ध्यान अवस्था ही है, जिससे कर्मों का क्षय व मोक्ष होती है। १३४ से १३८ तक (गो० सा० जीवकाड)

नोट.—संज्ञाओं से दुःखी होकर जीव उस लोक में और विषय सेवन करने से दोनों ही भवों में दारुण दुःख को प्राप्त होता है, उसे संज्ञा कहते हैं, इसी को वांछा भी कहते है। उसके ही उक्त चार भेद हैं।

५. मार्गणाः—जिस प्रकार प्रवचन मे देखे गये हो उसी प्रकार जीवादि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार किया जावे वे मार्गणा हैं, जो चौदह हैं।

१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कपाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३ संज्ञा, १४ आहार। जिसमें उपशम सम्यक्त्व, सूक्ष्म सांपराय, आहारक योग, आहारक मिश्र काय योग, वैक्रियक मिश्र, अपर्याप्त मनुष्य, सासादन सम्यक्त्व, मिश्र ये आठ अन्तर मार्गणा हैं। इनका उत्कृष्ट काल एक सात दिन, २ छह महीना, ३ पृथकत्व वर्ष, ४ अपृथकत्व वर्ष ५ बारह मुहूर्त और अन्त की तीन मार्गणाओं का काल पल्य के असंख्यातवें भाग हैं। जघन्य काल सब का एक समय है। यथा.—

क्रम	अन्तमर्गणा	उत्कृष्ट काल	जघन्य
१	उपशम सम्यक्त्व	सात दिन	एक समय
२	सूक्ष्म सांपराय	छह महिना	"
३	आहारक योग	पृथक तत्व वर्ष	"
४	आहारक मिश्र काय योग	अपृथकत्व वर्ष	"
५	वैक्रियक मिश्र	बारह महूर्त,	"
६	अपर्याप्त मनुष्य	पल्य के असंख्यातवें भाग	"
७	सासादन सम्यक्त्व	"	"
८	मिश्र	"	"

मार्गणा में प्रथम स्थान गति का ही है । जिससे संसार का प्रारम्भ है। जिसमे नरक तिर्यंच देवगति तो पाप पुण्य के फलानुसार कही जाती है । क्योंकि यहाँ पुरुषार्थ साधन का कोई भी कारण उपलब्ध नहीं है। चौथी मनुष्य गति ही में पुरुषार्थ की सिद्धि का साधन प्राप्त है। जिसको लक्ष्य लेकर अवनति से उन्नति पाने की दृष्टि कायम की जाती है, जिसको जैनाचार्यों ने गुणस्थान कहा है। जिस पर कदम कदम चलकर अपना लक्ष्य सफल बनाया जाता है।

अपनी अनादिकाल से खोई आत्मनिधि को ढूढने का ही सीधासरल राज मार्ग है। जिस मार्ग से योगी मुनि चलकर पतित पावन और नर से नरायण बन जाते हैं। और जो अपनी आत्मसत्ता का विस्मरण कर जाते हैं, वे संसार समुद्र में पड़कर

अनन्त कालतक गोते खाते रहते हैं। जिसका पारावार दो हज़ार सागर है। तब मनुष्य देह पाने का मौका आता है। इसीलिये आचार्यों ने उपदेश किया है, कि अपने आपको मत भूलो और पुरुषार्थ कर नाम सार्थक करो।

वागदे तूगदोरे पुगदोय्यने सैकने कुळ्ळितक्केनि—
दागलि देहमूपेयनुपायादोळांतु तपोग्नि गोड्विवे ॥
रागिरे सोचिं कर्ममयणाकृतियं बळिकळ्ळि तोरुति।
पोगसमेंदु काणबे नोळगेन्नने नानपराजितेश्वरा ! ।८४॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! शरीर की हलन चलन क्रिया अर्थात् बैठने उठने आदि शरीर की समस्त क्रियाओं पर नियन्त्रण रखकर मन को एकाग्र करके धीरे धीरे मन्त्रोच्चारण करते हुए तपस्यारूपी अग्नि से दृढ़तापूर्वक कर्मरूपी मोम के समान शरीर के आकार के खिर जाने से उसमें दीखने वाले आकाशरूप अमूर्तिक चित् चैतन्यरूप आत्मा मैं हूँ। मै अपनी आत्मा में अपने को ही देखता हूँ ऐसा अनुभव होता है ॥ ८४ ॥

84. O, Aparajiteshwar ! I am that conscious soul which appears formless (amurtik) after the destruction of karmas by the fire of meditation (which is kindled) by chanting sacred Mantras with a concentration of mind and a

control of the movements of body. I experience myself in my soul.

विवेचन—भगवान् अरहन्तदेव ने यही समझाया है कि ज्ञानी जीवात्मा एकाग्रता से बैठकर निश्चय भाव से धीरे २ मंत्रोच्चारण करते हुये उठते बैठते खाते पीते सोते इत्यादि हर समय शरीर रूपी छाया मे स्थित शुद्धात्मा को अनेक उपायों से तप-रूपी अग्नि द्वारा युक्ति के साथ यदि बारंबार तपाया जाय तो जैसे छाया के भीतर की मोम अग्नि के दिखाने मात्र से ही पिघल-कर झरने लगती है उसी प्रकार तप रूपी अग्नि के द्वारा तपाने से शरीर रूपी कर्म धीरे २ पिघल कर झरने लगता है।

इस शरीर रूपी छाया के अन्दर आकाशचिन्ह रूपी व्रत जो पोलाकार दीखता है वही अमूर्तिक सिद्धात्मा का स्वरूप मेरा है। अन्य शरीरादि जो बाह्य पदार्थ दिखाई देते हैं वे जुदे हैं, मेरे नहीं हैं। ध्यान करते समय मेरे शरीर के अन्दर जो दृष्टिगोचर होता है वही मेरा स्वरूप है। इस तरह जब ज्ञानी जीव अपने अन्दर एकाग्र होकर अभ्यास करता है तब वह बाह्य संपूर्ण वस्तुओ को भूल जाता है।

ज्ञानी को भावना के प्रति इस प्रकार अभ्यास करना चाहिये कि परम तत्त्व से निजात्मा तत्त्व का जो अनुभव है वह परमानन्दमय है। उसी का अनुभव करने से भव्य जीव अरहन्त परमेष्ठी परमात्मा हो जाते हैं। तब उनकी वाणी से वही सार

तत्त्व प्रगट होता है। जो भव्य उस तत्त्व का मनन करते हैं वे परम आत्म तत्त्व के अनुभवको पाकर सम्यग्दृष्टी हो जाते हैं। सम्यक्त्व के प्रकाश से मिथ्यात्व का अन्धकार हट जाता है व मिथ्यात्व भाव से बाँधे हुये कर्मों का क्षय हो जाता है। सम्यग्दृष्टी के भीतर जो आत्म ज्योति का प्रकाश हो जाता है उससे वह जिन जिन पदार्थों को पांच इन्द्रिय व मन से जान सकता है, उसे मोही रागी द्वेषी नहीं जान सकता। ज्ञानी ज्ञाता, दृष्टा रूप पदार्थों को जानकर समताभाव रखता है। सम्यक्त्व के होने पर कुअवधि ज्ञान मिटकर सुअवधि ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वही सम्यक्त्व धारी जब निर्ग्रन्थ साधु होकर तप करता है तब उसे रिजुमति मनः पर्यय ज्ञान तद्भव मोक्षगामी को विपुलमति व मन पर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है। वही साधु स्वात्मानुभव के प्रताप से क्षपक श्रेणी पर चढ़कर चार घातिया कर्मों का क्षय करके अरहन्त परमात्मा हो जाता है। वे अरहन्त भी अयोग केवली गुणस्थान में पहुँचकर अन्त मे सभी अघातिया कर्मों को नष्ट करके सर्व कर्म व शरीर से मुक्त होकर शुद्धात्मा बन जाते हैं। फिर अनन्त काल के लिये आनन्द मय पद में रहकर परम तृप्त रहते हैं। सिद्धपद का उपाय तत्त्वसार का अनुभव है। जो इस आत्मिक परमतत्त्व को प्राप्त करना चाहें उनको उचित है कि वे जीवादि सात तत्त्वों को जानकर उनपर दृढ़ विश्वास करें। व्यवहार नय से अजीव, आश्रव बन्ध तत्त्व को त्यागने योग्य और जीव,

संवर निर्जरा तथा मोक्ष को उपादेय जाने फिर निश्चय नय से इन सात तत्त्वों में दो ही द्रव्य को जाने कि सब प्रपंच जीव और कर्म पुद्गल द्रव्य हेय हैं। एक निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है। इसी तत्त्व को समझकर इसी का मनन करे, नियमित व्यवहार से न्याय युक्त आचरण करे, संसार शरीर भोगों से उदासी भाव रक्खे, एकान्त में बैठकर विचार करे, शास्त्रों का पठन करे, तत्व चर्चा करे तथा देव गुरू शास्त्र की वंदना स्तुति करे तो निज आत्म तत्त्व का प्रेमी हो जायगा और इसी तरह मनन करने से मिथ्यात्व हट कर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है।

आत्म दीप्ति प्रकाशमान हो जाती है यही तत्त्व सार है। इसी का अनुभव करना श्री पूर्वाचार्योंने बतलाया है क्योंकि वे आप तरते हैं और अनेकों को अपने दिव्य उपदेश से भवसागर से पार लगाते हैं। वे ज्ञान के दाता हैं, इससे मोक्षमार्गके दाता रहे। वे मोक्ष के स्वामी हैं इससे उत्तमोत्तम पात्र हैं। वे आपसे ही अपने को आनन्द का लाभ देते हैं इससे आप ही दातार हैं। वे आप ही पात्र हैं उनकी भक्ति तत्त्वज्ञान पाने में परम सहायक है। इस आत्मा का महान् वैरी मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय कर्म है। यही अन्धकार देता है। इसी के साथी चार अनन्तानुबन्धी कषाय हैं। उनके उदय से अपने अनिष्ट कर्ता पर तीव्र क्रोध करता है। थोड़ी सी भी सम्पत्ति व शक्ति होने पर अभिमान करता है

स्वार्थ साधन के हेतु मायाचार करता है, तीव्र लोभी हो व्यवहार करता है तथा मन को प्रसन्न करने के लिए रागभाव के कारणों में लगा रहता है। मनुष्यों में वैठकर स्त्री कथा, भोज कथा, देश कथा व राजकथा वनाकर रागद्वेष वढ़ाकर रजायमान होता है। और ससार में आशक्ति वढ़ाकर अपना अनिष्ट करता है। यह मिथ्यात्वभाव व अनन्तानुबन्धी कपाय तत्त्व जब दूर हो जाता है तब पर्याय बुद्धि का अहकार मिट जाता है और आत्मा में आत्म बुद्धि का दीप प्रकाशित हो जाता है।

आप्तस्वरूप ग्रन्थ में परमात्मा का स्वरूप कहा है उसके कुछ श्लोक भी ये हैं —

स स्वयम्भूः स्वयं भूत संज्ञानं यस्य केवलं।
विश्वस्यग्राहकं नित्यं युगपद्दर्शनं तथा ॥२२॥
येनाप्तं परमैश्वर्यं परमानन्द सुखास्पदम्।
वोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः ॥२३॥
शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शांतमक्षयं।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥२४॥
महामोहादयो दोपा ध्वस्ता येन यदृच्छया।
महाभवार्णवोत्तीर्णो महादेवः स कीर्तितः ॥२६॥
रौद्राणि कर्मजालानि शुक्लध्यानोग्रवन्हिना।
दग्धानि येन रुद्रेण तंतु रुद्रं नमाम्यहम् ॥३०॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं स्थानमात्मस्वभावजम् ।
प्राप्तं परमनिर्वाणं येनासौ सुगतः स्मृतः ॥४१॥

भावार्थः—वह परमात्मा स्वयंभू है क्योंकि उनके अपने आप ही सर्व विश्व को जानने-देखने वाला और सदा निर्भय रहने वाला केवलज्ञान व केवल दर्शन प्रगट हो गया है। वही ईश्वर है वही कृतार्थ है ऐसा बुद्धिमानों ने माना है। क्योंकि इसने रमानन्द सुख का स्थान और ज्ञानमई परम ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है। वही परमात्मा शिव कहा गया है जिस ने सुखमई व परम हितरूप शान्त व अविनाशी निर्वाण या मुक्ति पद को प्राप्त कर लिया है क्योंकि वह अपने दृढ भावों से महा कर्म योद्धा आदिक वडे-वड़े दोषों को नष्ट कर ससाररूपी महान् समुद्र के पार पहुँच गया है इसलिये वही महादेव कहा जाता है वही परमात्मा रुद्र है क्योंकि उसने महा भयानक अष्ट कर्मों को नष्ट करके विजय प्राप्त कर लिया है।

उसी प्रकार ज्ञानी जीव को दूसरी ज्ञान भावना बतलाती है। इस गर्भ चौवीसी में परमात्मपद अरहन्त या सिद्ध रूप जो भव्य जीव के भीतर गर्भरूप से रहता है उसीकी महिमा अनेक प्रकार के शब्दों से गाई गई है। बारम्बार अरहन्त व सिद्ध-पद का विचार किया गया है। भाव यह है कि हे भव्य जीवो! अविनाशी आनन्दमय ज्ञानमय व शान्तिमय मोक्ष को प्राप्त करना उचित है वह कहीं बाहर नहीं बल्कि तुम्हारे ही गर्भ में है

यानी तुम्हारे ही पास है। उसका जन्म या प्रकाश करना चाहिये। अतएव रत्नत्रय धर्म को व्यवहार या निश्चय उभयरूप से पालना चाहिये। व्यवहार रत्नत्रय निमित्त साधक है व निश्चय रत्नत्रय साध्य है। गर्भ को प्रकट करने का उपाय निश्चय रत्नत्रय स्वरूप अपने ही शुद्धात्मा का अनुभव है। वह अनुभव परम शान्त, आनन्दमय व आत्मा का निज प्रकाश है। इसी आत्मज्ञान का जब धारावाही मनन किया जाता है और सर्व पर परिणमन के रागद्वेष को जीता जाता है तब पूर्व कर्म गलने लगते हैं नवीन कर्मों का संवर होता है, विषयानुराग अस्त हो जाता है, आनन्दामृत का प्रेम बढ़ता जाता है, स्वात्मरणरूप आनन्दमय भाव के अभ्यास से घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है यह ज्ञान सूर्यसम प्रगट होता है यही सहज ज्ञान है। इसमें द्रव्यों की अनन्त पर्यायों को एक काल जानने की शक्ति है। जब अरहन्त पद प्रकट हो जाता है तब आत्माका प्रकाश हो ही जाता है। शेष कर्म जली हुई रस्सीके समान रह जाते हैं जो ज्ञान चेतना के प्रभाव से स्वयं गल जाते हैं तब सिद्धपद या मुक्ति पद प्राप्त हो जाता है। इस पदमें आत्मा परम शुद्ध भाव से सदा रमण करता है जैसे कमल रात्रि को बन्द रहता है जब सूर्य का उदय होता है, तब विकसित हो जाता है। वैसे आत्मतत्त्व रूपी कमल ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय व मोहनीय के अन्धकार में छिपा या ढका हुआ केवलज्ञान रूपी

सूर्य के प्रगट होते ही पूर्ण आनन्द के साथ प्रफुल्लित हो जाता है। श्री अरहन्त परमात्मा की महिमा वचन अगोचर है। उनका स्वरूप भी वास्तव में अनुभव गम्य है। साधक को ही श्री आदि मन्त्रों के द्वारा अभ्यास करके इस निज पद को झलकाने का उपाय करना चाहिये। आठ अंग सहित सम्यक्त्व आठ अग सहित सम्यग्ज्ञान व तेरह प्रकार का चारित्र पालना चाहिये। १२ तप, १२ भावना का अभ्यास करना चाहिये उत्तम क्षमादि १० धर्म का पालन करना चाहिये। आत्मध्यान का विशेष अभ्यास करना चाहिये। ध्यान वही अग्नि है जो सर्व कर्मों को गलाती है व आत्मा को शुद्ध करती है। शुद्ध सिद्ध-पद में परम सन्तोष या कृतकृत्यपना सदा बनी रहती है। हे भव्य जीवो! पूर्ण विश्वास करो कि परमात्मपद तुम्हारे ही गर्भ-में है और तुम अपने ही आत्मज्ञान के साधक से उसको प्राप्त कर सकते हो। वह पद जैसे आनन्दरूप है वैसे उसका उपाय भी आनन्दरूप है इसलिये इस मानव जन्म को सफल करने के लिये अपने आपको पहचानो। अपने भीतर से ही परमात्म पद प्रगट होता है।

अब आगे आत्मा में और आकाश में क्या भेद है इसे आगे के श्लोक में बताते हैं।

चेतननात्मनागसमचेतनमेंबिनितल्लदेस्नरू- ।
पातिशयक्के भेदविडलिल्ल नभक्केयुमात्मतत्त्वकं ॥

ओतदरिदमागसन्नेवां पुरुषाकृतियायतोयेंबुपा- ।
यातुरविट्टु नोळ्पेनोळगेन्नने नानपराजितेश्वरा ! ॥८५॥

हे अपराजितेश्वर ! आत्मा चैतन्यस्वरूप और आकाश जड़ रूप है, इन दोनों मे केवल इतना ही भेद है । पर आकाश और आत्म तत्त्व स्वरूप की दृष्टि से भेद नहीं है, इसलिए आकाश के समान ही मै हूं, परन्तु वह पुरुषाकार है, इस तरह भावना या उपाय के साथ आतुरता से मै अपने को ही अपने अन्तरंग में प्रेमपूर्वक देखता हूँ ॥८५॥

85. O, Aprajiteshwar ! I am conscious and Akash (space) is non-conscious. But from the view point of external features we are similar (The difference is that) I see myself in myself with a feeling of great love.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मा चैतन्य स्वरूप अजर-अमर और आकाश जड़ रूपी है। इन दोनों मे इतना ही अन्तर है। परन्तु आकाश और आत्म स्वरूप की दृष्टि से कुछ भेद नहीं है। मानो यह आकाश ही पुरुषाकार हो गया है ऐसी कल्पना करके अनेक उपायों के द्वारा शीघ्रता के साथ ही इस प्रकार विचार करना चाहिये कि आकुलता से रहित अपने में मैं ही हूँ। मैं अपने ही अन्तरग में प्रेम के साथ देखता हूँ। इस प्रकार अनुभव करने से वेदक ज्ञान की प्राप्ति होकर अपने

अन्दर ही सुख शान्ति अनुभव रूपी स्त्री की प्राप्ति होने में देरी नहीं है। इसलिये वे ही आत्मा मेरे लिये पात्र हैं अन्य ध्यान करने योग्य कोई पात्र नहीं है। अर्थात् मेरी आत्मा पात्र गर्भ है, वह मेरे अन्दर ही है।

विशेष भावार्थः—यहां पात्रगर्भ आत्मा को कहा है जिसके गर्भ में सर्व शुद्ध आत्मिक गुण विद्यमान है। जब श्री परमात्म-पद प्रगट हो जाता है और केवलज्ञान दर्शन आदि शुद्ध गुणों का प्रकाश हो जाता है तब उस गर्भ में से परमात्मपद का जन्म हुआ करता है, ऐसा कहा जाता है। इसी भाव को इस गाथावली में बतलाया गया है। उस गर्भ से जिन पद का जन्म तभी होता है जब कोई मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक् तप इन चार आराधनाओं का आराधन करके क्षपकश्रेणी पर चढ़कर चार घातिया कर्मों को दमन तथा अनुभव करते हैं। आत्मानुभव के सेवन से ही कर्म पटल हट जाते हैं। और आत्मिक गुणोंका प्रकाश हो जाता है। इसी आत्मानुभवसे केवल-ज्ञानादि गुण प्रगट हो जाते हैं। तब श्री अरहन्त का आत्मा वीतराग सर्वज्ञ हो जाता है। इस लिये भव्यजीव सन्त जन उनकी भक्ति करते हैं। उनके स्वरूप का मनन करते हैं। वे अरहन्त प्रत्यक्षरूपसे अमूर्तिक आत्मा को मुक्तरूप या सिद्धरूप देखते हैं। वे अपनी दिव्य वाणी से परमात्मा का स्वरूप झलकाते हैं। उनकी वाणी के आधार पर ही द्वादशांग वाणी का

प्रकाश होता है। पदों के द्वारा आत्मज्ञान का मनन किया जाता है।

ध्याता को ॐ, ह्रीं या ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं, ह्रः इन मन्त्रों के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वभाव का मनन करना चाहिये। आत्मा के शुद्ध स्वभाव के अनुभव से ही आत्मा शुद्ध होती है श्री अरहन्त ही यथार्थ में तारणतरण हैं। आप तरते हैं व दूसरों को तारते हैं। श्री परमात्मा में सर्व आत्मिक गुण जो गर्भ में अव्यक्त थे, सो प्रगट हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इसी तरह अन्य भव्य जीव को अपने ही आत्मा को पात्र गर्भ समझना चाहिए और गर्भ के जन्म के लिए वारवार आराधनाओं के द्वारा शुद्धात्मा का अनुभव करना चाहिये। गृहस्थी हो या साधु हो पर आत्मा के ध्यान से ही कल्याण होगा। इसी से मुक्ति का लाभ होगा। ऐसा श्रद्धान करके आत्मानुभव करने का प्रयत्न करना चाहिये।

जिसने कर्म के जालों को शुक्लध्यान की तेज अग्नि से दग्ध कर डाला है, उसी रुद्र को मैं नमस्कार करता हूँ। वही रुद्र कहा गया है जिसने सर्व वाधाओं से रहित अपने आत्म स्वभाव से उत्पन्न परम निर्वाण के स्थान को प्राप्त कर लिया है।

अब आगे के श्लोक में सिद्ध भगवान् में और मेरे आत्मा मे कोई भेद नहीं है ऐसा बताते हैं।

सिद्धरूपिनोळ्मोदले नोटदसाधने माडि माडिसं- ।
शुद्धदोळानुमिते येनुतागळे तन्नने नोडि नोडिया- ॥
सिद्धरुमानु मेंबेरडु भेदवडंगि निजात्मनल्लि स- ।
न्नद्धदोळैक्य वावुचने सिद्धनला अपराजितेश्वरा ! ॥८६॥

हे अपराजितेश्वर ! प्रारम्भ में सिद्ध आत्मा के आकार को देखने का साधन करते करते बाद में मैं भी शुद्ध निश्चयनय से इस सिद्धात्मा के समान शुद्ध हूँ । इस तरह उसी समय में मैं अपने में ही अपने को देख कर "वे सिद्ध भगवान् और मैं" इन दोनों आपसी भेद-भाव का नाश करके अपनी आत्मा में ही सिद्ध होते हुए उसी में एकाग्र होने वाला ही सिद्धात्मा नहीं क्या ? ॥८६॥

86 O, Aparajiteshwar ! Is not he himsel a perfect soul, who contomplating that 'I am also pure like perfect souls (Siddhatama) from the Nischaya view point', forgets the differenc between the two and begins to contemplate hi soul as perfect.

विवेचन —ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि ज्ञानी जीव का प्रथम सिद्धात्मा के आकार को देखने के लिये खु अपने मन के उपायों से अपने आत्मा के अन्दर एकाग्रता पूर्व साधन करते रहना चाहिये । बाद में शुद्ध निश्चय नय से इ

सिद्धात्मा के समान शुद्ध ही हूँ। इस तरह उसी समय अपने आप को भी देखकर उस सिद्ध भगवान् और मै ऐसी जो भावना में भिन्नता थी वे दोनों भिन्नता नाश होकर अपने आत्मा मे आप ही हो कर स्वयं होने वाला सिद्धात्मा के समान नहीं है क्या? अवश्य ही सिद्ध भगवान् के समान है। इस तरह भावना करने वाले ज्ञानी जीव को निश्चय सामायिक कहते हैं। यह निश्चय सामायिक कर्मों की पूर्ण निर्जरा का कारण है। इस तरह तत्व ज्ञानी जीव अपनी आत्मस्वरूप में रमण होकर असख्यात कर्मो की निर्जरा कर लेता है और थोड़े ही समय में इस महान संसार रूपी समुद्र से शुद्ध आत्मस्वरूपी नाव के द्वारा पार होकर अपने इष्ट स्थान में पहुच जाता है।

प्रश्न —निर्जरा करने के पहले कैसा विचार करना चाहिये और उसका उपाय क्या है?

समाधान —देव, गुरु, शास्त्र ये तीन आश्रवों के निरोध के लिये कारण हैं।

अव त्रिभगी में कहा भी है कि:—

देव देवाधि देवं गुरु ग्रन्थ च मुक्तयं।
धर्म अहिसा उत्पाद्य त्रिभंगी दल निरोधनं॥ ४६॥

भावार्थ—आत्म हितैषी को प्रथम ही उचित है कि वह उस आदर्श को जाने जिसे वह प्राप्त करना चाहता है। आदर्श को

सामने रखने से उसे आदर्श पर पहुँचने की उमंग होती है। जिस पर्वत पर पहुँचना है उसकी चोटी जब दिखती है, तब पहुँचने की भावना दृढ़ होती है। जिस राज्य महल में जाना है उसको जानना जरूरी है कि वह है। इसलिये कर्म बन्धन से रहित आत्मा का जानना आवश्यक है जब कि हम स्वयं कर्म बन्धन से छूटना चाहते हैं। अतएव यथार्थ देव वही है जो कर्म बन्धन से मुक्त है। जिसके आत्मा में वह दोष नहीं है जो कर्म बन्धन रहित आत्मा मे होते हैं अर्थात् किसी प्रकार की इच्छा, राग-द्वेष, मोह, काम, भाव विकल्प नहीं हैं, पूर्ण वीतरागता है। न किसी प्रकार का अज्ञान है। इसलिए सर्वज्ञ वीतराग आत्मा को ही परमात्म देव कहते हैं। जिनका आत्मा चार घातिया कर्मों से मुक्त हो चुका है इसलिये उनमें नौक्षायिक भाव प्रकट हैं क्षायिक सम्यक्त्व. क्षायिक चारित्र, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य तथा चारों घातिया कर्मों के क्षय से जिनके भीतर अनन्त सुख प्रगट है जो निरन्तर स्व स्वरूप में लीन होकर परमानन्दमई अमृत का पान कर रहे हैं। अभी चार अघातिया कर्म शेष हैं उनके उदय के कारण उनका देश में विहार व धर्मोपदेश होता है। इसी से अरहन्त को हितोपदेशी कहते हैं। इन्हीं के द्वारा धर्म का सच्चा स्वरूप प्रगट होता है। इसलिये उनको आप्त या वक्ता कहते हैं। इस आर्य खण्ड में हर एक उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी

काल में चौबीस तीर्थंकर अरहन्त इस वर्त्तमान अवसर्पिणी काल में ऋषभदेव से चलकर वर्द्धमान पर्यन्त चौवीस हुए हैं। इन को परमदेव मानना चाहिये। इनके सिवाय तीर्थंकर पद के बिना भी सामान्य मानव जो अरहन्त पद पर पहुंचे हैं वे भी अरहन्त मानने योग्य हैं। जैसे श्री बाहुबली, भरत, रामचन्द्र, हनुमान, इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, सुग्रीव, बाली, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य, जम्बूस्वामी आदि सभी अरहन्त जब आयु के अन्त में शेष चार कर्मों का नाश कर मुक्त व शरीर रहित परम शुद्ध हो जाते हैं तब उनको सिद्ध कहते हैं। अरहन्त व सिद्ध ही आदर्श देव हैं। इनकी भक्ति पूजा हमारे भावों को उन के समान होने की भावना को दृढ़ करने वाली है।

मोक्षमार्गस्य नेतारम्, भेत्तारम् कर्म भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, वंदे तद्गुण लब्धये ॥३॥

भावार्थ—जो मोक्ष मार्ग को दिखाने वाला हो, कर्म रूपी पर्वतों को चूर्ण करने वाला हो व सर्व तत्त्वों का जानने वाला हो वही अरहन्त देव है। उनको मैं उनके गुणों की प्राप्ति के हेतु नमस्कार करता हूं।

समाधि शतक में सिद्ध का स्वरूप कहा है—

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

भावार्थ—जो सिद्ध परमात्मा रागादि रहित निर्मल हैं वे केवल एक स्वाधीन साध्य जो शुद्ध पद है उसको सिद्ध कर चुके हैं। सर्व पर द्रव्य व पर भावों से रहित हैं। तीन लोक से पूज्यनीय स्वामी हैं अविनाशी हैं, परम पद में रहने वाले परमेष्ठी हैं, उत्कृष्ट आत्मा हैं, परम ऐश्वर्य मई अनन्त ज्ञानादि गुणों से पूर्ण ईश्वर हैं, आठों कर्मों को जीतने से जिन हैं। सिद्ध की भक्ति सिद्ध पद में पहुचाने वाली है। वह ही है जो ग्रन्थ, परिग्रह, गांठ या मूर्छा से रहित निर्ग्रन्थ है। बाहरी परिग्रह दस प्रकार के हैं जो अन्तरग मूर्छा के कारण हैं तथा चौदह प्रकार के विकार कारक भाव अन्तरग परिग्रह हैं। इन दोनों से रहित निर्ग्रन्थ है क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, धन धान्य, दास दासी, वस्त्र वर्तन आदि २४ प्रकार वस्तुओं के अन्तरग बहिरग से रहित नग्न दिगम्बर साधु ही गुरु होते हैं। अन्तरग में बुद्धि पूर्वक मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, लोभ, दु.ख, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंवेद इन चौदह दोषों के ममत्व से रहित हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ जैन साधु यथा जात बालक के समान निर्विकारी, जितेन्द्रिय, सरल, स्वभाव-धारी होते हैं जीव दया का उपकरण मोर पीछो, शोच का उपकरण काष्ठ का कमण्डलु जल के लिए, ज्ञान का उपकरण शास्त्र मात्र रखते हैं। भिक्षा से एक बार दिन में भोजन करते हैं, निरंतर ज्ञान ध्यान में लीन रहते हैं,ऐसे निर्ग्रन्थ साधुओंमें जो बहुत अनुभवी व सचालक

होनेके योग्य होते हैं उनको आचार्य पद होता है, जो व्याख्याता व पढ़ाने की योग्यता रखते हैं उनको उपाध्याय पद होता है। शेष सब साधु पद धारी होते हैं, गुरु का स्वरूप श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

विषयाशावशातीतो निरार भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान ध्यान तपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥१०॥

भावार्थ—जो पांचों इन्द्रियों की आशा से रहित है, खेती आदि आरम्भ से वर्जित है, सर्व परिग्रहों का त्यागी है, शास्त्र-ज्ञान, आत्म-ध्यान, व तप में लीन है, ऐसे तपस्वी निर्ग्रन्थ साधु गुरु हैं। आदर्श पर जो चलने वाले होते हैं वे ही आदर्श को समझकर व उस मार्ग पर अन्य को चलाकर मोक्ष मार्ग को दिखाते हैं, मोक्षमार्ग बताते हैं इसलिये ऐसे गुरु को भी जानने की जरूरत है। गुरु से तत्त्व ज्ञान का लाभ होता है।

शास्त्र की भी आवश्यकता है। शास्त्र वही सच्चा है जो जिन प्रणीत हो। जिस में अहिंसा का सम्पूर्ण प्रतिपादन हो। मोक्ष का मार्ग अहिंसा है। अन्तरग अहिंसा रागद्वेष मोह रहित वीतराग, समभाव, स्वरूपाचरण, स्वानुभव है। बाहरी अहिंसा स्थावर व त्रस सर्व प्राणी मात्र की दया है (रक्षा है) जिस शास्त्र में सर्व प्राणियों के हित का कथन है, व जैसी वस्तु अनेक स्वभाव वाली है उसी का वैसा ही कथन है, इसलिये वह अनेकान्त

स्वरूप है। शास्त्र का लक्षण रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है।

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं का पथ घट्टनम् ॥९॥

भावार्थ—जो परम्परा आप्त अरहन्त का कहा हुआ अखण्डनीय हो, प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण से बाधा रूप न हो, तत्त्वों का उपदेश करने वाला हो, सब का हितकारी हो, कुमार्ग का खण्डन करने वाला हो, वही सच्चा शास्त्र है।

इस प्रकार निश्चय नय से मेरा आत्मा ही पंच परमेष्ठी शुद्धात्म स्वरूप है। इसलिये अपने अंदर एकाग्र होकर ध्यान में रत होना ही निश्चय आत्मा है।

अब आगे ध्यान का स्वरूप बतलाते हैं—

नासिकदग्रदोळ्नेलसि दृष्टिगळोप्पेमनंललाठदोळ्- ।
सूमदेकूर्मनंतोळगडगिसि मत्तुळिदिंद्रियथंगळं ॥
श्वासमदोय्यनागलोळगेन्ननें नां परियंक चंद्र भ- ।
द्रासनमादियादवरोळीत्तिपेनिन्नपराजितेश्वरा ! ॥८७॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! आँखों की दृष्टि नासाग्र पर शोभते हुए मन की चचलता से रहित ललाट मे सुशोभित होते हुए और बाकी इन्द्रियों को कछुआ के माफिक अपने अदर आकर्पित करके श्वास को धीरे धीरे रोकते तथा छोड़ते हुए पल्यंका-

सन, चंद्रासन, भद्रासन, पद्मासन इत्यादि, आसनों मे मैं अब मेरे को ही देखता हूँ ॥८७॥

87. O, Aparajiteshwar ! The vision focussed on the nose-tip, the forehead made serene with the stadtness of mind, the rest senses attracted inward like the organs of a Kachawa (Tortoise), the activity of inhalation and exhalation slowed down, sitting with Palyankasan, Chandrasan, Bhadrasan and Padmasan (the postures of sitting) I see myself only.

विवेचन:—ग्रन्थकार ने इस श्लोक मे यह बतलाया है कि आँख को नासाग्र भाग पर रखकर एकाग्रता से अपने मन को स्थिर करते हुए अपने कपाल तथा मुख के चेहरे को सौम्य बनाकर शान्त दृष्टि से एकाग्र आसन से बैठकर तथा अपने पाँचों इन्द्रियों को कचरे के समान अपने अन्दर संकुचित करके भद्रासन, वीरासन, कुक्कुडासन, पल्यंकासन, पद्मासन, चन्द्रासन इत्यादि आसनों से स्थिरता पूर्वक बैठते हुए अपने श्वासोच्छ्वास को धीरे २ छोड़ते हुए सम्पूर्ण सकल्प विकल्पों को दूर करने वाले को तथा अपने आप को ही देखने वाले को क्या अपने आत्म-तत्त्व को पहचानने में देरी लगेगी ? नहीं। अवश्यमेव वह शुद्ध आत्मा की पहचान कर लेगा।

अब यह आसन का वर्णन आगे अन्य ज्ञानार्णवादि ग्रन्थों से जान लेना क्योंकि ग्रन्थ बढ़ जाने की सम्भावना से इसका विस्तार यहाँ नहीं किया गया।

नोटः—यहाँ पर संक्षिप्त में ध्यान के विषय मे निम्नलिखितों श्लोक वर्णन करेंगे। कोई प्रश्न उठायेगा कि यहाँ पर चार प्रकार के ध्यान का वर्णन करने की क्या आवश्यकता है, जबकि वह पहले खण्ड में हो चुका है। पर इसका विषय आने के कारण इसका वर्णन संक्षिप्त में किया जायेगा।

पदस्थं शुद्ध पद सार्धं, शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं।
पिंडस्थं ध्यान पिंडस्य, स्वात्मचिंता सदा बुधैः ॥५८॥
रूपस्थं सार्व चिद्रूप, रूपातीतं निगद्रूपयं ।
स्वस्वरूपंच आराध्यं, धर्म चक्र ध्यानरूपयं ॥५९॥
धर्मध्यानं च संयुक्तं, ओंकास दान समर्थयं।
आत्मापायविचयधर्मं, शुक्लध्यानं स्वात्मदर्शनं ॥६०॥

भावार्थ—जहाँ शुद्ध पद की स्थापन करके या शुद्ध पद के द्वारा शुद्ध आत्मिक तत्त्व का प्रकाश होता हो वह पदस्थ ध्यान है। जहाँ शरीर में विराजित ज्ञान शरीरी आत्मा को लक्ष्य करके अपने ही आत्मा की चिन्ता हो ऐसा पिन्डस्थ ध्यान सदा बुद्धिमानों को करना योग्य है। जहाँ सर्व हितकारी अनन्त चैतन्य स्वरूप का ध्यान हो वह रूपस्थ ध्यान है। जहाँ अरूपी सिद्ध का

ध्यान हो वह रूपातीत ध्यान है। धर्मका समूह ज्ञान का स्वभाव अपने आत्मा का स्वरूप इन चारो प्रकार के ध्यानों से आराधना करने योग्य है। आज्ञा विचय, अपाक विचय, विपाक विचय और सस्थान विचय, ऐसा चार प्रकार का धर्म ध्यान विचारने योग्य है। सर्व द्रव्यों को जानने में समर्थ केवलज्ञान का कारण, वह केवल ज्ञानरूप शुक्ल ध्यान है, वहाँ भी अपने आत्मा का दर्शन है।

भावार्थः—आत्म ध्यान की अग्नि से ही कर्मों को भस्म किया जाता है। यह तीन गाथाओं मे सर्व उपयोगी ध्यानी को वता दिया गया है। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत चार प्रकार कास्वरूप निम्न प्रकार से जानने योग्य है।

(१) पदस्थ ध्यान—श्री पद्मसिंह मुनि ज्ञान सागर में कहते हैं.—

स्थं च पंच सत्तय पणतीसा जहकमेण सियवण्णा।

भनायह पयस्थ झाणं उवइठ्ठं जोतजुतत्तहिं ॥२२॥

भावार्थ—योगाभ्यास के वल से पदस्थ ध्यान में श्वेतवर्ण के अक्षरों को विराजमान करके ध्यावे। इन पदों को नाभि, हृदय, मुख, कण्ठ, नासिका, अग्रभाग भृकुटि के मध्य, मस्तक, सिर इन सात में से किसी स्थान पर कमल वनाकर उस पर स्थापन करके ध्यावे। मन्त्र कई प्रकार के प्रसिद्ध हैं।

३५ अक्षरों का णमोकार मन्त्र।

१६ अक्षरों का अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यो नमः।

७ ,, ,, णमो अरहन्ताण,णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण।

६ ,, ,, अरहन्त सिद्ध, ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः।

५ ,, ,, अ सि आ उ सा—ॐ नम सिद्धं।

४ ,, ,, अरहन्त।

२ ,, ,, सिद्ध, सोहं, ॐ ह्रीं, अर्हं।

१ ,, ,, ॐ, ह्रं, अ।

हृदयस्थान में एक कमल आठ पत्तों का विचारे, हर एक पत्ते पर छ एक तरफ छः दूसरी तरफ ऐसे बारह बिन्दु विचारे, बीच में कर्णिका के घेरे मे बारह बिन्दु विचारे एक २ पत्ते को क्रमश लेकर एक २ बिन्दु पर एक २ मन्त्र को पूरा पढ़कर जपे व अर्थ को विचारे।

एक कमल हृदय मे विचारे। उसके आठ पत्तों पर क्रम से णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण, सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नम., सम्यक्चारित्राय नम ऐसे आठ पद लिखे। विचार कर ध्यावे चन्द्रमा के समान चमकते हुए, नासिकाग्रभाग, मस्तक या हृदय मे स्थापित कर या अन्यत्र रखकर ध्यावे। यह सब पदस्थ ध्यान है विशेष स्वरूप श्री ज्ञानार्णव में जानना योग्य है।

(२) पिंडस्थ ध्यान.—शरीर मे विराजित अपने शुद्ध आत्मा

का ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है। इसकी पांच धारणाओं का विचार क्रम से करना चाहिये।

पृथ्वी धारणा.—मध्य लोक को क्षीर समुद्र विचारे, उसके मध्य में जम्बू द्वीप प्रमाण रूप लाख योजन का चौड़ा एक हजार पत्तों के कमल में सोनेके रग को विचारे। बीच में कर्णिका के स्थान पर सुमेरु पर्वत को सुवर्ण रग का विचारे। पर्वत के ऊपर पांडुक को विचारे। पांडुक शिला अर्द्ध चन्द्राकार है। उस पर स्फटिकमणि का सिंहासन है। उसके ऊपर पद्मासन से बैठा हुआ अपने को विचारे कि मैं कर्मों को विध्वंस करने को बैठा हूँ। इतना बारम्बार विचारना पृथ्वी धारणा है।

अग्नि धारणाः—उसी सिंहासन पर बैठे हुए ऐसा विचारे कि मेरी नाभि के स्थान पर भीतर ऊपर को उठा हुआ-एक श्वेत वर्ण का सोलह पत्तों का कमल है। उन पर सोलह अक्षर पीले रग के चमकते हुए विचारे। वे १६ स्वर हैं। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। व उस कमल के मध्य में र्हं अक्षर विचारे। इस कमल के ठीक ऊप सीध मे हृदय स्थान पर एक औंधा नीचा मुख कमल आठ पत्तों का विचारे। उन पत्तों को ज्ञानावर्णादि आठ कर्म समझे फिर विचारे कि नीचे के कमलके मध्य र्हं की रेफ से धुआँ निकला फिर अग्नि ज्वाला निकली और वह बढ़कर आठ कर्मरूपी कमल को जलाने लगी। आग की लौ आठकर्मरूपी कमलके मध्य से ऊँची

होकर मस्तक पर आई। फिर एक ज्वाला शरीरके एक तरफ व एक दूसरी तरफ गई और नीचे जाकर मिलगई। शरीर के चारों ओर त्रिकोण वन गया। त्रिकोण की तीनों रेखाओं मे र र र र अक्षर अग्निमय विचारे। इस त्रिकोण के वाहरी तीन कोणों पर अग्निमय स्वस्तिक लिखे व भीतरी तीनों कोणों पर अग्निमय लिखे। इस अग्निमन्डल को वनाकर फिर यह ध्यान करे कि भीतरी अग्निमन्डल कर्मों के कमल को व वाहरी अग्निमन्डल शरीर को जला रहा है। जलते २ राख वन रही है इस तरह कर्म व शरीर जल कर रज हो गये। व अग्नि र्हं के रेफ से उठी थी उसी में समा गई। ऐसा वारम्वार ध्यान करे सो अग्नि धारणा है।

(३) वायु धारणा—तीव्र चलती हुई पवन को विचारे। पवन का वीजाक्षर स्वांय २ चारो तरफ गोल पवन मन्डल के लिखा हुआ है यह गोल मन्डल घूम २ करके कर्म व शरीर की रज को उड़ा रहा है। आत्मा स्वच्छ हो रहा है ऐसा चिंतवन करे।

(४) जल धारणाः—काले २ मेघ छा गये, विजली कड़कने लगी, पानी वरसने लगा, अर्धचन्द्र के आकार जलमन्डल उनके ऊपर वन गया। अपनी आत्मा पर पानी वहता हुआ व कर्म नौ कर्म की रज को धोता हुआ विचारे कि आत्मा विल्कुल साफ हो रहा है।

(५) तत्त्व रूपवती धारणा—अव विचारे कि मेरा आत्मा विल्कुल शुद्ध पुद्गल से रहित है स्फटिकमणि के तुल्य है। यही

सिद्ध है ऐसा शुद्धात्मा का ध्यान करे सो तत्व रूपवती धारणा है। ज्ञानसागर में कहा है।

णियणाहिकमलमज्झे परिदिठयं विप्फुरतएवितेयं।
झाएह रूपं झाणं तं मुणह पिंडस्थं ॥ १ ॥

भावार्थ—अपनी नाभि के मध्य कमल मे विराजित सूर्य के समान तेज रूप मन्त्र के द्वारा अरहन्त को ध्यावे, सो पिंडस्थ ध्यान है यह अग्नि धारा की अपेक्षा से कहा गया है।

(३) रूपस्थ ध्यान—समवशरण में स्थित आठ प्रातिहार्य सहित अरहन्त भगवान् के स्वरूप को ध्यावे। अरहन्त के द्वारा अपने आत्मा को ध्यावे। ज्ञानसार में कहा है :—

घणघायिकम्ममहणो अइसुइवरपाडिहेरसंयुत्तो।
झाएह धवल वण्णो अरहन्वो समवसरणत्थो ॥२८॥

भावार्थ—समवसरण में स्थित अतिशय व प्रातिहार्य सहित व चारघातिया कर्म रहित श्वेतवर्ण अरहन्त के ध्यानाकार स्वरूप का ध्यान करे।

(४) रूपातीत ध्यान—एकदम से सिद्ध का स्वरूप ध्यावे कि चैतन्य स्वरूपी, पुरुपाकार, शुद्ध, ज्ञानानन्दमई आत्मा है। सिद्ध के स्वरूप की अपने आत्मा में आरोपण करके ध्यावे।

ज्ञानसार में कहा है:—

जरमरणजम्मरहिओ, कम्मविहीणो विमुक्कवाबारो।
चउगइगमणागमणो णिरंजणो णिरुवमो सिद्धो ॥२३॥

भावार्थ—वे सिद्ध भगवान् जन्म, जरा, मरण से रहित हैं, आठ कर्म रहित हैं, क्रिया रहित हैं, चार गति में गमन आगमन से रहित हैं, रागादि मैल रहित हैं तथा अनुपम हैं। धर्म ध्यान के चार भेद हैं उनको भी ध्यावे।

(१) आज्ञाविचय—जिनेन्द्र की आज्ञा के अनुसार जीवादि तत्त्वों को जान कर आत्मा का स्वरूप पर से भिन्न विचारे। तत्त्वार्थसार में कहा है:—

प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमाज्ञामर्थावधारणम् ।
गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचयमुच्यते ॥४०-७॥

भावार्थः—सर्वज्ञ की आज्ञा के अनुसार कठिन पदार्थों का स्वरूप निश्चय करके उनके स्वरूप का विचारना आज्ञा विचय धर्म ध्यान कहा जाता है।

(२) अपाय विचय —हमारे रागादि भावों का कैसे नाश हो, दूसरे जीव कुमार्ग को छोड़कर किस तरह सुमार्ग पर आवें व वीतराग भाव को प्राप्त करें। ऐसा ध्यान अपाय विचय है। तत्त्वार्थसार में कहा है कि:—

कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी उन्मार्गतो जनाः ।
अपायमिति या चिन्ता तदपायविचारणम् ॥४१-७॥

भावार्थ.—जगत् के प्राणी किस प्रकार कुमार्ग से छूटकर सुमा र्ग में चलें, ऐसी चिन्ता करना अपाय विचय धर्म ध्यान है।

(३) विपाक विचय—अपनी व दूसरे प्राणियों की अच्छी व बुरी अवस्थाओं को देखकर कर्मों के उदय को विचारना विपाक विचय धर्म ध्यान है। तत्त्वार्थ सार में कहा है —

द्रव्यादिप्रत्ययं कर्म फलानुभवनं प्रति।
भवति प्रणिधानं यद्विपाकविचयस्तु सः ॥४२-७

भावार्थः—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारण से जो कर्मों के फल का अनुभव होता है उसका चिंतवन करना विपाक विचय धर्म ध्यान है।

(४) संस्थान विचय—तीन लोक का आकार विचारना, जीवों के स्थान व सिद्ध क्षेत्र को विचारना सस्थान विचय धर्म ध्यान है। तत्त्वार्थ सार में कहा है —

लोकसंस्थानपर्यायस्वभावस्य विचारणम्।
लोकानुयोगमार्गेण संस्थानविचयो भवेत् ॥४३-७॥

भावार्थः—लोकानुयोग शास्त्रों के द्वारा लोकाचार्य, उसकी अवस्था, स्वभाव या लोक में प्राप्त छ द्रव्यों के स्वभाव का विचारना संस्थान विचय धर्म ध्यान है।

शुक्लध्यान को शून्य ध्यान व अवकाश ध्यान भी कहते हैं। यही केवल ज्ञान का कारण है। इसके भी चार भेद हैं। पहले दो केवलज्ञान के पहले होते हैं। अकेले दो ध्यान केवली के होते हैं।

(१) पृथक्त्व वितर्क विचार—यह आठवे गुण स्थान से

बारहवें के प्रारम्भ तक होता है। इस स्थानमें शुद्धोपयोग होत है। कषाय का उदय अति मन्द है। परिणामों की उज्ज्वलत यहाँ अनन्तगुणी से बढ़ती जाती है। पूर्व अभ्यास से यहा अबुद्धिपूर्वक पलटन होती है। ध्याता को खबर नही होती है यह ध्यान श्रुत के आधार पर होता है। इसमें तीन प्रकार क पलटन होती है। मन वचन काय योग की परस्पर पलटन होत है। उपयोग काय से वचन, वचन से मन, मन से काय व वचन पर जावें। एक शब्द से दूसरे शब्द पर तथा ध्येय पदार्थ में द्रव्य से किसी गुण पर या पर्यायपर इस तरह पलटन होती है। इस शुक्ल स्थान से मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम या क्षय किया जाता है। यह निर्मल स्वानुभव की दशा होती है।

तत्त्वार्थसार में कहा है —

द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायंति यत्त्रिभिः।
शान्तमोहस्ततो ह्येतत्पृथक्त्वमिति कीर्तितम् ॥ ४५–७ ॥
श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः।
पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥ ४६-७ ॥
अर्थव्यंजनयोगानां विचारः संक्रमो मतः।
विचारस्य हि सद्भावात् सविचारमिदं भवेत् ॥ ४७-७ ॥

भावार्थ —इस ध्यान में तीनों योगों से अनेक भेद रूप द्रव्यों के मोह को शान्त करता हुआ साधु ध्याता है, इसलिए

इसे पृथक्त्व कहते हैं। पूर्वों के अर्थ के ज्ञान से श्रुत का अवलम्बन होता है उसको वितर्क कहते हैं। उस श्रुत के भाव को भी भिन्न करके ध्याते हैं इसलिये इसे सवितर्क कहते हैं। यहाँ एक ध्येय पदार्थ के अर्थ से दूसरे ध्येय पदार्थ पर एक शब्द से दूसरे शब्द पर तथा एक योग से दूसरे योग पर पलटन होती है। इस को विचार सहित कहते हैं।

(२) एकत्व वितर्क अविचारः—इस दूसरे शुक्ल ध्यान को क्षीण मोही १२वें गुण स्थानधारी साधु ध्याता है। यहाँ पर एक कोई योग व एक कोई ध्येय व एक कोई शब्द का आलम्बन है, पलटन नहीं है, इस ध्यान से शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय कर के अरहन्त केवलज्ञानी हो जाता है। अन्तर्मुहूर्त इस ध्यान में ठहरने से शरीर से निगोद जीव चले जाते हैं व शरीर की धातु पक कर शुद्ध हो जाती है। शरीर परमौदारिक स्फटिक या कपूर के समान निर्मल हो जाता है। तत्त्वार्थसार में कहा है—

द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च।
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत्॥ ४८-७॥
श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थ शिक्षितः।
एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्क ततो हि तत्॥ ४९-७॥
अर्थव्यंजनयोगानां विचारः संक्रमो मतः।
विचारस्य ह्यसद् भावादविचारमिदं भवेत्॥ ५०-७॥

भावार्थः—इस ध्यान में एक किसी योग से किसी द्रव्य को या ध्येय को एक किसी शब्द के द्वारा ध्याया जाता है । इसलिए इसे एकत्व कहते हैं। पूर्वों के ज्ञान से प्राप्त श्रुत को वितर्क कहते हैं। वहाँ एक ही श्रुत के मत का आलम्बन है। इसलिए सवितर्क है। ध्येय रूप अर्थ शब्द व योग की पलटन को विचार कहते है वह विचार यहाँ नहीं है। इसलिए इसको अतिचार कहते हैं।

कलिगे महाबलंगेमुखकुक्कट कूर्मसरोजवज्रकुं- ।
डलिकमयूर वीरकरोत्कुटिकासन मादियादि वुं-॥
फलिसुगुमल्प शक्तिमेसेगु परियंकमदोंदुमग्गुलोळ्-।
मलगियुमात्मदृष्टियडुदारदवंगपराजितेश्वरा ! ॥८८॥

हे अपराजितेश्वर ! महाबलशाली शूर पुरुषकी कुक्कुटासन, कूर्मासन, कमलासन, वज्रासन, कुंडलीक आसन, मयूरासन, वीरासन, मकरासन, उत्कुटिकासन, इत्यादि इन सभी आसनों की साधना होती है, अल्प शक्ति वाले को पल्यंकासन ही अनुकूल होता है, इसको शक्तिहीन होने वाले को एक कर्वटपर सोते हुए ध्यान करने पर भी आत्म दर्शन होता है ॥८८॥

88. O, Aparajiteshwar ! The postures such as Kukutasan, Kurpasan, Makrasan, Kutasan,

Vajrasan, Kundaliksan, Mayurasan, Virasan, Utkutikasan, etc., become help in contemplation for strong persons. Palyankasan is fit for persons with little powers. Those who are very week may contemplate even while lying.

विवेचनः—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह वतलाया है कि ऊपर जिन आसनों का वर्णन किया जा चुका है वे आसन सामान्य मनुष्यों के लिए असाध्य हैं। कुक्कुट, कूर्म, पद्मासन, वज्रासन, कुन्डलीक, मयूर, वीर, मकर, उत्कुटिक इत्यादि आसन महावलशाली धीर वीर वज्र वृषभ नाराच संहनन वाले महापुरुषों से ही सिद्ध होते हैं। अन्य अल्प शक्ति वाले को पल्यंकासन ही अनुकूल होता है । परन्तु ज्ञानी सम्यग्दृष्टी आत्मध्यान में रुचि रखने वाला, आत्मचिन्तन में रत होते हुए, एक कर्वट लेते हुये आत्म सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उनके लिये इन आसनों की जरूरत नहीं पड़ती है। क्योंकि जितने भी आसन ऊपर वताये जा चुके हैं। वे सभी कठिन कर्मों को ढीला करने के लिये अथवा चंचल मन को स्थिर करके अपने आत्म तत्त्व में एकाग्रता प्राप्त करने के लिये हैं, और कोई इसका मतलव नहीं है।

जैनाचार्य श्री शुभचन्द्र महाराज ने अपने ज्ञानार्णव मे प्राणायाम की विधि में वतलाया है कि प्राणायाम के करने से परिणामों की निर्मलता होकर मन एकाग्रभाव से आत्म तत्त्व में स्थिर हो

जाता है। इसी अभिप्राय से इसका वर्णन किया गया है। किसी अन्य लौकिक सिद्धि धन-धान्य की प्राप्ति तथा मन की इच्छा की पूर्ति करने के लिए नहीं बतलाया गया है।

अन्य वेदांतादि ग्रन्थों में जो प्राणायाम की विधि बतलाई गई है वह केवल अपने स्वार्थ साधन, मत्र तंत्रादि की शुद्धि तथा लौकिक ख्याति पूजा आदि के लिये ही है। और भी जो आसन हम बता चुके हैं उनके अतिरिक्त वैदिक ग्रथों में चौरासी आसन बतलाये गये हैं। वे सभी यत्र मत्र की सिद्धि, उच्चाटन, वशीकरण, स्तभन, आकर्षण, विद्वेषन इत्यादि कार्यों में प्रयुक्त होकर अलौकिक सिद्धि तथा पाप के कारण हैं। इसके अलावा इनसे पुण्य या आत्म सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आत्म सिद्धि के लिए केवल बाह्य पर वस्तु से मुख मोड़ कर आत्म के सन्मुख होना और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की जरूरत है।

इसलिए महान् बलशाली और धीर वीर पुरुषों ने बाह्य इन्द्रिय जन्य सुख की तरफ से अपने मन को हटा कर आत्मस्वरूप मे स्थिरता पूर्वक लगाने के लिए महान् २ आसनों का प्रयोग किया है अतः उन्हीं आसनों के द्वारा आत्म सिद्धि प्राप्त करली।

प्रश्न—बलशाली किसे कहते हैं?

उत्तर—तद्भव मोक्षगामी उत्तम सहनन को धारण करने वाले

अनेकों आने वाले उपसर्गों को सहन कर अपने आत्मज्ञान से विल्कुल च्युत न होते हुये अतमुर्हूर्त में कर्म रूपी शत्रुको ज्ञान रूपी अग्नि के द्वारा भस्म कर अनत ज्ञानयुक्त आत्मानन्द साम्राज्य के अधिपति होते हैं। और वे वज्र वृपभ नाराच सहनन के धारी होते हैं।

अनत दर्शन, अनत ज्ञान, अनत सुख और अनंत वल की प्राप्ति के लिये उत्कृष्ट सहनन की आवश्यकता है। क्षायिक श्रेणी वही पुरुष प्राप्त कर सकता है जिसका दृढ़ सहनन हो। उत्तम पद की प्राप्ति के लिए उत्तम सहनन की आवश्यकता है।

असपाटिका संहनन वाले जीव स्वर्ग गति में जो उत्पन्न हों तो पहले सौ धर्म युगल (सौधर्म ऐशान स्वर्ग) से चौथे लांतव युगल (लांतव कापिष्ट स्वर्ग) तक चार युगलों मे उत्पन्न होते हैं। फिर चौथे युगल के बाद दो दो युगलों में क्रमसे कीलित संहनन वाले और अर्द्ध नाराच सहनन वाले जीव जन्म धारण करते हैं। अर्थात् पांचवें तथा छटे स्वर्ग युगल में कीलित संहनन वाले और सातवें तथा आठवे स्वर्ग युगल में अर्द्ध नाराच संहनन वाले जन्म लेते हैं।

नाराच आदि तीन सहनन से अर्थात् नाराच, वज्र नाराच, वज्र वृषभ नाराच इन तीन सहननों के उदय से ये जीव नव ग्रैवेयिक मे, वज्र नाराच, वज्र वृषभ नाराच दो संहनन वाले

नव अनुदिश विमानों में तथा वज्र वृषभ नाराच संहनन वाले पाच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं।

छह सहनन वाले सैनी जीव यदि नरक में जन्म लेवें तो मेघानाम तीसरे नरक पर्यन्त जाते हैं। सृपाटिका सहनन रहित पाच सहनन वाले अरिष्टा नाम पाचवीं नरक की पृथ्वी तक उपजते हैं। चार सहनन वाले अर्थात् अर्द्ध नाराच पर्यन्तवाले पांचवीं के वाद जो मघवा नाम छठी पृथ्वी है और आदि के वज्र वृषभ नाराच सहनन वाले सातवीं माधवी नाम पृथ्वी तक उत्पन्न होते हैं।

कर्म भूमि की स्त्रियों के अन्त के तीन अर्द्ध नाराचादि सहननों का ही उदय होता है। आदि के तीन वज्र वृषभ नाराचादि सहनन कर्म भूमि की स्त्रियों के नहीं होते ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

ध्यान की सिद्धि के लिये आसनों का वड़ा महत्त्व है। योग, आसन, प्राणायाम आदि योगिक क्रियाओं के द्वारा रोगों से अपने शरीर की रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं।

योग दर्शन का महर्षि पतञ्जलि ने भी वड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है। अपनी विचार-

धारा को अनुशासित किये बिना हम अपनी तन्दुरुस्ती को स्थायी नहीं रख सकते ।

जब तक हमारा शारीरिक और मानसिक व्यापार हमारे अनुशासन में नहीं है तब तक सम्भव है कि हमें किसी पर भी अनुशासन करने के प्रयत्नो में असफलता का मुख देखना पड़े। जिस प्रकार धन के बल पर तथा सेना और पुलिस के बल पर राष्ट्र के व्यक्तियों पर अनुशासन कर सकते हैं। परन्तु वह अनुशासन क्षणिक होगा। जिस राष्ट्र के व्यक्ति स्वय अपनी इच्छा से ही अपने को अनुशासन में रखते हैं वही राष्ट्र सुखी और सम्पन्न रह सकता है। शारीरिक और मानसिक रोगों को अनुशासित करने के लिये भी हमें कोई न कोई योगिक क्रिया १०-१५ मिनट करनी चाहिए। जिस से हमारे शरीर पर रोग आक्रमण करने में समर्थ न हो।

योग के आठ साधन—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि ।

योग के आठ साधनों को साधने से अशुद्धि के क्षय होने पर

विवेक का प्रकाश होता है। जिससे ज्ञान की ज्योति बढ़ती है।

जैसे-जैसे साधनों का अनुष्ठान करते जायेंगे वैसे वैसे अशुद्धि घटती जायगी और विवेक का प्रकाश बढ़ता जायगा। तथा शारीरिक व मानसिक निरोगता प्राप्त होती जायगी।

अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं।

१. मन, वचन, काय से सदा सब प्राणियों को पीड़ा न देना अहिंसा है।

२. वस्तु का यथार्थ निरूपण करना सत्य है।

२. सब प्रकार के समह मे, पराये द्रव्य मे लालच न करना अस्तेय है।

४. अपनी आत्मा में रमण करना और वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचये है।

५. पदार्थों से ममत्व बुद्धि का त्याग करना अपरिग्रह है। सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह है।

पाँच पापों का सर्वथा त्याग करना महाव्रत है और पच व्रतों का शक्ति के अनुसार पालन करना अणुव्रत है।

योग का साधन

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः ।

(१) शौच (२) संतोष (३) तप (४) स्वाध्याय (५) ईश्वर-भक्ति, ये ५ नियम हैं।

शौच—लोभ का सर्वथा त्याग करना अन्तरग शौच है और बहिरग शरीरकी शुद्धि रखना सात्विक आहार विहार करना बाह्य शौच है।

अहिंसा व्रत की भावनायें

मैत्री—समस्त जीवों के साथ मित्रता का भाव रखना।

प्रमोद—गुणवान् पुरुषों को देखकर हर्ष का भाव होना।

करुणा—दीन दुःखी पुरुषों को देखकर दया का भाव रखना।

माध्यस्थ—विपरीत स्वभाव वालों को देखकर माध्यस्थ अर्थात् उपेक्षा का भाव रखना।

सन्तोष—तृष्णा का त्याग करना प्राप्त हुए वैभव मे सन्तोष पूर्वक निर्वाह करना।

तप—इच्छाओं का निरोध करना तप है।

स्वाध्याय—उत्तम धर्म ग्रन्थों का पठन-पाठन करना स्वाध्याय है।

ईश्वर भक्ति—नित्य प्रति भगवान् की पूजा, दर्शन और उन के गुणों में अनुरक्त होकर गुणगान करना ईश्वर भक्ति है।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

आसनों में श्वास प्रश्वास की गति को विच्छेद करना प्राणायाम है। क्रियात्मक रूप से प्रति दिन प्राणायाम करके लाभ उठावें।

'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो-दीर्घसूक्ष्मः'

पूरक कुम्भक रेचक, देश काल संख्या के द्वारा दीर्घ और सूक्ष्म प्राणायाम देखा गया है।

प्रत्याहार

स्व विषयऽसंप्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

इन्द्रियां चित्त के आधीन रहती हैं। जब चित्त विषयों से हट जाता है तब इन्द्रियां विषयों को न पाकर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करने लगती हैं और इसे प्रत्याहार कहते हैं।

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।

प्रत्याहार सिद्ध होने पर इन्द्रियां सर्वथा वशीभूत हो जाती हैं इन्द्रियों के वशीभूत होने का अभिप्राय यह है कि संसार के सब कामों को करते हुए हमारा चित्त इन्द्रियां सहित हमारी आज्ञा के बिना किसी भी विषय का चिन्तन न करे।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

चित्त को कहीं भी लगा देना धारणा है ।

ध्यान

एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानम् ।

सब तरफ से चिन्ताओं को हटाकर एक तरफ लगा देना ध्यान है ।

ये पांच नियम कहलाते हैं ।

यम नियमों का पालन क्यों करना चाहिये ?

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥५॥

अहिंसा की सिद्धि होने पर उसके सामने प्रत्येक प्राणी वैर भाव को त्याग कर देता है ।

जो किसी को न सतायेगा उसे भी कोई न सतायेगा । सत्य में स्थित होने पर क्रिया और फल का आश्रय हो जाता है ।

जो कभी झूठ नहीं बोलेगा उसकी वाणी में वह शक्ति आ जायगी कि जो कुछ वचन वह कहदे वही वचन फलेगा । अर्थात् उसका वचन व्यर्थ नहीं जायेगा ।

इसी प्रकार अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का माहात्म्य है ।

'स्थिर सुखमासनम्'

जिस मे स्थिर सुख हो वह आसन है । स्वाभाविक ढग से जो आसन रुचिकर प्रतीत हो वही उत्तम आसन है ।

आसन करने से शरीर को अधिक सर्दी, गर्मी, के कारण जो अनेक रोग हो जाते हैं उन से शरीर की रक्षा हो जाती है। आसनों के द्वारा शरीर के अन्दर वाले प्रमुख अगों को वह अनुशासित कर लेता है। जैसे दिल, दिमाग, फेफड़े, जिगर, मेदा, तिल्ली, गुर्दे, छोटी आँत, बड़ी आँत, आमाशय आदि समस्त अगों से ठीक ठीक काम लेने में वह निपुण हो जाता है।

आसन अनेक प्रकार के होते हैं। परन्तु उनमें कुछ मुख्य हैं। पद्मासन और खण्डासन। सिवाय इसके और भी ध्यान अध्ययन आदि के उत्तम साधन हैं।

सिद्ध आसनः—बायें पाव की एड़ी सीवन पर लगावें। दाहिने पाव के टखने का बाये पाव के गट्टे के ऊपर रखकर मेरु दड सीधा करके बैठे रहे। यह सिद्धासन का फल हुआ।

वीर्य सम्बन्धी कोई रोग नहीं होगा। पुरुषत्व शक्ति बढ़ेगी। ब्रह्मचर्य में सहायता मिलेगी।

गोमुख आसन.—सीधी टांग उलटी टाग के ऊपर से ले जाकर सीधे पांव की एड़ी को बाये नितम्ब से मिलाले।

इससे मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

वज्र आसन —ऊंधे घुटने टेककर बैठ जावें। सीधा पांव उल्टे पाव के पजे पर रखलें और मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठे रहे।

यह आसन जठराग्नि प्रदीपक तथा सौंदर्य वर्धक है। खाना

खाकर ३ मिनट बैठने से समस्त प्रकार के उदर रोग और मंदाग्नि को नाश करता है।

सुख आसन—साधारण आलती-पालती मारने को ही सुखासन कहते हैं।

इस आसन को सुखासन क्यों कहते हैं—

मोटे पेट वाले लोग जो कि पद्मासन, गोमुख आसन, आदि में जोड़ों के सख्त हो जाने के कारण, अथवा जांघों पर अधिक मांस चढ़ जाने के कारण दु.ख अनुभव करते हैं उनके लिए यह आसन अत्यन्त सुखदाई है।

पद्मासन—व वद्ध पद्मासन—वांये पांव को दाहिनी टांग के जड़ में रक्खें। दाहिने पांव को वाईं टाग के जड़ में रखें मेरुदण्ड सीधा करके बैठे रहें।

पद्म आसन का फल—दिल की ताकत बढ़ाता है। कोई भी हृदय रोग आयु पर्यन्त नहीं होगा।

वद्ध पद्मासन का फल—नाभी कभी नहीं उतरेगी।

धनुष आसन—चित्त लेटकर हाथों को कानों के पास और पांवोंको नितबके पास स्थित करके १५,२० वार दीर्घ श्वास लें और निकालें ऐसा करने के पश्चात् एक दीर्घ श्वास फेफड़ों में भरकर रोकलें। और धीरे २ शरीर को धनुष की तरह मोड़कर उसमें तीन क्षण स्थित रहे।

धनुष आसन का फल—यह आसन वृद्धावस्था को दूर करता

है। दिल और फेफड़ों के रोगों से बचाता है।

तीर आसन—दोनों पांव सामने फैलाकर बैठ जावें। सीधे पांव के अंगूठे को सीधे हाथ से पकड़ कर जकड़ लें। धीरे धीरे उसको बांये फेफड़े से मिला लें। कोहनी और टांग के बीच से सिर निकाल लें।

बांये हाथ से बाये पांव को छूकर आँखें बन्द करलें। दो चार बार गहरे-गहरे श्वास लेकर आलती पालती मार कर बैठे रहें आराम करें फिर यही काम बांये पांव को पकड़ कर करलें।

फल—आयु पर्यन्त जोड़ों का दर्द नहीं हो सकता।

महामुद्रा आसन—बाये पांव की एड़ी सीवन पर लगाकर दाहिना पांव घुटने की सीध से १२० डिग्री पर रक्खें। दोनों हाथों से सीधे पाँव को पकड़ कर आँखें बन्द करलें। १५, २० बार दीर्घ श्वास लें और फिर एक दीर्घ श्वास ३, ४ सेकन्ड के लिये बाहर निकालकर बाहर ही रोककर सिर दाहिने घुटने से छुआलें।

फल—शरीर में उत्पन्न होने वाला विष दूर हो जाता है।

पश्चिमोत्थान आसन—दोनों पाँव सामने फैलाकर हाथों से पाँवों को पकड़लें। १५, २० बार दीर्घ श्वास फेफड़ों में भरे और निकालें। उसके बाद श्वास बाहर निकाल कर बाहर ही रोक कर सिर घुटनों से छुआलें।

फल—समस्त प्रकार के ज्वरों से आयु पर्यन्त मुक्त रहेंगे।

सर्वांग आसन—सर्वांग आसन करने की विधि—चित्त

लेट जाना चाहिए । आँखें बन्द करके दोनों पाँवों को मिलाकर आकाश की ओर ले जाना चाहिए मेरुदण्ड को जितना हो सके सीधा कर लेना चाहिए।

इस बात की सावधानी रखनी चाहिये कि आपका सिर ऊपर न उठे। यह आसन समस्त रोगों से रक्षा करता है अर्थात् यह आसन समस्त रोग नाशक, जठराग्नि प्रदीपक, नेत्र ज्योति वर्धक, तथा स्मरण शक्ति को तीक्ष्ण करने वाला है। यही आसन वीर्य वर्धक, रक्त शोधक तथा बुद्धि वर्धक है।

विपरीत करणी मुद्रा—यह मुद्रा सर्वांग आसन का ही एक अंग है । अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें पद्मासन बांध लिया जाता है।

हल आसन—इसमें पहले सर्वाङ्ग आसन करके स्थिर रहना चाहिए। हाथों का सहारा कमर से कभी भी नहीं हटाना चाहिये धीरे धीरे पांवों को सिर की तरफ ले जाना चाहिए। घुटने सख्त तने रहने चाहिए।

फल—वीर्य रक्षा होती है।

मत्स्य आसन—पद्मासन बांधकर सो जाना चाहिए। हथेलियों को कानों के पास लगाकर सिर को पीठ में दबा लेना चाहिए। तलवा धरती से लगा लेना चाहिए। पांवों को हाथों से पकड़ लेना चाहिये।

मत्स्य आसन—समस्त कंठ रोगों का नाशक है।

सर्प आसन—पेट के वल लेट जाना चाहिए हाथों को कुहियों के पास लगा लेना चाहिए। टांगों को सख्ती से तान कर रखना चाहिये।

यह आसन समस्त ज्ञान तन्तुओं को स्वस्थ रखता है।

शलभ आसन—पेट के वल लेट जाना चाहिये। मुट्ठियों को टांगों की जड़ों में लगा लेना चाहिये। १०-१५ लम्बे लम्बे सांस लेने चाहिये। सास अदर भर कर रोक लेनी चाहिये। शरीर का पीछे वाला हिस्सा और छाती वाला हिस्सा खूब तान कर ऊपर उठा लेना चाहिये। जव सांस वाहर निकालनी हो तो लेट जाना चाहिये।

उष्ट्र आसन—पेट के वल लेटजना चाहिये। इसके वाद दोनों हाथों से दोनों पैरों के टखनों को कस कर पकड़ लेना चाहिये। तीन चार वार गहरी गहरी सांस लेना चाहिये। फिर सास अन्दर भर कर अन्दर ही रोक लेनी चाहिये। फिर ताकत के साथ सिर और पैर तान लेने चाहिये। जव सांस वाहर निकालनी हो तो पांव सीधे करके आराम करना चाहिये।

गरुड़ आसन—पहले दीवार या किसी मनुष्य का सहारा लेकर सीधे खड़े हो जाना चाहिये। दाये पैर को वॉई टाग में लिपटा लेना चाहिए। फिर सहारा छोड़ कर भुजाओं को भी आपस में लपेट लेना चाहिये। जितनी देर खड़े हो सके उतनी देर खड़े रहे। छाती ऊँची तथा आँखें वन्द होनी चाहिये। इसी

प्रकार कूर्म कुक्कुटासन अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन मयूरासन, शीर्षासन, आदि आसन हैं उन्हें अन्य ग्रन्थों से समझ लेना चाहिये। विशद विवरण हो जाने से संपूर्ण आसनों का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया ॥ ८८ ॥

आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि इन उपर्युक्त आसनों से जडत्व नष्ट हो जाता है।

असुनसंकुलंगळनुबंधदि जाड्यहरं पटुत्वबे- ।
ल्लोसरिकुं पुराणरुजे पूरककुंभकरेचकंगळ- ॥
भ्यासमे चित्तमं स्थिरते माडि विकल्प मनोलुगुं समं- ।
तो समकट्टु वेकु निजमं बगे बंगपराजितेश्वरा ! ॥ ८९ ॥

हे अपराजितेश्वर ! आसन के समूहों के सम्बन्ध से जडत्व का नाश होता है शरीर में पटुता अर्थात् चतुराई उत्पन्न होती है और पुराना रोग सभी नष्ट हो जाता है । पूरक, कुंभक, रेचक इत्यादि प्राणायामों के अभ्यासों से ही मन को स्थिर करके विकल्पों को दूर कर देता है । इसी तरह अपने सिद्धात्मा के चिंतवन करने वाले को ऊपर कहे हुए सभी साधन या उपकरणों की जरूरत है ॥८९॥

89. O, Aparajiteshwar ! These postures destory dullness and infuse alertness in the body. The old diseases get destoryed Purak (inha-

lation), Kumbhak (holding the breath), and Rechak (exhalation) give stablity to the mind and control the thought activity. Hence, the above mentioned postures are useful for the contemplator of Siddhahood (perfect state of the soul).

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि इन आसनों के लगाने से शरीर में रहने वाले प्रमाद, आलस्य, जडत्व तथा असह्य वेदना उत्पन्न करने वाले भयकर रोग नष्ट हो जाते हैं और उनके नष्ट हो जाने से बुद्धि में तीव्रता, ध्यान में स्थिरता तथा इन्द्रियों में धैर्यता आ जाती है। इन्द्रियों के धैर्य हो जाने से मन निश्चलतापूर्वक अपने आत्म तत्त्व में भली भाति कार्य करते हुए उसी मे लीन होकर आत्मरूपी स्वाद को बारम्बार लेता हुआ उसी में रमण करता है।

इन आसनों के लगाने का फल यह है कि इससे सम्पूर्ण सकल्प-विकल्पों से दूर होकर मन आत्मा में स्थिर हो जाता है उसमें मन के स्थिर हो जाने से आत्म तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

आत्म स्थिरता के कारण और भी बहुत से जैनाचार्यों ने कहे हैं। प्राणापनादि ध्यान का महत्त्व नहीं दिया गया है। बल्कि इस से अधिक भेद ही बतलाया गया है।

फिर ध्यान की सिद्धि कैसे होती है और क्या करना चाहिये सो बतलाते हैं कि—

नेत्रद्वंदे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे।
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ॥
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे।
तेष्वेकस्मिन्विगत विषयंचित्तमालंबनीयम् ॥१३॥
ज्ञा० पृ० ६०६ ॥

निर्मल बुद्धि प्राप्त करने के लिये आचार्यों ने ध्यान करने के लिये युगल नेत्र दोनों कान, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु, दोनों भौंहों का मध्य भाग, इन दश स्थानों में से किसी एक स्थान में अपने मन को विषयों से रहित होकर स्थिर करना, अर्थात् इन स्थानों में से किसी एक स्थान पर ठहराकर ध्यान में लीन करना कहा है।

स्थानेष्वेतेषु विश्रान्तं मुनेर्लक्ष्यं वितन्वतः।
उत्पद्यंते स्वसंविचे वहवो ध्यान प्रत्ययाः ॥१४॥

इन पूर्वोक्त स्थानों में विश्राम रूप ठहराये हुए लक्ष्य को (चिंतन करने योग्य ध्येय वस्तु को) विस्तार करते हुए मुनि के स्वसंवेदनरूप से ध्यान के कारण वहुत ही उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—अन्यमतियों में जो ऊपर के विवेचनों में वतलाया हुआ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ अंगों के जो स्थान वतलाये गये हैं इसी तरह अन्य स्थानों में अन्य लोग भी इनमें से यम और नियम को

छोड़कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि इन छहों को कहते हैं।

दूसरे कोई कहते हैं—उत्साह से, निश्चय से, धैर्य से, सतोष से, तत्त्व दर्शन से तथा देश के त्याग से योग की सिद्धि होती है।

कोई कहता है—

एतान्येवाहुः केचिच्च मनः स्थैर्याय शुध्दये ।
तस्मिन्स्थिरीकृते साक्षात्स्वार्थसिद्धिध्रुवं भवेत् ॥ २ ॥

जो यमादिक कहे गये हैं वे मनको स्थिर करने के लिये तथा मन की शुद्धता के लिये कहे गऐ हैं। क्योंकि मन के स्थिर होने से साक्षात् सर्व सिद्धि होती है।

फिर कहते हैं—

यमादिषु कृताभ्यासो निःसंगो निर्ममो मुनिः ।
रागादिक्लेश निर्मुक्तं करोति स्ववशं मनः ॥३॥

जिसने यमादिक का अभ्यास किया है, जो परिग्रह और ममता से रहित है ऐसा मुनि ही अपने मन को रागादिक से निर्मुक्त तथा अपने वश में करता है।

इसके बारे में पूर्वाचार्य कहते हैं कि—

अष्टावंगानि योगस्य यान्युक्तान्यार्यसूरिभिः ।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण बीजंस्युस्तानि मुक्तये ॥४॥

योग के जो आठ अग पूर्वाचार्यों ने कहे हैं वे चित्त की

प्रसन्नता के मार्ग से मुक्ति के लिये बीजभूत होते हैं, प्रकार से नहीं होते।

अंगान्यष्टावपि प्रायः प्रयोजन वशात्क्वचित् ॥
उक्तान्यत्रैव तान्युच्चैर्विदांकुर्वन्तु योगिनः ॥५॥

आचार्य कहते हैं कि ये आठों अग भी प्रयोजनानुसार प्रायः इस ग्रथ में भी कहे गये हैं, उन्हें भली भांति सब को जानना चाहिये।

ये जितने क्रिया काड बतलाये गये हैं वे सभी मन को रोकने के साधन भूत बतलाये गये हैं, जब तक मन नहीं रोका जाता तब तक आत्मा में स्थिरता नहीं आ सकती। जिन्होंने मन को रोका उसने सभी को रोका, अर्थात् जिसने अपने मन को वश में किया उसने सब को वश मे कर लिया और जिसने अपने मन को वशीभूत नहीं किया उसकी अन्य इन्द्रियादिक का रोकना भी व्यर्थ ही है।

मन के व्यापार को रोकना ही आत्म सिद्धि है—

कलंक विलयः साक्षान्मनः शुद्ध्यैव देहिनाम्।
तस्मिन्नपि समीभूते स्वार्थसिद्धिरुदाहृता ॥७॥

मन की शुद्धता से ही साक्षात् कलक का विलय हो जाता है और जीवों के उनका सम भावस्वरूप होने पर स्वार्थ की सिद्धि कही गयी है। क्योंकि जब मन राग-द्वेष रूप नहीं प्रवर्तता तभी

अपने स्वरूप में लीन होता है, यही स्वार्थ की सिद्धि है।

इस तरह जो ज्ञानी आत्म सिद्धि की प्राप्ति करना चाहता है उनके लिये ग्रथकार ने योग्य आसन और योग्य स्थानबतलाया है। जब तक ये सभी सामग्री प्राप्त नहीं होतीं तब तक शुद्धात्मा की प्राप्ति भी अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि संसार रूपी महान् जंगल है और इस जगल में अनेक प्रकार की मिथ्यात्वरूपी झंझावात वायु आत्मा के चारों तरफ लगने के कारण आत्मा के अन्दर स्थिरता नहीं आती है और हमेशा व्याप्य व्यापक भाव का कारण बना रहता है। इस व्याप्य व्यापकभावना को नाश करना या इनका अभाव होना ही शुद्धात्मा की प्राप्ति है। इसीलिये ग्रथ-कारने उपर्युक्त साधनों को आवश्यक बतलाया है ॥८६॥

आगे ध्यान करने योग्य स्थान को बतलाते हैं.—

पोळे केरेयोळ्वार्द्धितटमर्हद्गारमरण्यमुं वनं- ।
पुळिनचल बिलं गुहे निषीदिके पाळ्मने रुद्र भूमियि- ॥
न्तुळिदविविक्तमक्के पशुषंड वधू खळजंतु दारिंगर् ।
सुळियद तानमादोडिदु ज्ञानके लेसपराजितेश्वरा ! ॥६०॥

हे अपराजितेश्वर ! नदी, सरोवर, समुद्र के किनारे, पर्वत की गुफा, जिन मन्दिर, वन वाटिका, रेती की चट्टान, शून्यागार, श्मशान एवं अन्य निर्जन स्थानों में पशु, नपुंसक, दुष्ट स्त्री,

दुष्ट जन तथा विघ्नकारक जीव-जन्तु से रहित स्थान ध्यान करने के लिए सर्वोत्कृष्ट है।

90. O, Aparajiteshwar ! The banks of a river or a tank, shores of a sea, cave of a hill, Jaina temple, sand, rock, empty house, funeral places, the places not frequented by the animals or eunuchs, evil women and other creatures are good places for contemplation.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि ऊपर जो प्रयत्न आत्म सिद्ध की प्राप्ति के लिए बतलाया गया है उस प्रयत्न से ध्यान के लिए नदी का किनारा, सरोवर का किनारा, समुद्र का किनारा, जिन मन्दिर मठ, शून्यागार, श्मशान भूमि और निर्जन स्थान ध्यान करने के लिए उत्तम है, क्योंकि इन स्थानों में ध्यान करने से ध्यान की सिद्धि शीघ्र होती है और आत्म स्वरूप की पहिचान अल्पकाल में ही हो जाती है। इसमें किसी प्रकार की शका नहीं है। परन्तु इसके विपरीत जानवर, स्त्री, नपुसक, पशु, दुर्जन, दुष्ट जीव जतु, डास मच्छर तथा अनेक जीव-जन्तुओं का कोलाहल होने वाला स्थान ध्यान करने के लिए निषिद्ध माना गया है। और अन्य ग्रन्थों में भी ध्यान करने के विषय में योग्य और अयोग्य स्थान का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥१॥

सिद्धक्षेत्र जहाँ कि बड़े २ प्रसिद्ध पुरुष ध्यान कर सिद्ध हुए हों पुराणपुरुष अर्थात् तीर्थंकरादिकों ने जिसका आश्रय लिया हो तथा महातीर्थ, जो तीर्थंकरों के कल्याणक स्थान हो, ऐसे स्थानों में ध्यान की सिद्धि होती है ।

सागरान्ते वनान्ते वा शैले शृंगान्तरेऽथवा ।
पुलिने पद्मखंडान्ते प्राकारे शालसंकटे ॥२॥
सरितां संगमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे ।
जीर्णोद्याने स्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥३॥
सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा ।
महर्द्धिक महा धीर योगि संसिध्य वांछिते ॥४॥
मनः प्रीतिप्रदे शस्ते शंका कोलाहलच्युते ।
सर्वर्तु सुखदे रम्ये सर्वोपद्रव वर्जिते ॥५॥
शून्यवेश्मन्यथ ग्रामे भूगर्भे कदली गृहे ।
पुरोपवनवेद्यन्ते मण्डपे चैत्यपादपे ॥६॥
वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते ।
स्थाने जागर्त्य विश्रांतं यमी जन्मार्ति शांतये ॥७॥

संयमी मुनियों को संसार की पीडा को शांत करने के लिए आगे लिखे स्थानों में निरन्तर सावधान होकर स्थिरतापूर्वक

ध्यान करना चाहिए। समुद्र के किनारे, वन में, पर्वत के शिखर पर, नदी के किनारे, कमल वन में, प्राकार (कोट) में, शाल वृक्षों के समूह में, नदियों के किनारे या जहाँ संगम हुआ हो, जल के मध्य द्वीप में, प्रशस्त वृक्ष के कोटर मे, पुराने वन में, स्मशान मे पर्वत की जीव रहित गुफा में, सिद्धकूट तथा कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयों में, जहाँ कि महाऋद्धिधारक, महाधीरवीर योगीश्वर सिद्धि की वांछा करते हों, मन को प्रशान्त करने वाले, प्रशंसनीय शंका कोलाहल शब्द से वर्जित स्थानों में तथा समस्त ऋतुओं में सुख को देने वाले रमणीक सर्व उपद्रव रहित स्थानों में, शून्य घर में, शून्य ग्राम में, पृथ्वी के नीचे ऊंचे प्रदेश में, कदली गृह में, नगर के उपवन की वेदिका में, वेदी पर के मडप में तथा चैत्य वृक्ष के समीप, वर्षा आताप हिम शीतादिक प्रचण्ड पवनादि से वर्जित स्थानों में निरन्तर ध्यान करने के लिये प्रशस्त प्रतिपादन किया गया है।

ऊपर के जो साधन बताये गये हैं वे महान् मुनिराजों के लिये ही योग्य हैं क्योंकि वे ही उन स्थानों मे अनेक उपसर्गों व परीषहों को सहकर आत्म ध्यान में लीन होने योग्य हैं। हीन सहनन वाले नहीं हो सकते ऐसा आगे के श्लोक मे बतलाते हैं—

वारद जानमं बरसिकोंव सुसाधु जनक्के बल्लवे।
घोर तपोधनं वगेन्नने मळेगाळि सिडिल्बिसिल्गळं-॥

सीरुडु पाउ पेन्नुलिंगळं पेररिट्टुपसर्गमं॥ मनो-।
धीरदे गेल्दु नित्यपदनप्प नला अपराजितेश्वरा ! ॥६१॥

हे अपराजितेश्वर। जिन्हे मन की चंचलता शीघ्र न दूर होकर ध्यान की प्राप्ति नहीं होती उन्हीं के लिये उपयुक्त साधन उपयुक्त हैं; परन्तु घोराघोर तपके द्वारा अपने मन को स्थिर करके आत्मस्वरूप में लीन रहनेवाले मुनियों को भी क्या इन आसनों की अपेक्षा होगी? कभी नहीं। वे मुनिराज पावस ऋतु में घनघोर वर्षा होनेपर, हृदय को विदीर्ण करने वाली कड़कड़ाहट ध्वनि के साथ बिजली के गिरने पर, सिंहसर्पादिक भयानक जीवों की गर्जना होने पर तथा क्रूर दुर्जनादिक मनुष्यों केमहान् उपसर्गों को करने पर भी उसे धैर्यतापूर्वक सहन करके निराबाध मोक्ष स्थान को प्राप्त नहीं होंगे क्या अवश्य होंगे ॥६१॥

91. O, Aparajiteshwar ! All the above means are prescribed for those persons who do not get cocentrated early, whose minds are not steady. But will they have any necessity who control the mind with great austerities and remain absor bed in their souls ? They win with great patience the adverse circumstances sueh as horrid rains, terrible thunders,attack of monster snakes and evil persons and they soon obtain liberation.

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि

जिन को ध्यान का अभ्यास नहीं है और जिनका मन ध्यान करने में बिल्कुल नहीं लगता उन्हीं के लिए उपर्युक्त साधन बतलाये गये हैं अर्थात् आसन, पूरक, कुम्भक तथा रेचकादि प्राणायाम उन्हीं लोगों को करना आवश्यक है, परन्तु जो ध्यान का अभ्यास पहले ही कर चुके हैं, जिनका मन सदा आत्मतत्त्व में लीन है तथा जो सासारिक पर पदार्थों से प्रीति हटाकर मुक्ति श्री से निरन्तर अनुरक्त रहते हैं ऐसे मोक्ष लक्ष्मी के साथ सर्वदा रमण करने वाले मुनीश्वरों को उपर्युक्त साधनों की क्या अपेक्षा होगी ? कुछ भी नहीं । क्योंकि वे मुनिराज मूसला धार वर्षा, पवन के झकोरे, बिजली की कड़कडाहट, सिंहसर्पादि भयकर जीवों की गर्जना तथा दुष्ट पुरुषो के द्वारा किये गये महान् २ उपसर्गों को धैर्यता पूर्वक सहन करके नित्यानन्द, अविनाशी, निरामय आत्मपद रूपी सच्चे स्थान को प्राप्त कर लेते हैं ।

मुनिराजों का कुटुम्ब बड़ा विशाल है। और वे कुटुम्बी जन सदा उनके पास रहा करते है क्योंकि मुनीश्वर अपने कुटुम्बियों से बडा स्नेह करते हैं ।

मुनियों के कुटुम्ब —

पिता योगाभ्यसो विषयविरतिः सा च जननी ।
विवेकः सोदर्यः प्रतिदिनमनीहा च भगिनी ॥

प्रिया क्षान्तिः पुत्रो विनय उपकारः प्रिय सुहृत् ।
सहायो वैराग्यं गृहमुपशमो यस्य स सुखी ॥

जिनका पिता योगाभ्यास, विषय कषाय की विरक्ति माता, विवेक बन्धु, अनीहा (अनिच्छा) बहिन, शान्ति पत्नी, विनय पुत्र, परोपकार मित्र तथा सहयोगी वैराग्य है ऐसे महामुनीश्वर साधु इन्हीं के साथ प्रेम करते हुये शुद्धात्म रूपी आत्म घर में सुख शान्ति के साथ चिरकाल पर्यन्त अपने जीवन को व्यतीत किया करते हैं।

आगे के श्लोक में ज्ञानी की भावना का वर्णन करते हैं।

रंभेये बंदुतांकोरलप्पिदोडं पुळुकंगळागदे ।
कुंभि चमूरु बृंहिसुते गर्जिसुतं वरे बल्पुगु दंदे ॥
जृंभिसि काळु गिच्चु कवियुत्तिरे बुद्धि कलंकदे शिला ।
स्तंभदेनल्के येन्नोळगे मिल्वेनदेंदं पराजितेश्वरा ! ॥६२॥

हे अपराजितेश्वर ! रंभा, तिलोत्तमा आकर मेरी छाती में चिपकने पर भी मेरे मन में तिलमात्र रोमांच या मन चलायमान न होते हुए, हाथी आदि महान् २ भयानक जन्तुओं के शब्द करते हुए आने पर भी हृदय में तुषमात्र भी घबड़ाहट न होते हुए, चारों ओर जंगल को अग्नि घेरे हुए रहने पर भी अपनी बुद्धि को मलिन न करते हुए मैं पत्थर के स्तम्भ के समान अपने आत्मा में कब स्थिर हो जाऊँगा ? ॥ ६२ ॥

92. O, Aparajiteshwar ! When shall I be steady in my self like a stone-pillar, without being moved even by the Physical contacts of Rambha and Tilottama, by the terrible sounds of elephants, by the burning wild all arround.

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि ज्ञानी जीव हमेशा अपने अन्दर भगवान् के प्रति ऐसी भावना भाता है कि हे भगवन् ! रंभा तिलोत्तमा भी आकर यदि मेरे गले में लिपट जाँय, बड़े हावभाव से, आलिंगन करें, तथा मेरे सम्पूर्ण बदन में चिपक कर प्रेम प्रदर्शित करती रहे तो भी मेरा मन तिलमात्र न डिगे अर्थात् आत्म ध्यान से च्युत न हो जाय तथा मेरा मन विकारी न बने। मेरी आत्मा में ऐसी दृढ़ता उत्पन्न हो जाय कि महान् २ हाथी की चिंघार होने पर तथा मेरे ऊपर आक्रमण करने पर भी मेरा उपयोग मेरे आत्म-स्वरूप से बाहर न जाय। यदि मेरे चारों ओर अग्नि घेर ले जिससे कि सारा शरीर जलकर राख भी हो जाय, परन्तु मेरा मन शुद्धात्म भावना से विचलित न हो। अर्थात् पत्थर की मूर्ति या स्तम्भ के समान मैं सदा निश्चल रहूँ तथा मेरी आत्मा के अन्दर परम निर्मल बुद्धि का विकास हो,जिससे कि मैं आत्म कल्याण कर सकूँ। ऐसा अवसर मुझ को कब प्राप्त होगा ?

सारांश यह है कि संसार से भयभीत भव्य ज्ञानी जीव,मुनि-जनों की वृत्ति को अपने अन्दर अपनाता है कहा भी है कि:—

अंनतक्लेशसप्ताचिंः प्रदीप्तेयं भवाटवी ।
तत्रोत्पन्नैर्न किं सह्यस्तदुत्थो व्यसनोत्करः ॥४४॥

यह ससार रूपी अटवी है सो अनन्त प्रकार के क्लेश रूपी अग्नि से सदा जलती रहती है। तो इसमे उत्पन्न होने वाले जीव क्या इस ससाररूपी वनमें उत्पन्न हुए दुःखों के समूह को नहीं सहते हैं ? अर्थात् सहते ही हैं, फिर मैं जो उपसर्ग जनित अल्प दु.ख को सह लूंगा तो ससार के अनन्त दु.ख नहीं होंगे।

सम्यग्ज्ञानविवेकशून्य मनसः सिद्धान्तसूत्रद्विपो ।
निस्त्रिशाः परलोकनष्टमतयो मोहानलोद्दीपिताः ॥
दौर्जन्यादिकलंकिता यदि नरा न स्युर्जगत्यां तदा ।
कस्मात्तीव्रतपोभिरुन्नतधियः कांक्षन्ति मोक्षश्रियम् ॥४५॥

यदि इस जगत् में सम्यग्ज्ञान और विवेक से शून्य चित्त-वाले, सिद्धान्त शास्त्र के द्वेषी, निर्दयी, परलोक को नहीं मानने वाले, नास्तिक या धूत, मोह रूपी अग्नि से सदा जलने वाले, दुर्जनतादि कलंक से कलंकित मनुष्य नहीं होते तो उन्नत बुद्धि वाले मुनिगण तीव्र तपस्यादिक करके मोक्ष रूपी लक्ष्मी को क्यों चाहते ?

भावार्थ—उक्त प्रकार के दुष्ट मोह रूपी अग्नि से हमेशा जलने वाले नास्तिक मुनि द्रोही, धर्म द्रोही, आगम द्रोही पुरुष अनेक

हैं। वे अपने को पण्डित मान कर स्वार्थ के वशीभूत होकर तप करनेवाले महामुनियों के ऊपर उपसर्ग या उनकी निन्दा करेंगे ही। उस उपसर्ग को जीतेंगे तभी हमें मोक्ष की सिद्धि होगी ऐसा विचार करके ही मानों मुनिगण मोक्ष के अर्थ तीव्र तपस्या करते हैं। मुनिगण विचारते हैं कि:—

वयमिह परमात्मध्यानदत्तावधानाः ।
परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः ॥
यदि निकषपरीक्षासु क्षमानो तदानीं ।
भजति विफलभावं सर्वथैष प्रयासः ॥ ४६ ॥

इस जगत् में हम परमात्मा के ध्यान में चित्त लगाने वाले हैं, पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले और ससार मार्ग के त्यागी हैं, तो यदि हम ऐसे होकर भी उपसर्ग परीषहों की कसौटी से परीक्षा में असमर्थ हो जावें। अर्थात् इस समय जो हम अपने उपशम भावों की परीक्षा नहीं करें तो हमारा मुनि धर्म के धारण करने का समस्त प्रयास व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि जब उपसर्ग आने पर शम भाव रहे तभी उपशम भाव की प्रशसा होती है।

अहो केश्चित्कर्मानुदयगतमानीय रभसा—
दशेषंनिर्द्धूतं प्रबलतपसा जन्मचकितैः ।
स्वयं यद्यायातं तदिह मुदमालम्ब्य मनसा
न किं सह्यं धीरैरतुलसुखसिद्धैर्व्यवसितैः ॥४७॥

अहो देखो ! अनेक मुनि गणों ने संसार से भयभीत होकर प्रबल तपादिक से उदय में लाकर समस्त कर्मों को शीघ्र ही नष्ट कर दिया। वे कर्म यदि उपसर्गादि के निमित्त से अपनी स्थिति पूरी करके स्वयं उदय में आये हैं, तो अमूल्य मोक्ष सुख की सिद्धि के लिये उद्यम करने वाले धीर पुरुषों को मनोभिलाषा पूर्वक क्या उपसर्गादि नहीं सहने चाहिये ? अर्थात् अवश्य ही सहने चाहिये क्योंकि जिन कर्मों को तीव्र तप करके नष्ट करना है वे स्वय स्थिति पूरी करके उदय में आये हैं तो उनका फल सह लेने में सहज ही में उनकी निर्जरा हो जाती है यह तो उत्तम लाभ है। इसे हर्ष पूर्वक सहना ही चाहिये, तभी मोक्ष की सिद्धि का उदय सफल हो सकता है ॥९२॥

अब आगे इसी तरह अपने अन्दर दृढतर भावना भानी चाहिये, ऐसा बतलाते हैं।

इरुतिरुतिर्दुचिंतिसि शरीरद कर्मदरूपनंते को- ।
करिसि तपोग्निर्यिं सुडुवेनी भवबंधमनेंदु धैर्यमं ॥
कुरिसि परीषहं वारेसि देहमनोड्डि निजात्मदृष्टियोळ् ।
तेरळदे निंदु गेल्ववने धन्यनला अपराजितेश्वरा ! ॥९३॥

हे अपराजितेश्वर ! "शरीर में रहते हुए तो शरीर के स्वरूप को तथा उसी तरह ग्लानि के कर्म स्वरूप को विचार करते हुए धैर्य शाली होकर इस भव रूपी बन्धन को तपरूपी अग्नि के

द्वारा जला देंगे " इस तरह धैर्य शाली होकर क्षुधाऽदि बाधा-के सताने पर भी उन बाधाओं को सहन कर अपने आत्मा मे च्युत न हो कर उसे जीतने वाले महामुनि धन्य नहीं है क्या ? अवश्य हैं ॥६३॥

93. O, Apaiajiteshwar! Are those not blessed who win great pains of hunger etc., determinig to burn down the rounds of Samsara by contemplating the nature of body and karmas and evolving the fires of asceticism.

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि आत्माराम का वास शरीर में हुआ तभी वह शरीर के आकार वाला और कर्मरूप भी हुआ अत उसे इस कर्म से अलग करने के लिये मुझे स्वपर भेद विज्ञान का अच्छी तरह अभ्यास करने की जरूरत है। आत्मा और शरीर दोनों में भिन्नता के लक्षण जानने के पहले मुझे अपने आत्मा के अन्दर दृढ़ता प्राप्त करने की जरूरत है। तत्पश्चात् आत्म ध्यान के द्वारा कर्म स्वरूप का विचार करते हुए आत्मा को सदा जन्म मरण के चक्कर में घुमानेवाले इस निंद्य शरीर के प्रति घृणा करते हुए धैर्य के साथ आत्मबल की प्राप्ति करके इस भवरूपी बन्धन को तप रूपी अग्नि के द्वारा मैं जला दूँ, ऐसी अपने अन्दर आत्मभावना की दृढ़ता को प्राप्त करके क्षुधादि बाधा को अपने अन्दर नहीं

आने देने वाला तथा इन वाधाओं के कारण अपने आत्म दर्शन से च्युत न होकर अच्छी तरह आत्मस्वरूप में स्थित होकर वाधा को जीतने वाला ज्ञानी भव्य जीव धन्य नहीं है क्या ? अवश्य ही वह धन्य है। तत्व भावना में कहा भी है कि:—

बुद्धिमान् लोग अनर्थ कार्य कभी भी नहीं करते।

हेयादेयविचारणास्ति न यतो नश्रेयसामागमो।
वैराग्यंन न कर्म पर्वतभिदा नाप्यात्म तत्वस्थितिः॥
तत्कार्यं न कदाचनापि सुधियः स्वार्थोद्यताः कुर्वते।
शीतं जातु नुनुत्सवो न शिखिनं विध्यापंयते बुधाः॥५२॥

यहाँ पर वताया गया है कि वुद्धिमान् मनुष्य वे ही हैं जो विचार के साथ इस ससार में काम करते हैं। हर एक मानव को अपना लक्ष्य विन्दु वना लेना चाहिये और जो लक्ष्य हो उसी के साधन की जो क्रियायें हों उनको मन, वचन, काय से करना चाहिये। जिस को शीत लग रही हो और वह शीत से वचना चाहता है तो वह अग्नि कभी नहीं वुझावेगा, क्योंकि अग्नि उसके हित में साधक है। उसी तरह जो वुद्धिमान् अपने आत्मा की उन्नति करना चाहते हैं वे ऐसे ही साधनों को करेंगे कि जिससे तत्वों का ज्ञानहोकर ऐसा विवेक हो जावे कि क्या त्यागने योग्य है व क्या ग्रहण करने योग्य है। ऐसे विवेकी जन जिस चारित्र मे मोक्ष का लाभ होगा उसी चारित्र को पालेंगे। जिस तरह मनमें ससार देह

भोगों से वैराग्य रहे वह उद्यम करेंगे, जिस ध्यान से कर्म पर्वतों का चूर हो वैसा ही ध्यान करेंगे तथा जिस तरह आत्मा का अनुभव हो जावे ऐसी साधना साधेंगे। वे कभी भी ऐसे प्रपचों मे न पड़ेगे कि जिनमें फंसने से तत्व ज्ञान न हो, वैराग्य न हो, कर्मों का नाश न हो व मोक्ष की प्राप्ति न हो।

कहने का प्रयोजन यह है कि मनुष्यों को स्त्री, पुत्र, मित्रादि धन परिग्रहों में ममत्व बुद्धि रखकर अपना अहित न करना चाहिये। सम्पूर्ण पर पदार्थों को अपनेसे भिन्न मानकर उनसे मोह निवारण कर आत्महित के साधन स्वाध्याय ध्यान सत्सगति आदि में लगे रहना चाहिये। गृहस्थी में रहे तो जल में कमल के समान भिन्न रहे। यदि साधु हो तो रात दिन वैराग्य में भीगा रह कर ध्यान की शक्ति बढ़ावे। गृहस्थी में कभी भी ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्याय आदि के कार्य न करे कि जिनसे विषयों में अन्धा होकर इस नर जन्मके अमूल्य समय को यों ही खो दे और पीछे पछताना पड़े। मानव जन्म का एक २ क्षण भी बड़ा अमूल्य है। अतः जो आत्म हित में दक्ष हैं वे ही सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ साधु हैं।

ज्ञानी भव्य जीव को एक समय भी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये, बल्कि उन्हें निरन्तर आत्म ध्यान करना ही श्रेष्ठ है—

श्री पद्मनन्दी आचार्य ने धर्मोपदेशामृत में कहा है कि—

आत्मामूर्तिविवर्जितोपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षतां।

प्राप्तोपि स्फुरति स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः संततं ॥
तत्किं मुहयतशासनादपिगुरोर्भ्रांतिः समुत्सृज्यता-
मंतः पश्यत निश्चयेन मनसा तं तन्मुखात्त्वज्ञाः ॥६५॥

आत्मा अमूर्तिक है तो भी शरीर में विद्यमान है। यद्यपि वह दिखाई नहीं पड़ता है तथापि "मैं" इस शब्द से निरन्तर प्रगट होता है, तब क्यों तुम मोहित होते हो ? गुरु के उपदेश से भ्रम को छोडो और मन के द्वारा निश्चय करके उसी आत्मा की तरफ अपने इन्द्रिय समूह को तन्मय करके उसी का ही अनुभव करो।

आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि आत्मा में स्थिरता आने के लिए ध्यान की सिद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

ओप्पिसि देहमं तपद् तापके तन्न नभस्वरूपमं-
नप्परिद्प्पिकोड्ड निले लोकदकएिगदुयोगिवेषमो ॥
लेप्पद् रूपो कल्ल परिजो एने तोपिनमष्टकर्ममुं- ।
कप्पने कंदि वेंदुतपनंबु गवे अपराजितेश्वरा ! ॥ ६४ ॥

हे अपराजितेश्वर ! शरीरके किए तप रूपी तापको अर्पणकर, आकाश के समान अपने आत्म स्वरूप को स्मरण कर उसमें लीन होकर रहने से यह कोई योगी है, या योगी के स्वरूप को धारण किये हुए कोई है, या कोई सुवर्ण मुनि है, या कोई चान्दी की मूर्ति है या पाषाण की मूर्ति है. ऐसा जब जनता को उस आत्म-

स्वरूप में लीनता से प्रतिभासित होगा तब ये ज्ञानवरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय, आठों कर्म उस तप रूप अग्नि में नहीं भस्म हो जायेंगे क्या? ।६४॥

94. O, Aparajiteshwar ! Will not all the eight karmas, Gyanavarniya etc., burn down into the fire of asceticism, when, giving body to its flames, remembering the nature of soul like the Akash, the soul becomes absorbed so much in itself that the people begin to think whether he is a yogi or a golden, silver or stone image of a yogi?

विवेचन–ग्रन्थकार कहते हैं कि दृढ़ताके साथ अपने शरीरको तपरूपी अग्नि के ताप से ठीक तपाकर कर्मरूपी मल को पिघलाने के पश्चात् शरीर के अन्दर अनादि काल से छिपे हुए आकाश के समान दीखने वाले आत्म स्वरूप का बारम्बार स्मरण करके उसी में लीन रहनेवाले आत्म रस के रसिक ज्ञानी भव्य जीव घोराघोर तपस्या करते समय अत्यन्त दुर्बल हो जाने से देखने वाले अन्य मनुष्यों को बाहर से यद्यपि योगी वेष होने पर भी जगली सूखे हुए खूंटे के समान, किसी वस्तु से लेप किये हुए पुतले के समान तथा गढ़कर तैयार की गई पत्थर की मूर्ति के समान प्रतीत होते हैं, तथापि आभ्यन्तरिक रूप से उनके ध्यान की

अग्नि के द्वारा शरीरस्थ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय ये अष्ट कर्म जल कर राख बन कर अपने आप उड़ जाते हैं, इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है। फिर ऐसे ध्यानमग्न महामुनीश्वरों को किस वस्तु की बाधा होगी ? किसी की नहीं।

योगियों की शिक्षायें सदा हमारे हृदय में बनी रहे, ऐसी मैं भावना करता हूँ। कहा भी है कि —

ध्यानसिद्धर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम् ।
इत्याद्यमलविख्यातगुणलीलावलंबिनाम् ॥१९॥ ज्ञाना०

सूत्र में उपर्युक्त गुणों को आदि लेकर निर्मल प्रसिद्ध गुणों में प्रवर्तन रूप क्रीड़ा के अवलंबन करनेवाले केवल मुनियों के ही ध्यान की सिद्धि मानी गई है। अर्थात् मुक्ति के कारण स्वरूप ध्यान की सिद्धि अन्य को नहीं हो सकती। इसी लिए मुनि गण चौबीस घण्टे कर्मकी निर्जरा होनेकी भावना किया करते हैं। उन्हीं मुनिगणों की भावना मेरे हृदये के अन्दर निरन्तर बनी रहे ऐसी मुमुक्षु ससार से भयभीत ज्ञानी जीव मन में कल्पना करता है कि —

निष्यन्दीकृतचित्तचंड विहगाः पंचाक्षकक्षान्तकाः ।
ध्यानध्वस्तसमस्तकल्मषविषाविद्यांबुधेः पारगाः ॥
लीलोन्मूलित कर्मकंदनिचयाः कारुण्यपुण्याशया ।

योगीन्द्रा भव भीमदैत्यदलनाः कुर्वन्तु ते निर्वृतिं ॥२०॥
ज्ञाना० ॥

पूर्वोक्त गुणों के धारक योगीन्द्रगण हमारे तथा भव्य पुरुषों के निर्वृत्ति (सुख) रूप मोक्ष को करें। कैसे हैं वे योगीन्द्र ? चित्त रूपी प्रचण्ड पक्षी को निश्चल करने वाले है, पचेन्द्रिय रूप वन को दग्ध करने वाले है, ध्यान से समस्त पापो के नाश करने वाले हैं, विद्या रूप समुद्र के पारगामी है, क्रीडा-मात्र से कर्मों के मूल को उखाड़ने वाले हैं, करुणाभाव रूप पुण्य से पवित्र चित्त वाले हैं और संसार रूप भयानक दैत्य को चूर्ण करने वाले हैं।

विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिका शय्या शिला पार्वती।
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनांगना॥
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां।
धन्यास्ते भवपंकनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः ॥२१॥
॥ ज्ञाना०

जिन प्रशान्तात्मा मुनि महाराजाओं के विन्ध्याचल पर्वत नगर है, पर्वत की गुफायें वसतिका (गृह) है, पर्वत की शिला शय्या समान है, चन्द्रमा की किरण दीपकवत् हैं, मृग सहचारी हैं, सर्वभूत मैत्री (दया) कुलीन स्त्री है, पीने का जल विज्ञान और तप उत्तम भोजन है वेही धन्य हैं। ऐसे मुनिराज हम को

संसार रूपी कर्दम से निकलने के मार्ग का उपदेश देने वाले हों।

ऐसे मुनियों का समागम मुझे बारम्बार होता रहे और मैं भी उनका उपदेशामृत पान करके उन्हीं के समान संपूर्ण पर-पदार्थों से विरक्त होकर एकाग्रता पूर्वक ध्यान मे स्थिर होकर कर्म कर्दम से शीघ्र पार हो जाऊँ। इस प्रकार मेरा मन परवस्तु से हटकर आत्मा के अन्दर स्थिर होने से क्या कर्म रूपी कर्दमके दूर होने मे देरी है? अर्थात् नहीं है। केवल मेरे मन की स्थिरता होने की जरूरत है अन्य किसी बात की नहीं। ये सभी बाते वज्र वृषभ नाराच सहननवाले को निश्चल ध्यान करने से साध्य होती हैं, अन्य हीन संहनन वाले को नहीं।

उसके बारे में अगले श्लोक में ग्रन्थकार कहते हैं।

आदिय वज्रकायदवर्गल्लदे ताळ्वुदशक्यमुण्णवा-।
तादि परीषहं गळनदें बिसवंदमो ईगळु ं केलर्॥
ई दोरे मेय्योळुग्रतरघोरमहातपम नेगळ्चुगुं ।
मेदनिगी मुनिंद्ररे निनेंद्ररला अपराजितेश्वरा ! ॥ ६५ ॥

हे अपराजितेश्वर। वज्र वृषभ नाराच सहनन नामक शरीर की शक्ति को धारण करने वाले को सर्दी गर्मी बर्सात आदि की बाधायें जीतना शक्य हों इसमें तो कोई विशेष आश्चर्य नहीं कहा जा सकता परन्तु जो अन्य संहननों के धारक भी उपसर्ग

परीषह इस पृथ्वी पर आजकल भी इस प्रकार की गर्मी सर्दी आदि की वाधा को सहन करते हुए आत्म स्वरूप के चिंतन में लीन रहते हैं सो क्या आश्चर्य नहीं है ? और वे जिनेन्द्रदेव के समान नहीं कहे जा सकते क्या ? ॥९५॥

95. O, Aparajiteshwar ! If one possessing Vraja-Vrashab-Narach Samhanan (the strongest bodyly constitution) wins over the pains of cold; heat and rain, there is no special wonder in it. But if, persons, in this era, with weaker boily constitutions, become absorbed in to self-contemplation, bearing the tortures of heat and cold then, is it not a wonder ? And should they not be held equal to Jinendra deva ?

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि शीत, उष्ण, हवा, इत्यादि अनेक पकार की वाधा को सहन करने की शक्ति पहले काल के वज्रवृषभनाराच सहनन वाले को ही शक्य थी । अन्य अल्प-ज्ञानी हीन संहनन वाले को वे - वाधा सहन करने मे शक्य नहीं है । बज्रवृषभनाराचसंहनन वाले महापुरुषों को ऐसे परीपह सहन करने में कोई आश्चर्य की वात नहीं है । क्योंकि वे तो किये हुए ही हैं और पुनः भी सहन करेंगे । किन्तु इस हुडावसर्पिणी काल अर्थात् इस पंचम काल मे हीन सहनन होते हुए भी आजकल के हीन संहनन प्राप्त किये हुए कुछ भव्य पुण्यात्मा

अपने प्राप्त किये हुए हीन शरीर से अत्यन्त भयंकर महान् तप करते हैं और इस कलिकाल में दुष्ट जनों के द्वारा होने वाले महान् उपसर्गों को सहन कर तपश्चर्या करते हैं। तो वे मुनीश्वर इस समय इस पृथ्वी में धन्य नहीं है क्या ? अर्थात् इस पृथ्वी मे आजकल के जिनेश्वर नहीं हैं क्या ? अवश्य ही हैं।

परमात्म प्रकाश में योगीद्राचार्य ने कहा भी है कि:—

अवगुण गहणइं महुतणाइं जइ जीवहं सतोसु।
तो तहं सोक्खहं हेउं हेउं इउ मण्णिविचइ रोसु।

ज्ञानी जीव किसीके ऊपर क्रोध न करके ऐसा विचारते हैं कि कोई पर का उपकार करनेवाले, पर जीवों को द्रव्यादि देकर सुखी करते हैं, परन्तु मैंने कुछ द्रव्य नहीं दिया और किसी का उपकार भी नहीं किया, मेरे अवगुण ही से सुखी होगये, तो इसके समान दूसरी क्या बात ? ऐसा जान कर हे भव्य, तू रोप छोड़ अथवा ऐसा विचारे कि मेरे अनन्त ज्ञान आदि गुण तो इसने नहीं लिये, दोप ही लिये वह निःशकलो। जैसे घर में कोई चोर आया और उसने रत्न सुवर्णादि नहीं लिये मिट्टी पत्थर ही लिये तो लो, तुच्छ वस्तु के लेने वाले पर क्या क्रोध करना, ऐसा जान कर रोप छोड़ना। अथवा ऐसा विचारे कि जो यह दोप कहता है वह यदि सत्य कहता है तो सत्यवादी से क्या द्वेप करना? अथवा यह दोप मुझमें नहीं हुआ यह वृथा कहता है, तो उसके वृथा कहने

से क्या मैं दोषी हो गया? बिल्कुल नहीं हुआ। ऐसा जानकर क्रोध छोड़ क्षमा भाव धारण करना चाहिये। अथवा यह विचारो कि वह मेरे मुँह के आगे नहीं कहता, लेकिन पीठ पीछे कहता है तो पीठ पीछे तो राजाओं को भी बुरा कहते हैं, ऐसा जानकर उसे क्षमा करना कि प्रत्यक्ष तो मेरा मान भग नहीं करता है, परोक्ष को बात क्या है। या कदाचित् कोई प्रत्यक्ष मुंह-आगे दोष कहे, तो तू यह विचार कि वचन मात्र से मेरे दोष ग्रहण करता है, शरीर की तो बाधा नहीं करता, यह गुण है, ऐसा जान ही क्षमा कर। अथवा जो कोई शरीरकी बाधा भी करे तो तू ऐसा विचार कि मेरे प्राण तो नहीं हरता अथवा जो कोई पापी प्राण हर भी ले, तो यह विचारे कि प्राण तो विनाशी है। विनाशिक वस्तु के चले जाने की क्या बात है? मेरा ज्ञान भाव अविनश्वर है, उसका तो कोई हर नहीं सकता, इसने तो मेरे बाह्य प्राण हर लिये हैं। परन्तु भेदाभेदरत्नत्रय की भावना का विनाश तो नही किया, ऐसा जान कर सदा सर्वदा क्षमा ही करना चाहिये।

हमेशा ज्ञानी मुनि ऐसा विचारते हैं कि:—

> यद्यद्य कुरुते कोऽपि मां स्वस्थं कर्मपीडितम्।
> चिकित्सित्वा स्फुटं दोषं स एवाकृत्रिमः सुहृत् ॥१४॥

मैं कर्मों से पीडित हूँ कर्मोदय से मुझ में कोई दोष उत्पन्न हुआ है, सो उस दोषको अभी कोई प्रगट करे और मुझे आत्मानु-

भवमें स्थापित करके स्वस्थ करे वही मेरा अकृत्रिम मित्र है। ऐसी भावना भाते हुए ज्ञानी मुनि तिलमात्र भी अपने आत्माके अन्दर रागादि परवस्तु का प्रवेश होने नहीं देता और स्थिरता पूर्वक अपने आत्मवल के द्वारा क्रोध को शमन कर पर वस्तु का सम्बन्ध छोड़ने का उपाय सोचता हुआ आत्मा को सम्बोधन करता है।

अपने आत्मा को सम्बोधन करके कर्मों से छूटने का उपाय आगे के श्लोक में कहते हैं—

नरकदोळट्टि मेट्टिकडु कासुव कीसुव सर्वबाधेयं-
स्मरिसिदोडोच्चि हेरि पशुवं मृगवादोडे येच्चु कोच्चिगो- ॥
णरिवुद नव्वे युव्वरद गव्वदोळुव्वसदिं वळल्द त-
न्निरमने चिंचिपंगे तपदोळ्वरिसेकपराजितेश्वरा ! ॥९६॥

हे अपराजितेश्वर ! नरकों में नारकियों द्वारा अनेक प्रकार की दुःसह बाधाओं को जो सहन किया गया है उनके स्मरण कर लेने और उनमें भयभीत होने की भावना होजाने पर, तिर्यंच गति में जो भारवाहन, मारना, पीटना आदि के दुखों का स्मरण तथा उनमें डरने की भावना हो जाने पर, मृग आदि पशु पर्याय में जो शिकारियों द्वारा वन्दूकका निशाना पाकर प्राण दिए थे, उन कष्टों को याद कर लेने तथा उनसे भयभीत होने पर, मनुष्य गति में जो जो महान् कष्ट पाये उनकी याद आजाने पर,

माता के गर्भ में अधोमुख लटकने और कष्ट से बाहर निकलने आदि कथाओं के स्मरण हो जाने तथा उनसे भयभीत हो जाने पर जो अपनी सांसारिक स्थिति का चिन्तन करले उसको आत्म-स्वरूप के चिन्तन तथा तपस्या करने में कठिनता कैसे प्रतीत होगी अर्थात् नहीं होगी ? ॥६६॥

96. O, Aparajiteshwar ! On remembering and fearing the pains, tortures and afflictions recieved and endured in Hell given by the hellish beings. in animal life by hunters and over-loaders, beaters and other cruel peo Ple, in human life while hanging in mother's womb with face down side and taken out in great pain, will the troubles in self-contemplation and penances appear any troubles at all ?

विवेचनः—ज्ञानी आत्मा विचारता है कि—हे आत्मन् ! तुझे नरकों में मार पीटकर भगा देते हैं, पुनः पकड़कर नारकी असुर कुमार देवों के द्वारा पांव के नीचे खूब दवा-दवाकर परिमर्दन करते हैं, तथा अच्छी तरह अग्नि में तुझे जलाकर भस्म कर डालते हैं। उस नरक में होनेवाली बाधाओं के स्मरण कर लेने से अथवा इस भव में कदाचित् तिर्यञ्च पशु, या बैल, घोड़ा इत्यादि पर्यायों में जन्म लिया तो दूसरे दुष्ट मनुष्यों के द्वारा लादे हुए भार के दु.खों का स्मरण मात्र कर लेने से तेरे अन्दर कम्प

जरूर होता होगा। ये सभी कष्ट तू अनादि काल से अनेक बार सहन करता चला आया। कदाचित् तू जगल में मृग (हरिण) या तोता इत्यादि पशु पक्षी पर्याय में जन्म लेकर स्वच्छन्दता से भ्रमण करता रहा तो वहाँ भी दुष्ट वहेलिया शिकारी मनुष्य बन्दूक के आघात से तुझे प्राण रहित करके तेरी गर्दन को मसल कर अग्नि में तुझे भूनकर दुष्ट जीवों ने भक्षण कर डाला। मरणोन्मुख काल में आर्त्तध्यान करने से तुझे नरक में आकर वहाँ के दु:खों को वारम्बार भुगतना पड़ा। हे आत्मन्! अनेक योनियों में होने वाले दुःखसमूहों की याद क्या तुझको मालूम नहीं है? पर फिर भी तू इन इन्द्रियों के क्षणिक सुखाधीन होकर पहले के भोगे हुए दु.खों को बिल्कुल भूल कर चारों गतियों में भ्रमण करानेवाली दु खदाई सामग्री को ही संचय कर रहा है, यह कितने आश्यर्य की बात है!

हे आत्मन्! आपके समान दूसरा कौन मूर्ख होगा? सोचो तो सही। जिस समय तू अपनी माता के गर्भ में आकर प्रवेश किया उस समय उदर के चार या पॉच अगुल छोटी सी जगह में तू नौ मास तक वास कर वहाँ की दुर्गन्धि का अनुभव किया और तेरी माता के द्वारा खाये हुए खट्टे, मीठे इत्यादि अन्न से उत्पन्न रस को तू पीकर उसी से जी गया। वह रस थोड़ा खट्टा, मीठा, कड़वा या तीखा होने के कारण तेरे कोमल शरीर को अत्यन्त पीड़ा हुई। उस असह्य दुःख को सहन करते हुए तूने

भगवान् से प्रार्थना की थी कि हे भगवन् ! अब ऐसा दुःख मुझे पुनः भोगना न पड़े और अत्यन्त दुःखदायी संकुचित योनि में नौ महीने तक गर्भवास करना न पड़े क्योंकि इसमें रहते हुए मुझे जो दुःख हो रहा है उसको सहन करने में अबमें सर्वथा-असमर्थ हूँ। हे भगवन् ! अब मुझे ऐसी निन्द्य योनि प्राप्त करने का अवसर पुनः कभी न उपलब्ध हो, ऐसी आप से मैं बारम्बार प्रार्थना करता हूँ। हे आत्मन् ! इस प्रकार माता की योनि में रहते हुए घोर कष्ट भोगते समय तूने बारम्बार प्रार्थना किया था, किन्तु गर्भ से बाहर आते ही बाह्य पर पदार्थों को देखकर गर्भ के अन्दर भोगे हुये सम्पूर्ण दुःखों को बिल्कुल भूलकर तू ने बाह्य पर वस्तुओं को ही अपनाया। तत्पश्चात् जन्म और मरण का बीज बोकर अपना अकल्याण ही किया। अतएव हे आत्मन् ! अब से तू सावधान होकर अनेक योनियों में होने वाले दुःखों का स्मरण कर आत्मस्वरूप में लीन हो जा। क्योंकि शरीर मे होने वाली बाधाओं को सहन कर तप में उत्तरोत्तर लीन होकर केवल अपने आत्मा का चिन्तन करने वाले को क्या तप करने में कठिनाई मालूम होगी अर्थात् नहीं होगी।

अतः अपने अन्दर विचार करके देखो तो आपको प्रतीत होगा कि:—

जन्म दुःखं जरादुःखं रोगाश्च मरणानि च।

अहो आश्चर्यं दुःखस्वरूपः निश्चये संसारः
यत्र संसारे क्लिश्यन्ति जंतवः ॥

हे जीवात्मन्! आप के लिए वारम्वार सम्बोधन करके कहता हूं कि इस संसार में भ्रमण करते हुए तेरे लिए ऐसा कोई भी स्थान खाली नहीं रहा तथा ऐसा कोई भी पदार्थ शेष नहीं रह गया जिससे आप को दु.ख न हुआ हो अर्थात् इस संसार में सम्पूर्ण पदार्थ दुःखदायक ही हैं। तू अभीतक देखता ही आया है कि जन्म सम्वन्धी दुःख अनन्त हैं।

भावार्थ—यह है कि हे आत्मन्! तू विचार करके देखो कि यह जीव जन्म से मरण तक केवल दुःख ही दुःख भोगता रहा। इसके विषय में शास्त्र में कहा गया है कि इस शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम अर्थात् वाल हैं जिसमें गर्म की हुई साढ़े तीन करोड़ सुई के दवाने से शरीर में जो वेदना होती है उससे अठगुनी वेदना गर्भ में होती है और जन्मते समय जो वेदना होती है वह तो मुख से कही भी नहीं जा सकती। जैसे सोने चांदी के तार को जातरडे (जन्ती) में डाल कर खींचते हैं। उसी तरह माता के संकुचित योनिरूपी छिद्र में खींचकर निकालते समय माता और पुत्र को इतनी वेदना होती है कि उस का वर्णन नहीं किया जा सकता।

बाल्य अवस्था का दुःख—

बाल्य अवस्था में बच्चे को बोलना नहीं आता इसलिये बच्चा होने वाले अपने दुःख को मुंह से नहीं कह सकता क्यो कि उसके अन्दर भाषा वर्गणा नहीं होती और इसीलिये उसे अत्यन्त दुःख सहन करना पड़ता है। बच्चे के पेट में, सिर मे, एवं सारे शरीर में जब दर्द हो जाता है तब उसे बड़ी वेदना होती है किन्तु उसे वह मुंह से नहीं कह सकता अन्त में उसे लाचार होकर मूक पशुओं के समान असह्य वेदना सहन करनी पड़ती है। माता उपचार करते करते थक जाती हैं। किन्तु अज्ञात दुःख आसानी से निवारण नहीं किया जा सकता है।

जवानी का दुख—

युवावस्था में उनमत्त होने तथा भोग विलास की मात्रा तीव्र होने के कारण जीव भोगादि पदार्थों की प्राप्ति के लिए रात दिन प्रयत्न किया करता है अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के प्रति राग द्वेष का व्यवहार किया करता है तथा स्वार्थ साधन में बाधा होने के कारण न करने वाला महान् अनर्थ कार्य भी कर बैठता है किन्तु उसकी मानसिक चिन्ता, व्याकुलता तथा अशान्ति की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है पर उसे सुख का नाम निशान नहीं मिल सका।

हे आत्मान् ! तू विचार करो कि जिस माताके गर्भ में अनादि काल से नौ महीने तक रहकर वहाके होनेवाले दुःख या वेदना का खूब अनुभव किया है, फिर भी उसी योनि में पुनः २ पाने की इच्छा करके तू इन्द्रिय जन्य भोगोंमें मग्न रहकर आयुके-अवसान काल में नरकादि गतियोंमें जाकर नीच उच्च माताके उदर में प्रवेश करके पहले के समान मल मूत्र में लिपट कर रहना चाहता है। ? और उसी माता के खाये हुये अन्न के रसरूप गंदगी झूठन खाकर बार २ वहाँ की होने वाली वेदना को भोगना चाहता है, हे आत्मन् ! हे महाशय ! विचार तो करो कि नौ महीने तक तू गर्भ में रहकर कितने दुःख भोगा ? और आप की यहाँ क्या दशा हुई ?

इसी प्रकार आत्मानुशासन में भी गर्भादिक दुःख वर्णन किये गये हैं।

गर्भ का दुःख—

अंतर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्तः प्रतीच्छन् ।
कर्मायत्तं सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्ध्या ॥
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो,
मन्ये जन्मिन्नापि च मरणात्त न्निमित्ताद्बिभेषि ॥९९॥

हे आत्मन ! जिस उदर में तू अभी तक वास करता आया और करना चाहता है, वह उदर एक मलमूत्रका कुण्ड है उस कुंण्ड

में आयु कर्म के आधीन होनेके कारण तूने बहुत समय तक वास किया है। उस समय तुझे भूख प्यास दुःख भी अत्यन्त सहन करने पड़े हैं। वहां रहते हुए भी तेरी तृष्णा कम नहीं हुई। शरीर बढ़ाने पोसने की लालसा बढ़ती ही गई। माता ने जो खाया पिया उसकी सदा यह इच्छा करता रहा कि मेरे फाड़े हुए मुख में यह अन्न जल आकर पड़े। गर्भाशय का स्थान छोटा सा रहने से कभी तुझे वहाँ हलने चलने को भी नहीं आया। पेट में अनेक प्रकार के जन्तु उत्पन्न होते रहते हैं वहीं पर तू भी रहा। जन्म के समय तुझे और भी अकथनीय क्लेश सहने पड़े हैं। इन सभी दुःखों से तू डर चुका है। मरण होगा तो उसके आगे फिर जन्म धारण करना ही होगा। अरे प्राणी ! यह समझकर ही मालूम पड़ता है कि तू मरने से डर रहा है। जब से तूने जन्म लिया है तब से अन्त तक तुझे दुःख ही दुःख भोगना पड़ रहा है एक मिनट भी सुखका लेश तुझे नहीं मिला, वहां के असह्य दुःख को सुनते ही शरीर में घबराहट के मारे कंप उठ जाता है। जैसे अग्नि में गरम की हुई साढ़े तीन करोड़ बारीक सुई को इस शरीर के प्रत्येक रोम में एक एक एक सुई दबाने से जो वेदना होती है उससे अठगुनी वेदना गर्भ में होती है उस वेदना को मुखसे वर्णन करना वचनके बाहर है। हे आत्मन् ! जन्म के समय में और भी जो वेदना होती है उसको सुनो। जैसे सोने की या चांदी की तार को जतरडे में डाल कर खींचते हैं, उसी

तरह माता की योनि रूपी जतरडे में (जन्ती में) से खींचते समय माता और पुत्र दोनों को इतनी वेदना होती है कि उसका वर्णन करना अशक्य है।

बाल्य अवस्था का दुःख—

पहले दु ख यह है कि बालकों को भाषा वर्गणा पूर्ण न होने के कारण उनको अत्यन्त वेदना सहन करनी पड़ती है, उस वेदना को मिटाने के लिए उपचार के बदले उलटी उनको अति वेदना ही होती है। तब फिर ज्यादा उपचार करना पड़ता है परन्तु बालकको क्या वेदना हो रही है यह बात मालूम न होनेके कारण बालक का उपचार ठीक नहीं हो पाता है। कभी बालक के पेट में दर्द कभी शरीर में दर्द होने पर भी भाषा वर्गणा अपूर्ण होने के कारण बोल नहीं पाता। इसलिये बाल्य अवस्था में दुःख सहना पड़ता है।

तरुण अवस्था का दुःख—

तरुण अवस्था का दुःख इससे भी ज्यादा है। संसार में सुख की प्राप्ति अभीतक किसी को न हुई है और न होगी ही, कदाचित् एक सुख की प्राप्ति हो भी जाय तो दूसरा दुःख सामने उठकर खड़ा हो जाता है। कदाचित वह दुःख मिट जाय तो तीसरा दु ख खड़ा हो जाता है।

जैसे किसी वस्तु को तौलने के लिये नापने के स्थान मे पत्थर के बदले एक तरफ मेंढक को इकट्ठा करके तराजू के पलड़े में डालदे तो उसमें से एक कूद पड़ता है, उसे पकड़कर डाल देवें तो दूसरा कूद पड़ता है दूसरे को लेने जाय तो तीसरा मेंढक कूद पड़ता है परन्तु तराजू का पलड़ा ऊँचा नीचा हमेशा जैसा का तैसा ही रहा, उसी तरह मनुष्य को सुख की प्राप्ति एक तरफ होती जाती है तो दूसरी तरफ दु.ख खड़ा होता जाता है। एक दुःख मिटता है तो दूसरा दुःख सामने फिर उपस्थित हो जाता है। परन्तु कभी भी दु.ख मिटता नहीं है।

इसी उदाहरण के अनुसार स्त्री धन संपत्ति पुत्र की प्राप्ति आरोग्यता मान प्रतिष्ठा कोठी हवेली, और दौलत खजाना इत्यादि सपूर्ण सुखों का अनुभव करना चाहता है। परन्तु उसमें अनेक प्रकार की चितायें मानसिक दुःख उपस्थित हुआ करते हैं।

जब पुत्र की इच्छा करता है तब स्त्री मर जाती है, जब स्त्री सुख की इच्छा होती है तब सपत्ति नष्ट हो जाती है, कदाचित् द्रव्य प्राप्त हो जाय तो शरीर रोग के कारण नष्ट हो जाता है, कदाचित शरीर ठीक हो जाय तो घर गिर पड़ता है, कभी घर ठीक हो जाय तो चोर आक्रमण करके सारा धन लूट ले जाते हैं अथवा कभी स्वजनों का उपद्रव कभी राजा का उपद्रव, कभी इनकमटैक्स का उपद्रव, कभी शत्रु का उपद्रव यानी तरुण अवस्था में उपद्रव ही उपद्रव है। तात्पर्य यह है कि

संसार में सुखका लेशमात्र भी नहीं है।

वृद्ध अवस्था का दुःख—

गात्र संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गताः।
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव हसते वक्त्रञ्चलालायते ॥

वाक्यं नैव करोति बांधवजनः पत्नीच शुश्रूषते ।
धिक् कष्टं जरयाभिभूत पुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥२॥

वृद्धावस्था में शरीर सिकुड़ जाता है, हाथ पांव सूख जाते है, आँखे व मुँह बदरके मुँहके समान खोखला पड़ जाता है। पॉव की गति मद पड़ जाती है अर्थात् पांव धरती पर रखते ही थर थर कापने लगता है। मु ह से लार गिरने लगती है, आंखों की ज्योति मंद हो जाती है और वह देख नहीं सकता है, दिनों दिन शक्ति घटती ही जाती है, पुत्र के ठीक सेवा न करने के कारण मन में दु ख होता है, स्त्री भी वृद्धावस्था को देखकर तिरस्कार करती है, समय पर खाना नहीं मिलता, अपने नाती पोते इत्या-दि सभी तिरस्कार करने लगते हैं। परन्तु इतना दु ख होते हुए भी आत्म कल्याण की याद नहीं करता। ऐसी मनुष्य पर्याय को संसार में पाकर भी धर्म से शून्य होने के कारण, ससार में कुत्तेकी भाँति जिन्दगी बिताने वाले पुरुष को बार बार धिक्कार है ! ऐसा दु.ख देने वाला मनुष्य किस काम का ?

धन से दुःख—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखसाधनम् ॥४॥

इस संसार में मनुष्य के दो प्रकार प्राण बतलाये गये हैं। उसमें एक अंतर प्राण दूसरा बाह्य प्राण है। उसमें अन्तर प्राण तो प्रसिद्ध है और बाह्य प्राण धन है। जिस प्रकार प्राण जाते समय जीवको बड़ा दुःख होता है, उसी तरह धन जाते समय भी महान् दुःख होता है। इसी तरह ज्ञानी मनुष्य के लिये अंतरमय धन से भी दुःख होता है। इसलिये दूसरा धन भी एक प्राण बताया गया है।

क्योंकि धन उपार्जन करने में भी दुःख है, और उसके संरक्षणमें भी दुःख होता है। यानी आय और व्यय दोनों में ही दुःख है। इसलिये मनुष्य को संसार में दुःख देने वाले ऐसे धनको धिक्कार है और इसीसे ज्ञानी जन आत्म रूपी धन को ही महत्व दिये हैं। कहा भी है कि—

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
नहि स्वच्छांबुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥४५॥

श्रेष्ठ पुरुषों की संपत्ति भी केवल न्यायानुसार चलने से उतनी प्रकार नहीं बढ़ सकती जैसे कि नदियों की वृद्धि केवल

स्वच्छ जलसे कभी नहीं हो पाती। इसलिये ऐसा समझकर न्यायोपार्जित धनके द्वारा अत्यत समृद्धहोने की तृष्णा कभी नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि केवल न्यायपूर्वक-धनकी पूर्ण प्राप्ति होना साधारण जनों के लिए नितान्त कठिन है। दूसरे गृहस्थाश्रम में रहकर धन प्राप्त होने पर भी कभी चित्त सतुष्ट नहीं हो सकता, निरन्तर कोई न कोई आकुलता लगी ही रहती है। इसलिये यदि पूर्ण सुखी होना हो, तो परिग्रह से सर्वथा विरक्त होना चाहिये। इसलिये धन सुख का कारण नही है:—

देखिये—आत्मानुशासन में कहा है—

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोप्यवितृप्ततः ।

कष्टं सर्वेपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी ॥६५॥

हे आत्मन्! धनको ममत्व तुझ को छोड़ना ही होगा। जब तक उसे नहीं छोड़ेगा तब तक तुझको सुख कहाँ ? अगर धनमें सुख होता तो तीर्थंकर अखड पृथ्वी का साम्राज्य क्यों त्यागते ?

जगत् में सदासे-देखनेमें आता है कि जगत् में जो जीव निर्धन हैं, वे तो धन न होने के कारण दुःखी हैं, और जो धनी हैं वे तृष्णा वश दुःखी हैं। कहा भी है कि—

दाम बिना निर्धन दुःखी तृष्णा वश धनवान् ।

कहीं न सुख ससार में सब जग देख्यो छान ॥

धन न होने पर गृह का गुजारा न चलने से जीव कष्ट पाता है। और अपने को महा दुःखी समझता है। यदि धन हो तो उस को और भी अधिक बढ़ाने की फिक्र मे तथा उसकी सँभाल की फिकर में सदा मग्न रहता है। खाना पीना भी वह धन की चिन्ता में समय पर नहीं कर सकता अर्थात् धनिक लोग भी दुःख से बचे नहीं हैं। इस प्रकार देखने पर ससार मे सभी दुखी हो रहे हैं, बेचारे सभी जीव दिन रात खेद पा रहे हैं। यदि कोई यथार्थ सुखी है तो अकेला मुनि ही है। इसका कारण यह है कि सुख की प्राप्ति का मूल कारण धन नहीं है, किन्तु राग द्वेष का अभाव है। इस लिये जब तक धनादिक के साथ रागद्वेष बडी तीव्रता से लगा आ रहा है तबतक न धनी ही सुखी होता है न निर्धन ही। जब कि रागद्वेष हट जाता है तब रञ्चमात्र भी धन या दूसरा सुख साधन न रहने पर भी साधु जन असीम सुखी हो जाते हैं और सम्भव भी ऐसा ही है। इस लिये महान् लोग धन और संसारसे घृणा कर के आत्मिक सुखकी प्राप्ति करने के लिये जब शरीर, धन, कुटुम्ब, पुत्र, मित्र इत्यादि को मन के द्वारा पूर्ण त्याग कर आत्म ध्यान मे लीन हो जाते हैं तब शरीर मे दुष्ट जानवर या शत्रुओं के द्वारा होनेवाले उपसर्ग को भी भूल जाते हैं और आत्मधन रूपी समाधि में मग्न हो जाते हैं।

ध्यान लगा कर कर्मशत्रु को जीत लिये, अगले श्लोक में

ऐसा बतलाते हैं—

स्वामि कुमारना गजकुमारकना सुकुमार नात्म चिं-
तामय संजयंत गुरुदत्त चिलातज धर्मपुत्ररा ॥
स्वामि सुवर्णभद्र शिवभूति सुदर्शन पार्श्वनाथरा ।
नेमविदेंदु निंदोडेदेयोळ्भयवे अपराजितेश्वरा ! ॥ ९७ ॥

हे अपराजितेश्वर ! कुमार स्वामी, गजकुमार मुनि, सुकुमाल मुनि, संजयत मुनि, गुरुदत्त मुनि, चिलात पुत्र, सुवर्णभद्र मुनि, शिवभूति मुनि, सुदर्शन, पार्श्वनाथ भगवान् आदि जिनके ऊपर महान् उपसर्ग हुये हैं और इन महापुरुषों ने उन उपसर्गों को सह कर आत्मस्वरूप की उपलब्धि की है उनके कठिन नियमों को जो ध्यान पूर्वक स्मरण करे और अपने आत्मस्वरूप मे लीन हो जाय तो क्या तपश्चरण करने पर ऐसे घोर उपसर्ग से भी हृदय में भय हो सकता है ? कभी नहीं ? ॥९७॥

97 O, Aparajiteshwar. What great calamities came over Kumar Swami, Gajkumar muni, Sukumal muni, Gurudatta muni, Chilat Putra, Suvarna Bhadra muni, Shivabhuti, Shudarshana, Lord Parshavanath etc, and these people won them all and attained the true nature of Soul. Will one be afraid of calamities if, remembering these, gets absorbed into soul nature ?

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में विवेचन किया है कि हे आत्मन् ! आप अपने अन्दर विचार कर देखो कि आत्म सुखकी प्राप्ति के लिये कुमार स्वामी, गजकुमार, सुकुमाल, सजयत, गुरुदत्त, चिलात पुत्र, धर्मराय, सुवर्ण भद्र स्वामी, शिवभूति, सुदर्शन और पार्श्वनाथ स्वामी इत्यादि महापुरुषों ने आत्म चिन्तवन में रत रहते हुये तथा धारण किये गये नियमों को ध्यान में रखकर स्मरण करते हुए तपश्चर्या मे लीन होकर रहने से उनके हृदय में भय होगा क्या ? और आत्मस्वरूप मे रत मनुष्य को मरण भय, परलोक भय, आगन्तुक भय, आकस्मिक भय इत्यादि आत्म ज्ञान व निर्विकल्प समाधि में स्थित जीव आत्मा को कहा से होगा ? अर्थात् नहीं होगा ।

समाधिरत ज्ञानी जीव यह विचार करता है कि:—

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे ।
समाधिबोधपाथेयं यावन्मुक्ति पुरीपुरः ॥१॥

I walked on the path of Death's pitch
Kindly, O Vitraga ! Ye bestow,
Patheya, Samadhi, Bodhi, with which
I to the eternal home can go.

मृत्यु मार्ग में प्रवृत्त हूँ मैं, वीतराग स्वामी दो मुझको ।
पाथेय, समाधि, बोधि जिससे, पहुंचूँ पावन सुमोक्षपुर को ॥

अर्थः—मृत्यु के मार्ग में जो प्रवर्तन करूँ सो हे भगवन् वीतराग देव ! समाधि कहिए स्वरूप की सावधानी, और बोधि कहिये रत्नत्रय का लाभ सो दीजो। और पाथेय कहिये परलोक के मार्ग में उपकारक वस्तु सो दीजिये जिससे कि मैं मुक्तिपुरी को जा पहुँचूँ।

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपंजरे।
भुज्यमानेन भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥२॥

With myriad germs body's cage is full
Which becomes quite rotten and old
With its decay, don't be fearful.
For, your body is knowledge fold.

शत शत कीटाणु जाल पूरित,यह जर्जर देही का पिंजड़ा।
इसके विनाश में भय न करो, कारण तव तन है ज्ञान जड़ा॥

अर्थः—भो आत्मन्! कृमि के सैकड़ों जाल से भरा हुआ और नित्य जर्जर होने वाला यह देहरूप पींजरा, है अतः इसको नष्ट होने से तुम भय मत करो। क्योंकि तुम तो ज्ञान शरीरधारी हो।

ज्ञानिन् भय भवेत्कस्मात् प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरंयाति देही देहान्तर स्थितिः ॥३॥

Why fear for a right knower
Facing the happy death festivity?

Atman that dwells in self sphere,
While finds its place in other body.

ज्ञानी जन को क्यो भय होता, पाकर यह मृत्यु महोत्सव है।
आत्मा स्वभाव में जो रमता, जब केवल देह बदलता है॥

अर्थः—हे ज्ञानी आत्मन्! तुमको वीतरागी, सम्यग्ज्ञानी उपदेश देते हैं कि तुम मृत्युरूप महान् उत्सव को प्राप्त होनेपर किस बातसे डरते हो। यह आत्मा अपने स्वरूप में तिष्ठता हुआ एक देह से दूसरी देह में जाता है। फिर तू इससे क्यों घबराता है

सुदत्तं प्राप्यते यस्मात् दृश्यते पूर्वसत्तमे।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं मृत्यु भीति कुतः सतां॥४॥

With it charity's reward is gained,
This portrayed by old pious men,
Heavenly pleasure can be attained
Then why do fear O, holy men?

है मिलता इससे दिया दान, फल पूर्व सुधी यह दिखलाते।
हैं भोग भोगते स्वर्गों के, फिर स्वजन मृत्यु भय क्यों खाते?

अर्थ—पूर्व काल के गणधरादि सत्पुरुष ऐसा कहते हैं कि अपने किये हुये कर्तव्य का फल तो मृत्यु के होने पर ही पाया जाता है और यहाँ तक कि स्वर्ग का सुख भी मृत्यु

के होने पर ही मिलता है। इसीलिये सत्पुरुषों को मृत्यु भय करना नहीं चाहिये ।

आगर्भा दुःख संतप्तः प्रक्षिप्तो देहपंजरे ।
नात्मा विमुच्यते न्येन मृत्यु भूमिपतिं विना ॥५॥

Being troubled with wombs' pain
In body, Soul has been hidden;
Real freedom, O ! it cant' attain,
Without the help of death-sovereign.

हो गर्भ दुःख से सन्तापित, छिप गया कलेवर में आत्मा ।
है विना मृत्यु नृप योग लिये, यह मुक्त न हो सकता आत्मा ।

अर्थः—ज्ञानी पुरुष विचारता है कि इस कर्म शत्रु ने मेरे आत्मा को देहरूपी पिंजरे में कैद कर रक्खा है। जिस समय से यह गर्भ में आया है उसी क्षण से यह आत्मा क्षुधा, तृषा, रोग वियोग इत्यादि अनेक दुखों को सहन करते हुये देहरूपी पिंजरे में पड़ा हुआ है। वह विचार करता है कि मृत्यु रूपी राजा के विना ऐसी कैद से कौन छुड़ा सकता है ।

सर्वदुःखप्रदं पिंडं दूरी कृतात्मदर्शिभिः ।
मृत्युमित्रप्रसादेन प्राप्यते सुख सम्पदा ॥ ६ ॥

The Self knowers getting rid of-
Body, the root of displeasure,
Live with happiness, in company of
Death friend, having self-joy-treasure.

आत्मादर्शी सब दुखदपिंड,तन उसको दूर भगाकर के।
वे मृत्यु मित्र संग प्रसन्न हो, रहते निज सुख संपदको ले ॥

अर्थ—जो आत्मज्ञानी हैं वे मृत्यु नामा मित्र के प्रसाद के द्वारा, सर्व दुखों को देने वाले देह पिंड को दूरी पर ही छोड़ कर सुख की संपदा को ग्रहण करते हैं।

मृत्युःकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः।
निमग्नो जन्म जंबाले स पश्चात् किं करिष्यति ॥७॥

Getting kalp-Vraksa, divine tree
Who has not done his self's welfare,
He stuck in world's mid boundry,
After wards what can he do here ?

कर प्राप्त जिन्होंने कल्पवृक्ष,है निज कल्याण न नियत किया
वह विश्व पङ्कमें फंसा हुआ, पश्चात् कर सकेगा कुछ क्या ?

अर्थः—जिस जीव ने मृत्यु रूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त करके भी अपने कल्याण की सिद्धि नहीं की वह जीव संसार समुद्र में डूबने के बाद में क्या कर सकता है ?

जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः ।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा ॥८॥

Death with which all old, rotten–
Are being turned in quite freshness,
Then, is death not to right men–
For pleasure-bearings and happiness ?

जिससे कि जीर्णऔ शीर्ण सभी, है नूतन हो जाया करता ।
वह मरण न क्या सातोदय-हित, सज्जन को हर्ष-हेतु होता ॥

अर्थ —ज्ञानी पुरुष उस मृत्यु को हर्ष के अर्थ अर्थात् साता का उदय मानता है । जिससे जीर्ण और शीर्ण शरीर छूटकर नया शरीर मिल जाता है ।

सुखं दुखं सदावेत्ति देहस्थश्च स्वय व्रजेत् ।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः ॥ ९ ॥

Soul knows always pleasure and pain
To other world itself, it goes,
When next happy world is to gain,
Who is afraid by long repose ?

देहस्थ जानता है सुख दुख, परलोक स्वयं जाया करता ।
जब है परलोक सिद्ध होता, तब कौन मृत्यु से भय करता ?

अर्थ—यह आत्मा देह मे रहकर सुख तथा दुख का हमेशा अनुभव करता हुआ परलोक को स्वय ही गमन करता है तब परमार्थ दृष्टि से मृत्यु से कौन भय करता है ? अर्थात नहीं।

संसारासक्तचितानांमृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोपि ज्ञानवैराग्य वासिनाम् ॥१०॥

Who is addicted with passion,
To world, for him, death is fear,
But to a sage or a wise person,
It is for good and for pleasure.

मन से आशक्त जगत में जो, है मृत्यु भीति के हित उनको।
लेकिन है वही हर्ष के हित, ज्ञानी वैराग्य वासियों को॥

अर्थ—जिन जीवों का चित्त संसार मे आसक्त है वह अपने रूप को जानते नहीं उनके तो मृत्यु का भय होना स्वाभाविक ही है पर जो महान् आत्माये निज स्वरूप के ज्ञाता है और संसार से वैरागी हैं उनके लिये तो मृत्यु महोत्सव के समान ही है।

पुराधीशो यदा यांति सुकृतस्यवुभुत्सया।
तथा सौवार्यते केन प्रपञ्चैःपंचभौतिकैः ॥११॥

For previous good deed's enjoyments
When to next word travels soul

The prolixities of five elements-
How can hinder in way of Goal ?

है जब परलोक गमन करता, आत्मा सद्कृत उपभोग अर्थ।
तब प्रपंच क्यों पञ्चभूत के, हो सके रोकने को समर्थ ॥

अर्थात्:—इस जीव की आयु पूर्ण होने पर जब परलोक सम्बन्धी आयु का उदय आजाय तब परलोक को गमन करने से शरीरादि पचभूतको कोई रोकने में समर्थ नहीं है। इसलिये बहुत उत्साह के साथ चार आराधन का शरण ग्रहण कर मरण करना श्रेष्ठ है।

मृत्युकाले सतां दुःखं यद्भवेत् व्याधिसंभवं ।
देह मोहविनाशाय मन्ये शिवसुखाय च ॥१२॥

Due to old Karma, pain and disease
At the time of death appear,
To wise men they are for release,
From allurements, for moksa's pleasure.

मृत्युकाल जो दुख व्याधियां, होती कृतकर्मानुकूल हैं।
वे सुजनों को देह-मोह-हत, हित को शिव सुख होती हैं॥

अर्थः—मृत्यु के अवसर पर कर्म के उदय से रोगादि व व्याधियों के दुख उत्पन्न होवे हैं सो सत्पुरुषों के शरीर से मोह के

नाश के लिये हैं और उनसे बाद मे निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है।

ज्ञानिनो मृत्युसंगाय मृत्युस्तापं करोति सन् ।
आम कुम्भस्य लोकेस्मिन् भवेत् पाकविधिर्यथा ॥

Though death creates pain, torture,
But to wise men it is like nectar,
As in fire some good pitcher
Is prepared to keep cool water.

यद्यपि मरण ताप करता है, पर अमृत सा ज्ञानी को है।
जैसे कुम्भ अग्नि में तपकर, वनता शुचि जल रखने को है ॥

अर्थः—यद्यपि इस लोक मे मृत्यु जगत को सताप देने वाला है फिर भी सम्यग्ज्ञानी को निर्वाण दिलानेके लिये है जैसे अमृत रूप जल भरने के लिये कच्चे घड़े को अग्नि मे पकाया जाता है और वह कच्चा घड़ा एक वार अग्नि मे पक जाय तो वहुत समय तक जल के संपर्क में रहता है उसी प्रकार मृत्यु के अवसर पर होने वाले आताप को एक वार समभाव से सहले तो निर्वाण पाने का अधिकारी वन जाता है।

सत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायाः सन्निडंवनात् ।
यत्फलं सुखसाध्यं स्यात् मृत्युकाले समाधिना ॥

Holy men, bearing pains of fasts,
Acquire some fine retribution,
Which in end, in sweet fruit lasts
At Samadhi or happy death occasion.

सत्पुरुष व्रतों के कष्ट झेल, जो सुफल प्राप्त वे करते हैं।
सुख साध्य समाधिके लिये वे धन मरण समयके होते हैं॥

अर्थ—सत्पुरुषों को व्रतों के कष्ट सहन करने के पश्चात् जिस फल की प्राप्ति होती है वह फल, मृत्यु के अवसर पर थोड़े समय में शुभ ध्यान रूप समाधि मरण कर, सुख के देने योग्य है।

अनार्तशान्तिमान् मर्त्यो न तिर्यक् नापि नारकः।
धर्मध्यानी पुरोमर्त्यो नाशनीत्वमरेश्वर ॥१५॥

Peacefully who dies mithout-affliction
Can't go to hell or animal race,
With the performances of religion,
Bears himself a Godly face,

जो आर्त्त रहित सशान्ति मरता, पाता न तृयंच नरकगति वह।
औ धर्म ध्यान अनशन पूर्वक, जो मरता सुरपति होता वह॥

अर्थः—जिस जीव के मरण के अवसर पर आर्त्त जो दुख रूप परिणमन होता है और उनके परिणाम अगर शान्ति रूप,

द्वेष रहित व समभाव रूप चित्त से होता तो वह जीव नरक व तिर्यंच गति में नहीं जाता और जो जैन धर्म ध्यान सहित अनशनव्रत धारण करके मरे वह स्वर्गलोक में इन्द्र होय तथा महर्द्धिक देव होय उसे और कोई पर्याय नहीं मिल पाती है ॥१५॥

तप्तस्य तपश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युं समाधिना ॥१६॥

Grappling all troubles' penance,
Following vows and reading scriptures,
Daily regularly and not perchance,
All results in joyful departure.

संताप तपस्या का कहना, फिर पालन करना जिन व्रत का
स्वाध्यायसदा नियमित करना, है सफल समाधि मरणासनका

अर्थ —तप का संताप भोगना व्रत का पालना तथा श्रुत का अभ्यास करना ये सभी पदार्थ आत्मा की सावधानी सहित मरण करने के लिए हैं।

अतिपरिचितेष्वज्ञानवे भवेत् प्रीतिविरीति हि जनवादः ।
चिरतर शरीरनाशे नवतर लाभे च किं भीरुः ॥१७॥

Worldly saying is, 'Intrest is men',
No interest in old acquaintance,

Old body's ruin, birth of men,
Why do fear, O life-substance ?

अति परिचित होते रुचि घटती नवरुचि होती यह लोक कथन
चिरतर शरीरका नाश,लाभ नवतनका फिर क्यों भयरे मन !

अर्थ'—जिस शरीर को बहुत काल भोग कर जीर्ण कर दिया और सार रहित, व बल रहित हो गया तो ज्ञानी जीव अपने आत्मा को समझाता है कि अब नवीन उज्ज्वल देह धारण करने के अवसर पर भय किस बात का करना। यह जीर्ण देह तो विनसेगी ही इसलिये इस से ममता धार कर मरण को बिगाड़ कर दुर्गति में ले जाने वाले कर्म बन्ध नहीं करना चाहिये।

स्वर्गादेत्य पवित्र निर्मल कुले संस्मर्यमाया जनै,
दत्वा भक्ति विधायिनां बहुविधं वाछांनुरूपैफलं।
भुक्त्वा भोग महर्निशपाकृतं स्थित्वा चणं मंडले,
पात्रावेश विसर्ज्जनामिव मृतिं संतो लभंते स्वतः ॥१८॥

Having five death one sees light,
In good family or in the heaven,
He fulfills the desire's flight,
Of his near kith and kin.

Enjoying good luck he sees off,
This land of the mortal kingdom.

Like an actor, a kin to putting off,
Disguise, acquires the truc freedom.

पा शुभ मरण, स्वर्ग में ही या, जन्मपूत सत्कुल में लेता ।
निज वन्धु आदि जनको वहुविधि,बांछानुरूप है फल देता ॥
फिर पूर्व सुकृत फल भोग भोग,यह क्षितिमंडलसे है जाता।
अभिनेता वेश विसर्जनवत, यह मोक्ष स्वतः ही है पाता ॥

अर्थ—इस शुभ मरण से जीव स्वर्ग मे या उत्तम कुलमें जन्म लेता है, और उनके मन के अनुकूल माता-पिता तथा भाई आदि कुटुम्बी, भोग सामग्री शुभ समाधि मरण की भावना से मिलनी है तथा इस से इच्छित् फल की प्राप्ति भी होती है। हे आत्मन ! जैसी तू भावना भावेगा तदनुसार तेरे को सुख दुःख की प्राप्ति होगी इस के अतिरिक्त और कोई सुख-दुःख का भागी नहीं है। तू अकेला ही है। अर्थात तू ही इस मृत्यु महोत्सव के वल से स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति अकेला कर सकता है अतः तू इस मृत्यु से क्यों डरता है, मरना तो एक दिन तुझे है ही, इस लिये इस मृत्यु को जीत कर मोक्ष स्मरण की प्राप्ति कर, तू हमेशा उसी मे रहेगा, तव अन्य दु खमई इन्द्रिय जन्य क्षणिक सुख की क्या आवश्यकता है।

इस तरह महान् पुरुष ने अपने शरीर पर आई हुई आपत्ति-का भी ख्याल नहीं करते कि हमें दुःख यावेदना हो रही है।

क्योंकि वे ज्ञानी लोग पहले से ही शरीरादि परवस्तु अपने आत्मा से भिन्न मान रक्खे थे और मृत्यु से भय न करके उसे निमत्रण देकर अपने पास बुलाकर उनके साथ युद्ध किये। ऐसे महात्माओं का कहा तक वर्णन करें। उनका जितना भी वर्णन हो वह कम ही है ॥९७॥

अब अगले श्लोक में ऐसे महान् ज्ञानी साधुओं की प्रशसा करते हैं।

मेय्य निराशे घोर तपमुत्तमसयममात्मतत्त्वमं ।
केय्योळगिर्द कन्नडियनोळ्पवोलीक्षिप बोधे कूडिदा ॥
संयमिगेल्लिकांक्षेयिदिरिं क्षणदोळ्भववृक्षमूलमं ।
कुय्यने सुय्यने सुट्टुतूरि शिवनागिरने अपराजितेश्वरा ।९८

हे अपराजितेश्वर ! शरीर में अन्यान्य, कठिन तप, उत्तम सयम में लीन होने वाले तथा हस्तामलकवत् अपने आत्म स्वरूप को देखने वाले सयमी ज्ञानी को कौनसी स्वेच्छा है ? ऐसे तपस्वी क्षण भर में ही क्या कर्म रूपी वृक्ष को जड़ सहित काटने मे समर्थ नहीं हो जायेंगे ? और उस कर्मरूपी वृक्ष के जड़ को भस्म कर उसे उड़ाकर वह परमात्मा स्वयं नहीं बन जायेगा क्या ? ॥९८॥

98. O, Aparajiteshwar ! What desire will remain in that self controlling Knower who has

indifference with the body, gets absorbed in sever asceticism and self-control and percieves the soul-nature clearly. Will he not become able in cutting down the Karma-tree from its very roots, in burning the roots to ashes and in becoming perfect soul dispersing the ashes ?

विवेचन:—ग्रन्थकार कहते हैं कि जिस ज्ञानी साधु के पास निराशा रूपी कठिन से कठिन तप है और जिनके हाथ में अपने मुख को देखने वाले दर्पण के समान आत्मस्वरूप को देखनेके लिये उत्तम सयमरूपी दर्पण है ऐसे महान् पुरुप को किस वस्तु को देखने या प्राप्त करने की इच्छा होगी ? किसी की नहीं। ऐसे ज्ञानी महान् तपस्वी, कर्मरूपी वृक्ष को क्षणभर में जड़ सहित नष्ट नहीं कर देंगे ? क्या भव रूपी मूल को उत्पन्न करने वाले कर्मरूपी शत्रु का सामना करके उसे क्षण भर मे नहीं पछाड देगे ? अर्थात् अवश्य पछाड़ देंगे। और शीघ्र ही परमात्मपद को प्राप्त करके हमेशा के लिये सुखी हो जायँगे, अन्य क्या बात ?

ऐसे महान् तपस्वी का वर्णन कहाँ तक करे । कहा भी है कि—

विरतिरतुला शास्त्रे चिंता तथा करुणा परा ।
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्च विभेदिनी ॥
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्त विधानतो ।
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः ॥६८॥

उन महात्मा साधुओं की हम कहाँ तक प्रशंसा करें कि जिन में ससार से वैराग्य स्रोत प्रोत सदा भरा ही रहता है, निरतर जो शास्त्रो का ही चिंतवन करने वाले हैं, जिस का मन सदा करुणा से पूरित रहता है, जीवों का कल्याण किस तरह हो, जीव सासारिक दुःखों से कब और कैसे मुक्त हों, यह विचार जिनके अन्तःकरण मे सदा जारी रहता है, जिनका ज्ञान एकान्त दुराग्रह अथवा विपरीत ज्ञानरूप सघन [अन्धकार का नाश करता है, मरण समय जो समाधि धारण करते हैं अर्थात् भोजनादि बाह्य सामग्री को त्याग तथा भीतरी रागद्वेष को कृश करके जो शास्त्रानुसार आत्माके स्वरूप चिंतन में लीन होते है, ऐसी परिणति होना छोटे मोटे तपश्चरण का फल नहीं है। ऐसी परिणति महा पुरुषों की ही हो सकती है। दीन पुरुष ऐसी आत्मोन्नति कहा से कर सकते हैं? जो कि थोड़े से विघ्न से ही चलायमान हो जाते है। उन से वह सर्वोत्कृष्ट तपकी आराधना कैसे हो सकती है? एवं जो कि निरन्तर विषय वासना में लीन रहते हैं शास्त्र अभ्यास से पराङ्मुख रहते हैं, जिनके चित्त में करुणा का नाम भी नही है, एव विपरीत श्रद्धा को जिन्होंने अपने अन्तःकरण में स्थान दे रक्खा है, मरते मरते भी जिनसे भोजनादि विषय वासना छूटती नहीं है ऐसे दीन जन क्या ऐसी आत्मोन्नति कर सकते हैं? कभी नहीं। ससारवर्ती जीव भी कुछ थोडी सी धर्म भावना पाकर अपनी परिणति को

सुधारते हैं, अनतानुबंधी तीव्र कषायों का उपशम तथा क्षय करके विषय वासनाओं को कृश करते हैं तथा एक देशव्रत धारण करके विषय वासना को और भी अधिक कम करते हैं परन्तु तो भी क्या साधुओं के पद को पा सकते है,? कभी नहीं।

इसलिये हे आत्मन्! तू विचार करो कि तू सूरज का ध्यान न करके बादल का ही ध्यान करने वाले मूख के समान बादल की तरह क्षण क्षण में विलीन होने वाले क्षणिक इन्द्रिय सुख का ही रात दिन चिंतन व ध्यान करते हुए अपने असली आत्म-स्वरूपी खजाने को बिलकुल ही भूल गया है तेरे समान मूर्ख कौन होगा? ॥६८॥

नीचे के श्लोक मे ग्रन्थकार ने कहा भी है कि—

कविद मुगिल्गले परेयलेंदु रे चिंतिस वेळ्कुमल्लदे।
रविगधिकप्रकाश गुणवागलियेंदनवेळ्केयात्ममं॥
भवकृताष्टकर्मवने नष्टमनेयि्दपनेंबुल्लदे।
शिवसुखवेंबुदुंवयसलेके निजकपराजितेश्वरा! ॥ ६९ ॥

हे अपराजितेश्वर! सूर्य के ऊपर छाया हुआ मेघ पटल दूर हो जाय, ऐसा चिंतन तो करना ही चाहिये। परन्तु मेघ पटल नष्ट हो जाने पर सूर्य अधिक प्रतापशाली होजाय इस प्रकार के चिंतन करने की इसलिए आवश्यकता नहीं कि मेघपटल का आवरण दूर हो जाने पर स्वयमेव सूर्यका प्रताप दिगंतव्यापी हो जाता है

इसी प्रकार इस आत्मा के ऊपर जो कर्मपटल आया है वह दूर हो जाय ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु मोक्ष प्राप्त हो जाय ऐसी इच्छा की इसलिए आवश्यकता नहीं है कि कर्म पटल दूर होजाने से स्वयं मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी ॥९९॥

99. O, Aparajiteshwar ! It is good to think about the removal of clouds from the Sun but it is not necessary to think that on their removal the sun-light should pervade in all the directions as that automatically would be. So too, it is good to desire that the curtan of karmas could be removed but not that the liberation should be attained asthat would automatically be on the removal of the curtain.

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे आत्मन् ! तुम्हें सर्वदा इस प्रकार की भावना करनी चाहिये कि जिससे देदीप्यमान सूर्य को आच्छादित करने वाले मेघ पटल विलीन हो जायं और अन्धकार के नष्ट हो जाने से ससार के समस्त पदार्थ स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगें। परन्तु सूर्य का ध्यान न करके केवल बादल का ध्यान करना ठीक नहीं है। क्योंकि बादल के ध्यान करने से अन्धकार कदापि नहीं मिट सकता। इसी प्रकार अज्ञानी जीवात्मा अनादिकाल से अपने शरीर रूपी बादल से आच्छादित सच्चिदानन्द निर्विकार निरजन परमहंस प्रकाशमान परम-ज्योति

आत्म सूर्य का ध्यान न करके चतुर्गतियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त दुःख उठा रहा है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! तू अब से सचेत होकर भव भ्रमण कराने वाले अष्ट कर्मों को नष्ट करके मोक्ष पद को प्राप्त करके सुखी हो जाओ।

जैसे योगीन्द्र आचार्य ने परमात्मा प्रकाश में कहा भी है कि—

कम्मणिवद्ध वि होइ णवि जो फुडुकम्मुकयावि ।
कम्मु वि जो णकया वि फुड सो परमप्पउ भावि ॥४६॥

जो आत्मा अपने शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति के अभाव से उत्पन्न किये ज्ञानावरणादि शुभ अशुभ कार्यों से व्यवहार नय से बँधा हुआ है, तो भी शुद्ध निश्चय नय से कर्म रूप नहीं है, अर्थात् केवल ज्ञानादि अनन्त गुण रूप अपने स्वरूप को छोड़ कर कर्म रूप नहीं परिणमता और ये ज्ञानावरणादि द्रव्य-भाव रूप कर्म भी आत्म स्वरूप नहीं परिणमते, अर्थात् अपने जड़रूप पुद्गलपने को छोड़ कर चैतन्य रूप नहीं होते, यह निश्चय है, कि जीव तो अजीव नहीं होता और जो अजीव है, वह जीव नहीं होता। ऐसी अनादि काल की मर्यादा है। इसलिये कर्मों से भिन्न ज्ञान दर्शनमयी सब तरह उपादेय रूप (आराधने योग्य) परमात्मा को तुम देह रागादि परिणति रूप बहिरात्मपने को छोड़ कर शुद्धात्म परिणति की भावनारूप अन्तरात्मा में स्थिर होकर चिन्तवन करो, उसी का अनुभव करो, ऐसा तात्पर्य हुआ।

और भी कहा है:—

जंग्रोल्लई ववहार-णउ दंसणु णाणु चरित्तु ।
त परियाणहि जीव तुहुं जें परु होहि पवित्तु ॥

हे जीव, तू तत्त्वार्थ का श्रद्धान, शास्त्र का ज्ञान, और अशुभ क्रियाओं का त्याग रूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र व्यवहार मोक्ष मार्ग को जान क्योंकि ये निश्चय रत्नत्रयरूप निश्चय मोक्ष मार्ग के साधक हैं, इनके जानने से किसी समय परम पवित्र परमात्मा हो जायगा । पहले व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति हो जावे, तब निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति हो सकती है. इसमें सन्देह नहीं है। जो अनन्त सिद्ध हुए और होयेंगे वे पहिले व्यवहार रत्नत्रय को पाकर निश्चय रत्नत्रय रूप हुये व्यवहार साधन हैं और निश्चय साध्य है । व्यवहार और निश्चय मोक्ष मार्ग का स्वरूप कहते हैं-वीतराग सर्वज्ञ देव के कहे हुये छ. द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय इनका श्रद्धान, इनके स्वरूप का ज्ञान, और शुभ क्रिया का आचरण. यह व्यवहार मोक्षमार्ग है और निज शुद्ध आत्मा का सम्यक् श्रद्धान स्वरूप का ज्ञान, और स्वरूप का आचरण यह निश्चय मोक्ष मार्ग है । साधन के विना सिद्धि नहीं होती । इसलिये व्यवहार के विना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती । यह कथन सुन-कर शिष्य ने प्रश्न किया कि हे प्रभो ! निश्चय मोक्ष का मार्ग जो

निश्चय रत्नत्रय है वह तो निर्विकल्प है, और व्यवहार रत्नत्रय विकल्प सहित है, सो यह विकल्प दशा निर्विकल्पपने की साधन कैसे हो सकती है ? इस कारण उसको साधन मत कहो। अब इसका समाधान करते हैं। जो अनादि काल से यह जीव विषय कषायों से मलिन हो रहा है, सो व्यवहार साधन के बिना उज्ज्वल नहीं हो सकता, जब मिथ्यात्व अव्रत कषायादिक की क्षीणता से देव गुरु धर्म की श्रद्धा करें, तत्वों की जान-पना होवे, अशुभ क्रिया मिट जावे तब यह अध्यात्म का अधिकारी हो सकता है। जैसे मलिन कपड़ा धोने से रगने योग्य होता है। बिना धोये रग नहीं लगता, इस लिये परम्पराय मोक्ष का कारण व्यवहार रत्नत्रय कहा है। मोक्ष का मार्ग दो प्रकार का है, एक व्यवहार, दूसरा निश्चय। निश्चय तो साक्षात् मोक्ष मार्ग है, और व्यवहार परम्पराय है। अथवा सविकल्प निर्विकल्प के भेद से निश्चय मोक्ष मार्ग भी दो प्रकार का है। जो मैं अनन्त ज्ञान रूप शुद्ध हूँ, ऐसा 'सोऽहं' का चितवन है, वह तो सविकल्प निश्चय मोक्ष मार्ग है उसको साधक कहते हैं, और जहां पर चितवन नहीं है, कुछ बोलना नहीं है और कुछ चेष्टा नहीं है वह निर्विकल्प समाधिरूप साध्य है, यह तात्पर्य हुआ। इसी कथन के बारे में द्रव्य संग्रह की साख देते हैं। " माचिट्ठह " इत्यादि। सारांश यह है, कि हे जीव ! तू कुछ भी काय की चेष्टा मत कर, कुछ बोल भी मत,

मौन से रह, और कुछ चिंतन मत कर, सब बातों को छोड़, आत्मा में आप को लीन कर, यही परमध्यान है। श्री तत्त्वसार मे भी सविकल्प निर्विकल्प निश्चय मोक्ष मार्ग के कथन में यह गाथा कही गई है कि "जं पुण सगयं" इत्यादि।

इसका सारांश यह है कि जो आत्म तत्त्व है, वह भी सविकल्प निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का है, जो विकल्प सहित है, वह तो आस्रव सहित है, और जो निर्विकल्प है, वह आस्रव रहित है।

इस प्रकार तू बाह्य शरीरादि मोहके वश होकर विषय वासना सम्बन्धी अनेक प्रकार के दुर्ध्यान करते हुए इन्द्रिय जनित अन्य भोग सम्पत्ति को प्राप्त कर उसी क्षणिक सुख को ही अपना मान कर अपने अन्दर असली आत्मिक निज सुख को भूल गया है, इस लिये अब मन वचन और काय के द्वारा शुभाशुभ आश्रव को रोककर निजात्म निर्विकल्प आत्मानन्द का ध्यान करके परम सुखी हो जाओ।

अब आगे के श्लोक में पुण्य और पाप दोनों वध के लिये कारण है, पुण्य से देव गति सुख या चक्रवर्ती सुखकी प्राप्ति होती है, परन्तु इस से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। शुद्धात्म ध्यान से ही कर्मबीज की निर्जरा होकर मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये उसी का ध्यान करो ऐसा कहते हैं—

शुद्ध निजात्मनं विडदे काएव सुभव्यन सौख्यमेंवुदा ।
सिद्धरसोख्यदंशमेनवेळ्क्रमल्लदे नागदेवम- ।
र्त्याद्भुतसौख्यदल्लि सरिहोलिसलागदेके कर्मसं-
बद्धवदिंतिदस्तमलपप्पुदरिंदपराजितेश्वरा ! ॥ १०० ॥

हे अपराजितेश्वर ! हमेशा अपने अंदर रत होकर अपने शुद्धात्माको देखने वाले श्रेष्ठ ज्ञानी का जो सुख है उस सुख को सिद्धात्म सुख का अंश जैसा ही समझना चाहिये, परंतु नागदेवता का, कल्पवासी देवता का और मानव के सुख की तुलना उस सुख से नहीं करनी चाहिये,क्योंकि नागदेवता इत्यादि का सुख पुण्य कर्म के परतंत्र होता है और उस भव्य ज्ञानी जीव का सुख, कर्ममल के नाश होने से होता है, उसमें पुण्य कर्म रूपी मल मिश्रित है और यह आत्मिक सुख कर्म मल से रहित है इसलिये इन दोनों की आपस में तुलना नहीं हो सकती है ।।१००।

100. O, Aparajiteshwar ! The bliss of a knower always absorbed in percieving the pure nature of soul, is part of the bliss of Siddhas It should not be compared with the pleasures of Nag and Kalpavasin angels and men; beacause their pleasures are dependent upon the auspicious karmas, mixed with the karmic dirt while that of the self-knower has aroused on the destruction of karmas, is devoid of karmic filth. Hence, incomparable.

विवेचन —ग्रन्थकार ने इस श्लोक में समझाया है कि अपने शुद्धात्मा को नित्य प्रति अपने में देखने वाले श्रेष्ठ ज्ञानी भव्य जीव का जो सुख है वही सिद्धात्म सुख का अंश है ऐसा कहना तो ठीक है, परन्तु नाग लोक, देव लोक के सुख, कल्पवासी देवों के सुख, चक्रवर्ती के सुख, इन्द्रादि देवों के सुख तथा मानव के इन्द्रिय जन्य सुख के साथ सुद्धात्म की तुलना करना ठीक नहीं है। क्योंकि इन नाग लोकादि देवताओं के सुख, कल्पवासी देवताओं के सुख और मनुष्य तथा चक्रवर्ती इत्यादि के जो सुख हैं वे सुख पुण्य कर्मों के द्वारा प्राप्त हुए हैं और नाशवान् हैं। वे सुख जन्म मरण के लिये कारण होकर आत्मा को सदा दुःख देने वाले हैं। ज्ञानी भव्य जीवों के जो सुख हैं, वे शुद्धात्म प्राप्ति के निमित्त से प्राप्त हुये हैं, इसलिये वे सुख कर्म रहित हैं। शुद्धात्म में रत हुए भव्य जीवों के सुख सिद्धात्म स्वरूप के अश हैं और जन्म मरण का नाश करने वाले हैं। इस लिये ज्ञानी जीव को हमेशा शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिये।

बुद्धिमान लोग हमेशा इसी का ध्यान करते हैं क्योंकि वे कभी भी अनर्थ नहीं करते हैं। कहा भी है कि.—

एसो वंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥६७॥ प्रवचन

जो पुण्य पाप स्वरूप आत्मा का परिणाम है, वह उसका कर्म

है, उसी का आत्मा कर्ता है, उस राग परिणाम को अपने ही परिणमनसे ग्रहण करता है और अपनेसे ही छोड़ता है। इस कारणसे इसे शुद्ध द्रव्य का कहनेवाला निश्चय नयसे जानना चाहिये। तथा जो द्रव्य कर्म रूप पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है, उसका वह कर्ता है और ग्रहण करने वाला तथा छोड़ने वाला है। सो यह अशुद्ध द्रव्य का कहने वाला व्यवहारनय है। इस प्रकार निश्चय व्यवहार नय से शुद्धाशुद्ध रूप बंध का स्वरूप दो प्रकार दिखलाया गया है। परन्तु इतना विशेष है कि निश्चयनय ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि वह केवल द्रव्य के परिणाम को दिखलाता है और साध्य रूप शुद्ध द्रव्य के शुद्ध स्वरूप को दिखलाता है। तथा व्यवहार नय पर द्रव्य के परिणाम को आत्म परिणाम दिखलाने से द्रव्य को अशुद्ध दिखलाता है। इस कारण ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। यहां पर कोई प्रश्न करे कि तुमने राग परिणाम को निश्चय बन्ध कहा और इसी को शुद्ध द्रव्य का कथन तथा ग्रहण योग्य कहा है, सो क्या कारण है? यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह राग परिणाम तो द्रव्य की अशुद्धता करता है।

वह ग्रहण योग्य कैसे हो सकता है? तो इसका समाधान इस तरह से है कि राग परिणाम तो आत्मा की अशुद्धता को ही करता है, इस में कुछ भी सन्देह नहीं है, परन्तु इस जगह दूसरी विवक्षा से कथन किया गया है। वही दिखलाते हैं—यहाँ

पर शुद्ध द्रव्यका कथन एक द्रव्याश्रित परिणाम की अपेक्षा से जानना चाहिये और अशुद्ध कथन अन्य द्रव्य का परिणाम अन्य द्रव्य में लगाना जानना। तथा जो इस जगह वन्ध रूप निश्चय नय ग्रहण करने योग्य कहा है, सो इस लिये कि यह जीव अपने ही परिणामों से अपने को वँधा हुआ समझेगा, तो आप ही अपने को छुड़ावेगा इस कारण ऐसी समझ होनेके लिये ग्रहण करने योग्य कहा है और जो अपने को दूसरे से वॅधा हुआ मानेगा. तो कभी छूटने का उपाय नहीं करेगा। इसलिये अपने से अपने को वॅधा मानता हुआ ही रागादि परिणामों का त्यागी होकर अपने वीतराग परिणाम को धारण करेगा। इसी अपेक्षा से निश्चय वन्ध शुद्ध द्रव्य का साधक कहा गया है। इसलिए ज्ञानी जीवों को इन्द्रिय जन्य सुख की लालसा को मन वचन काय इन तीनों के द्वारा त्यागकर एकाग्रता पूर्वक शुद्धात्मा का ध्यान करना ही श्रेयस्कर है ॥१००॥

आगे के श्लोक में शुद्धात्म प्राप्ति के लिये मन की एकाग्रता की जरूरत है ऐसा कहते हैं—

चिंतयोळोंदिदव ग्रर्दुकुं वहुदुःख मे येंवरेंदुमा ।
चिंतये नाळोळे वर्दुकुतिर्परदेक सुखस्थळांधकर् ।
चिंतिप माळ्प मातुलिन्न दंदुगविल्लदे तन्नरूपिनोळ् ।
शांतदे तेप्पगिर्प वगेदोरदला अपराजितेश्वरा ! ॥१०१॥

हे अपराजितेश्वर ! सुख के स्थान को न जानने वाले चिंता-

अस्त संसारी प्राणी का जीवन वहुत ही दुःखमय है ससारी जीव ऐसा कहते हैं। ऐसा होते हुए भी उस चिंतामय जीवन में ही जीता है यह क्यों ? विचार पूर्वक चिंता को करना और बोलना तथा वाह्य चिंता इत्यादि वाधाओं से रहित अपने रूप मे ही शांति पूर्वक चुपचाप रहने के नियम ससारी चिंताग्रस्त को दीखता नहीं है ॥१०१॥

101. O, Aparajiteshwar ! Those people who do not know the abode of happiness are miserable They tell that their life is a miserable affair but still they keep on living that sort of life. These people, really, do not know the way to live peacefully without being disturbed by thinking and speaking externalities

विवेचन—ग्रंथकार कहते है कि जो अपने स्थान को न जान कर चितामें हमेशा मग्न होकर अनेक प्रकार का विचार करते हुए अत्यन्त दु.खी होते हैं और कहते हैं कि भाई मैं क्या कहूँ मरना अच्छा है तथा जगल में जाकर आहार पानी छोड़कर आँखें बन्द करके बैठ जाना अच्छा है, ऐसा मुझे लग रहा है। यह ससार अत्यन्त दु खमय है एक के पीछे एक दु ख हमेशा संसार में होता ही रहता है। मै तो ससार से इस समय बडा ही दुःखी हूँ इस तरह अनेक दुःखों या कष्टों की आलोचना करते हुये भी ससार में जीते हैं और अनेक प्रकार की होने वाली बाधाओंको सहन भी कर लेते हैं, परन्तु संसार दु·खमय है, यह

जानते हुए भी मूढ़ प्राणी महान कष्टों को देनेवाले अनादि कालीन कर्मों को नष्ट करने के लिये संपूर्ण पर वस्तुओं को अपने आत्मा से भिन्न मान कर आत्मचिंतन क्यों नहीं करते ?

सम्पूर्ण बाह्यविचार को बन्द कर मन वचन काय को रोककर बाधा रहित होकर एकान्त स्थान में शांति पूर्वक बैठकर पांच मिनट अथवा आधा घन्टा डेढ़ घन्टा चुपचाप स्थिर होकर आत्म चिंतवन करने की भावना क्यों नहीं होती ? अर्थात् मूढ मनुष्य के अन्दर ऐसी बुद्धि क्यों नहीं होती है ।

संसार में जन्म से लेकर अन्त तक मूर्ख प्राणी कष्ट ही कष्ट उठाता है, जब तक शरीर रहेगा तब तक शरीर के साथ कष्ट, बना ही रहेगा. और वे कर्मरूपी शत्रु हमेशा कष्ट देते ही रहेंगे । कहा भी है कि—

एकैकशो विनिघ्नन्ति विषयाविषसन्निभाः ।
किं पुनः पंच मिलिताः कथं न नाशयन्ति हि ।।२।।

अर्थः—विष के सदृश विषय एक २ अकेले हनते हैं, तो पाँचों मिलकर नाश क्यों नहीं करेंगे अर्थात् अवश्य करेंगे ।।२।।

Singly the objects of the senses, like poison, bring about death: Then why not the five together consummate destruction ?

प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथिनम् ।
ज्ञानांकुशेन कुर्वीत वशमिन्द्रियदन्तिनम् ॥३॥

अर्थः—विषय रूप गहन वन मे मद से दौड़ते हुये इन्द्रिय रूपी हस्ती को ज्ञान रूपी अकुश से वश में करें।

One should overpower the sense organs, running wild like a mad elephant in the dense forest of the passions, with the hook of wisdom.

आक्रांतं मरणेन जन्म जरया यात्युज्ज्वलंयौवन ।
संतोषो धन लिप्सया शमसुखं प्रौढ़ांगनाविभ्रमैः ॥
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वन भुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै—
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥४॥

अर्थः—मृत्यु ने जन्म को, बुढ़ापे ने युवावस्था को, धन की इच्छा ने सन्तोप को, सुन्दर स्त्रियों के हाव भाव ने शान्ति सुख को, मत्सरी (जो पराई बड़ाई न सह सके) लोगों ने गुण को, सर्पों ने वन भूमि को, दुर्जनों ने राजा को और चचला ने धैर्य्य को नष्ट कर दिया अर्थात् इस ससार में किसने किस को नहीं ग्रास रक्खा है ?

Every thing on earth is destined to perish. youth passes into old age, happiness is destroyed by greed, peace of mind by glances shot from

the eyes of beautiful women. Just men are slandered by the envious, Serpents infest the forests, and kings themselves come to grief through their evil advisers. Not even divine virtues are permanent, so that every-thing in the world undergoes lossor demage in some form or other.

आयुः कल्लोललोल कतिपय दिवसस्थायिनीयौवन श्री—
रर्थाः संकल्प कल्पं घन समयतडिद्विभ्रनाभोग पूगाः ॥
कण्ठाश्लेषोपगूढ तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं ।
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भव भवाम्भोधि पारं तरीतुम् ॥

अर्थ—आयुष्य जल तरंग सी चचल है, यौवनावस्था की शोभा अल्प काल रहने वाली है, धन मन के सकल्प से भी क्षणिक है, भोग के समूह वर्षा-काल के मेघ की बिजली से भी अधिक चचल हैं और प्यारी स्त्री को गले से लगाना बहुत दिन स्थिर नहीं रहता, इसलिये ससार के भयरूपी समुद्र से पार होने के लिये ब्रह्म ही में चित्त को लीन करो।

Life is uncertain as the waves of the sea, the glory that envelopes our youth remains with us for a short time, wealth passes away like a flash of thought, all the pleasure the world can afford, endures no longer than a gleam of lightening in the heavens. The ordent passion of

the mistress you clasp in your arms, will last but a short time. Give all your thoughts, therefor, to the Supreme Spirit; for you too must navigate the sea of life with all its terrors and dangers.

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥६॥

अर्थ—इच्छाओ के परिपूर्ण करने से कभी वे शान्त नहीं होतीं, बल्कि जिस तरह हवन की अग्नि में घृत डालने से वह और भी धधकने लगती है उसी प्रकार भोग से इच्छायें और भी तीव्र होती जाती हैं ॥६॥

Desires are never quelled with their gratification, on the contrary, they are kindled more and more, like fire fed by sacrificial offerings.

As a substance of the morals taught in Bhagvat Gita, Lord Shri Krishana obsevres —

भागवत में वृषभदेव ने संसारी जीवों के अर्थ—इस प्रकार उपदेश दिया गया है कि—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥७॥

हे ससारी जीवो ! मुझ में ही मन लगाकर मुझ में ही बुद्धि को स्थिर कर, इससे तू नि.सन्देह मुझ में ही निवास करेगा।

Concentrate thy thoughts on me, fix thy intellect on me, and thou will find permanent repose in me.

Shrimad Bhagavata (Skanda V—Chap 5-1) says —

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्य पुत्रका येनसत्त्वं शुध्येद्यस्माद्ब्रह्मसौख्य त्वनन्तम्।

अर्थ—हे पुत्रगण ! जो सब जीव मनुष्य लोक मे जन्म लेकर मनुष्य देह को प्राप्त हुए हैं. उन को यह देह दु ख को देने वाले समस्त विषयों में नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि ये सब विषय भोग तो विष्टाभोगी शूकर आदि को भी मिल जाते हैं इस लिये हे पुत्रो ! दिव्य तपस्या करो. तपस्या ही श्रेष्ठ वस्तु है, क्यों कि इससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे परब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है, (ऋषभदेवका उपदेश अपने पुत्रों से) ।

"O my sons ! it is not at all proper for those born in this world as men, to apply themselves in the pursuit of carnal desires, for these desires even the folthy swine can satisfy but practise

virtue and self-denial which is the best plan, and will give you purity of heart resulting in the enjoyment of the transcen dental blis of the realization of God"(Rishabha Deva's advice to his sons)

Smiles in his " Character" (Chap VI) observes; "Self-control is at the root of all the virtues. Let a man give reino to his impulses and passions, and from that moment he yields up his moral freedom. He is carried along the current of life, and becomes the slave of his strongest desires for the timebeing . .... Shaftesbury some where says that a restlessness to have something which we have not, and to be something which we are not, is the root of all immorality." Again in Chap IX of his book Smiles says - "Without some degree of self restraint in society a man may be found almost insufferable. No one has pleasure in holding intercourse with such person and he is a constant source of annoyance to those about him. For want of self-restraint, many men are engaged all their lives in fighting with difficulties of their own making, and rendering success impossible by their own crossgrained ungentleness,

whilst others, it may be much less gifted, make then may and achieve success by simple patience equanimity, and self-control."

Plato says. "Those inrectches who have never experienced the sweets of wisdom and virtue, but spend all the time in revels and debaunches sink downward day after day, and make their whole life one continued series of errors"

Of the remaining evils, two deserve special notice. One is अर्थानामनर्थज्ञैश्च चिंतनम् holding counsel with unwise people regarding important affairs. Counsel should be sought only of the learned and the wise and not of those who are illiterate and ignorant.

अगर तू इन दुःख की जड़को निर्मूल करना चाहता है तो एकाग्र होकर आत्मध्यान का साधन करो जिससे कि भवरूपी दुःख नाश होकर शीघ्र ही सुख शान्ति प्राप्त होजाय—

अब अगले श्लोक में आत्ममनन से ही संसार का नाश होता है ऐसा बतलाते हैं—

नोडिदु चित्रमीचित्सुदृदेन्न निजत्व मदर्केदेहम- ।
ल्लाडदे कुळ्ळिकृतिर्प केळमं दोरकोंदु मोचमिंतिदं ॥

माडुवुदर्के नानलसि मेय्यनमातुगळं वयल्गो रो- ।
डाडिसि कर्ममं करेवेनज्ञतेयिंदपराजितेश्वरा ! ॥१०२॥

हे अपराजितेश्वर ! मेरे निज स्वरूप को देखने के लिये शरीर की हलन चलनादि क्रिया से रहित होकर एकाग्रता से बैठा हुआ कार्य करना ही मोक्ष है। पर इस प्रकार कार्य करने के लिए मैं प्रमादी बनकर बैठा हूँ मैं अपनी मूर्खता के कारण मन वचन काय इन तीनोंको बाहर भेजकर कर्म को बुलाता हूं देखो मेरी यह कितनी मूर्खता और कितने आश्चर्य की बात है ॥१०२॥

102. O, Aparajiteshwar ! The way to liberation is sitting steadily and percieving my own nature, abstaining from the bodily movements. I am idle in doing this work and call the karmas inside my being by performing physical, vocal and mental movements incessantly. What a great astonishingly foolish am I ?

विवेचन—ग्रथकार कहते हैं कि ज्ञानी जीव अपने अन्दर विचारता है कि आत्म स्वरूप को देखने के लिये शरीर की हलन चलन न करके एकाग्रता पूर्वक वैठकर आत्मा मे लीन होने से ही मोक्ष के फल को प्राप्त किया जाता है अर्थात् मोक्षमार्ग की प्राप्ति का साधन ही समझना चाहिये। परन्तु ऐसे कार्य करने में मैं वहुत प्रमादी वनगया हूँ अर्थात् इन्द्रिय जन्य क्षणिक भोगों में

आसक्त होकर अपने स्वरूप की तरफ लक्ष्य नहीं किया। मैं अपने मूर्खपने से शरीर व मन की बातों को बाहर भेज कर हमेशा शुभाशुभ कर्म को स्वयं ही बुलाया है, हे भगवन्! यह कितने आश्चर्य की बात है।

तत्व भावना में कहा भी है कि—

संयोगेन दुरंतकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते॥
संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनोनिश्चलम् ॥१७॥

अज्ञानी जीव अपने आत्माको समझाता है कि हे आत्मन्! तेरे दिलके अन्दर मोहरूपी अत्यन्त गाढ़ जो गांठ पड़ी हुई है उसको काट डाल वास्तव में मोह बड़ा पापी व दुष्ट है। इसकी सगति में यह तेरी आत्मा रह कर ससार के स्त्री पुत्र भिन्न धनादि परिग्रह को अपना माना करता है। तब किसी से राग, किसी से द्वेष करता है। इस मोह वरागद्वेष के कारण तीव्र पाप का बन्ध करता हुआ ससार वनमें भ्रमता है। जिस वन में बुढ़ापा होना और मरना ये दोनों बड़े व्याघ्र हैं, जो इस को पकड़ कर दुःखी करते हैं व सताते हैं। इस के सिवाय अनेक शारीरिक मानसिक क्लेश प्राप्त होते रहते हैं। इस ससार के भीतर चार गतियाँ हैं, जहाँ ही जाता है वहीं आकुलतामे पड जाता है। देव गतिमें

भी इन्द्रिय भोगों की आकुलता रहती है. इष्ट का वियोग होता रहता है व अन्य की अधिक सपत्ति को देख कर दिल में जलन पैदा होती है। तू बारम्बार इस ससार में मरता है और कष्ट उठाता है । हे आत्मन् ! इस मोह के वश में पड़ा हुआ तुझे अनन्त कालससार बन में चक्कर देते हुए और भटकते हुए बीत गये पर तू जन्म मरण करता ही रहा और भयानक दुःखों को पाता ही रहा अब कुछ पुण्य के उदय से यह अमोल मानव जन्म पाया है तथा सत्संगति से उस जैनधर्म के रहस्य को जाना है जो जीवों को संसार बन से निकाल कर मुक्ति के अचल धाम में विराजमान कर देता है। इसलिये अब प्रमाद को छोड़कर तुम्हे ऐसा कोई योग करना उचित है कि जिससे इस मोह शत्रु से पीछा छूटे ससारका भ्रमण मिटे और परम निराकुल पद प्राप्त हो जाय। इसके लिये एकमात्र यही उपाय है कि मन को निश्चल किया जावे, मिथ्या दर्शन के विष को उगला जावे सम्यग्दर्शन रूपी परम अमृत को पान किया जावे, भेद विज्ञान के प्रताप से आत्मानुभव को जाग्रत् किया जावे तथा आत्मिक आनन्द में विलास किया जावे यह आनन्द भोग ही ऐसा अपूर्व शस्त्र है जो मोह को खड खड कर देता है। ऐसे ही अमोघ शस्त्र से मोह शत्रु का नाश हो जाता है और यह आत्मा मोह से छूटकर शीघ्र ही अर्हंत पद प्राप्त करके परमात्मा होकर अनन्त सुख मे मग्न हो जाता है। इसलिये हे आत्मन्! तू भी ऐसी ही सद्भावना करो जिससे कि शरीर

रहित होकर निराकुल परम पद का तू अनन्त काल के लिये अधिकारी बन जा ॥१०२॥

आत्म स्वरूप से च्युत होने के कारण इन्द्रिय सुख की चिंता से तुझे ससार में इतने काल तक भ्रमण करना पड़ा ऐसा अगले श्लोक मे कहते है—

चिंतिस् वेळ्दोडं त्रिडदे चिंतिके देहद कष्टमं सुख- ।
भ्रांतियनेंदु भेद्भवमं नवभेद्पदार्थमं व्रता- ॥
नंतवनर्हदादिगळनात्मन कर्मदरूपनेकेनल् ।
चिंते यिदस्तचिंतेयने माळ्पुदरिंदपराजितेश्वरा ! ॥१०३॥

हे अपराजितेश्वर ! अगर मनुष्यको चिंता करनी हो, तो शारीरिक सुख ही ससार मे सुख है इस भ्रम को दूर करके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव ऐसे पॉच प्रकार के ससार को और जीवाजीव इत्यादि नौ पदार्थ को, अनत व्रत को, अर्हत्सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु ऐसे पच परमेष्ठी को तथा आत्मस्वरूप को मनपूर्वक चिंतवन करो; क्योंकि ऊपर कहे हुए वस्तुओं के चिंतवन ही चिंता को दूर करने वाले हैं ॥ १०३ ॥

103. O, Aparajiteshwar ! If man has, to think then he should think worldly pleasures as delusion and pain, the world as conditioned by five things substance, space, time, mode of life (bhava) and mode of feelings (bhava). He

should thik about Jiva and Ajiva etc., nine Padarthas (Principalities), vow of Ananta, about Arhat, Siddha, Acharya, Upadhyaya and all the Sadhus–five Parmestins (great benefectors) and nature of the soul. Because the thinking of these things will destroy anxieties and miseries.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि जो मनुष्य आत्म चिंतन करने की अभिलाषा से ससार में होने वाले सुख, दु:ख, शारीरिक कष्ट, संशय-भ्रम, द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव आदि पॉच प्रकार के ससार के, अजीव आदि सात तत्त्व के, नौ पदार्थों के तथा अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु आदि पचपरमेष्ठियो के साथ २ अपने आत्म-स्वरूप का ध्यान करेगा उसकी चिन्ता क्या दूर नहीं होगी ? अवश्य होगी।

आत्मा के साथ सदा रहकर कष्ट देने वाला मुख्य संसार पाच प्रकार का है। इसका वर्णन तथा पच परमेष्टियों के स्वरूप का वर्णन पहले खड में कर चुके, हैं अतः उसे देख कर तदनुसार ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें पुण्य और पाप मिलाने से नौ प्रकार के हो जाते हैं। इन्हीं को नौ तत्त्व कहते हैं। इनका वर्णन यद्यपि प्रथम खंड में किया जा चुका है, पर फिर भी यहाँ पर हम प्रसगोपात सक्षेप में वर्णन करेंगे। जैसे कि श्री

कुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने अपने पंचास्तिकाय में कहा भी है कि—

जीवाजीवा भावापुण्णं पावंच आसंवतोसिं।
संवर णिज्जर वंधो मोक्खो य हवन्तिते अठ्ठा॥११६॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ होते हैं।

अर्थात्—यहाँ इन नौ पदार्थों का कुछ स्वरूप कहते हैं। देखना, जानना, जिस का स्वभाव है वह जीव पदार्थ है। उससे भिन्न लक्षण वाला पुद्गल आदि के पाच भेद रूप अजीव पदार्थ हैं। दानपूजा आदि छः आवश्यक कर्मों को आदि लेकर जीव का शुभ अभाव करना भाव पुण्य है। इस भाव पुण्य के निमि १ से प्राप्त जो असाता वेदनीय आदि अशुभ प्रकृति रूप पुद्गल का पिंड है सो द्रव्य पाप है। आश्रव रहित शुद्ध आत्मा के पदार्थ से विपरीत जो रागद्वेष मोह रूप जीव का परिणाम है सो भाव आश्रव है। इस भाव के निमित्त से कर्म वर्गणाके योग्य पुद्गलों का योगों द्वारा आना द्रव्यास्रव है। कर्मों को रोकने में समथ जो यिकल्प सहित आत्मा की प्राप्ति रूप परिणाम है सो भाव सवर है। इस भाव के निमित्त से नवीन द्रव्य कर्मो के आने का रुकना द्रव्यसवर है। कर्म की शक्ति को मिटाने का समर्थ जो बारह प्रकार तपोंसे बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है सो सवर पूर्वक भाव निर्जरा है। इस शुद्धोपयोग के द्वारा रस रहित होकर पुराने

बंधे हुए कर्मों का एक देश जल जाना द्रव्य निर्जरा है। प्रकृति आदि बंध से शून्य परमात्म पदार्थ से प्रतिकूल जो मिथ्यादर्शन व रागादि रूप चिकनाहट भाव है सो भाव बंध है। इस भाव बंध के निमित्त से जैसे तेल लगे हुए शरीर में धूल चिपक जाती है वैसे जीव और कर्म के प्रदेशों का एक दूसरे मे मिल जाना द्रव्य बंध है। कर्मों के मूलसे हटाने में समर्थ जो शुद्ध आत्मा की प्राप्ति रूप जीव का परिणाम है, सो भाव मोक्ष है। इस भाव मोक्ष के निमित्त से जीव और कर्म के प्रदेशों का सम्पूर्णपने से भिन्न २ हो जाना, द्रव्य मोक्ष है।

द्रव्य मोक्ष भाव मोक्ष ये दोनों जीव के परिणाम कारण हैं। पुण्य और पाप आत्मा को शुभाशुभ कर्म का बंध करके हमेशा पुण्य के द्वारा देवगति या उत्तम कुल मे जन्म या राज्य पद आदि अनेक प्रकार की इन्द्रिय भोग सामग्री को प्राप्त करदेने वाले हैं, और पाप कर्म अनेक नरकादि गतियोंमें तथा नीच कुल तिर्यंचादि गतियों में ले जाकर अनेक दुःख देने वाला होता है, इस लिये हे आत्मन्! पुण्य और पाप दोनों तुझे ससार में भ्रमण कराने वाले हैं ऐसा समझकर इन दोनों से भिन्न निजात्म स्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान करो इसका ध्यान करने से हमेशा के लिये सुख शान्ति की प्राप्ति होकर मोक्ष साम्राज के अधिपति बन जाओगे ॥१०३॥

इस लिये जीव को हमेशा अपने चिंतवन व विचार में लीन होकर बाह्य वस्तु में मौन रहना श्रेष्ट है, ऐसा अगले श्लोक में

बतलाते हैं:—

अळेदिरिसिदु दं कुडुवनन्ते पवणुडियिंदे भव्यरं ।
निळिपुव सुम्मनिर्प निजकार्यके पुरुपमृगंबोलुविंयोळ ॥
पोळेव विविक्तमंपुगुव वैत निधानवनींद्विपातनं ।
तोळ्गने काणवने सफलजन्मनला अपराजितेश्वरा ! १०४

हे अपराजितेश्वर ! जैसे कोई व्यापारी किसी वस्तु को तोल कर बराबर करके ग्राहक को देता है उसी तरह हितमित अपने शब्दो को तोलकर भव्य जीवोको सदुपदेश करनेवाले और जीवन रूपी पृथ्वी मे गाडी हुई निधि को देखने वाले के समान अपने अन्दर अपने आत्मस्वरूप को देखने वाले ऐसे योगी का तप फलीभूत नहीं होगा क्या ? ॥१०४॥

104. O, Aparajiteshwar ! Is not the life of such a yogi successful who speaks to the promising souls the good things after weighing words-short and beneficial, as some businessman gives commodity to the customer after duly weighing, and looks on his soul-nature as some hidden treasure ?

विवेचन—ग्रन्थकार कहते है कि आत्मा में रत ज्ञानी योगी अपने आत्म तत्त्व में ऐसा रत रहता है कि जैसे दुकानदार अपने दुकान की व्यापार सम्बन्धी वस्तु की तोल माप, लम्बाई

चौड़ाई वजन इत्यादि कराके उसका भाव और स्वरूप हमेशा अपनी दुकान में आनेवाले ग्राहकों को बतलाते हुए अपनी वस्तु के मोल भाव करने में रत रहता है तथा बाह्य निरर्थक कार्यों में तो वह मौन रहता है, पर अपने आवश्यक कार्यों के लिए बात-चीत किया करता है। इसी तरह परमहंस महान् योगी अपने आत्म स्वरूप में लीन होते हुए अपने आत्मा की इस तरह तोल मोल किया करते हैं कि आत्मा पुरुषाकार है, घटाकार है, आकाश के समान है तथा जमीन में गडी हुई निधि के समान है। इस शरीर रूपी भूमि में रत्नत्रय अमूल्य निधि के समान मौजूद है। अर्थात् मृग के समान जंगल में, गिरि गुफा में, नदी व समुद्र के तट पर, वृक्ष के कोटर में तथा निर्जन स्थान आदि में विचरने वाले आत्मरत योगी महा पुरुष अपने अन्दर देखे हुए या जाने हुए आत्मिक रसस्वाद का अनुभव स्वयं करते हैं। तथा उनके निकट यदि कोई भव्य जीव आत्मकल्याण करने की इच्छा से आ भी जाय तो उसको भी उस आत्मा का स्वरूप जैसा कि उन्होंने अपने अन्दर अनुभव किया है उसी के अनुसार समझाकर आत्म कल्याण का पथ प्रदर्शन किया करते हैं। इस पृथ्वी में रात दिन आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करनेवाले अर्थात् अपने अमूल्य समय को शुद्धात्मोपयोग में लगानेवाले योगी धन्य नहीं हैं क्या? अवश्य हैं।

प्रश्नः—योगी की पहिचान क्या है?

समाधान—इसके उत्तर में आत्मानुशासन में कहा गया है कि —

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः ।
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः ॥
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषुदयालुता ।
भवतिकृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥२२४॥

विषयों से विरक्त, परिग्रहों का त्याग, कषायों का निग्रह, शान्ति होना, हिंसादि पापों का छूटना. इन्द्रिय व मन का निरोध जीवादि तत्त्वों का चिंतन, तपश्चरण की तैयारी, मन का निश्चल होना, जिनेन्द्र देव में भक्ति तथा परिणामों में दया-लुता ये सारी बाते उसी महात्मा को प्राप्त होती हैं कि जिसका ससार समुद्र का किनारा समीप आ चुका है। ऐसे त्यागी के अन्दर ही ये सभी बाते प्रगट होती हैं और ये ही त्यागी महात्मा इस ससार में धन्य हैं ॥१०४॥

आगे के श्लोक में बतलाते हैं कि संसार से भयभीत योगी कभी अपने आत्मस्वरूप की भावना से च्युत नहीं होता।

मळे सुरिदागळेंतु पनिगाळि सिडिल्दनिगळ्किब्बाद्यदोळ् ।
सुळियदे गेहदोळ्शिशुगळिर्दपुवंतेले योगिनीनुम- ॥
ग्गळिप विकारजृंभणाददुष्पमदोळपोर गाडवेड प ।
ज्जळिसुते निन्नोळिर्दु जयिसेंदेयला अपराजितेश्वरा ॥१०५

हे अपराजितेश्वर ! पानी की वर्षा के समय बादल की गर्जना तथा बिजली की चमक और जोर से चलने वाली आंधी या हवा के झकोरे इत्यादि से भयभीत हो कर इधर उधर संचार न करते हुए छोटे २ बालक जैसे अपने घर में किवाड़ बन्द कर बैठ जाते हैं उसी प्रकार हे योगी ! आप भी महान् बलवान् विकार उत्पन्न करने वाले इस दुष्षम काल में बाहर विनोद मत करो और अपने आप को प्रकाशित करते हुए अपने अन्दर रहकर कर्म को जीत लो, इस प्रकार आपने भव्य जीवों को नहीं कहा क्या ? ॥१०५॥

105. O, Apaiajiteshwar ! "As a little childran sit in their houses closing the doors and do not wander outside here and there fearing the thundering clouds, lightening and strong blowing wind, in the same way, O, Yogi do not play outside in this Dushama period (the present fifth era) which creates the very strong evil passions and win the karmas by dwelling inside and illumining thyself." Have you not preached the promising like this ?

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसे घनघोर पानी बरसने के समय जोर से चलनेवाली हवा की झकोरों की आवाज तथा बादलोंकी गर्जनाकी आवाज़से भयभीत होते हुए छोटे छोटे बच्चे बाहर से दौड़ कर अपने घर में घुस कर चुपचाप किवाड़ बन्द

करके बैठ जाते हैं उसी तरह योगी भी महान् पराक्रमी विकार को या भय को उत्पन्न करने वाले दुःपमकाल अर्थात् पचम काल रूपी महाप्रलय में अपने घर के बाहर विनोद न करके हृदय रूपी घर मे ही छिपकर आत्म चिन्तन किया करते है। अर्थात् इस पंचमकाल में मिथ्यारूपी अविचार, सूरज के ऊपर घेरे हुए बादल व बिजली की गर्जनाके समान है और चारों ओर महान् भंयकर अजगर सर्प आदि क्रूर जन्तु के समान नीच महा पापी मनुष्य संचार कर रहे है इसलिये हे आत्मन्! तू उसमें विनोद के साथ स्वतन्त्र होकर विचरण मत करो और अपने पांचों इन्द्रियां तथा मन वचन काय इत्यादि दरवाजे को बन्द करके अपने आत्म स्वरूप घर मे लीन होकर अपने प्रकाश रूपी आत्म तेज के द्वारा दुःपमकाल रूपी प्रलय को जीतो।

आत्मा का निज स्वभाव वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के सिवाय दूसरा स्वभाव नहीं है। आत्मा केवल ज्ञान स्वभाव है ऐसा जान कर हे योगी! पर वस्तु से प्रीति मत लाव।

जो शुद्धात्मा से भिन्न देहादिक हैं उनमें राग मत कर क्योंकि आत्मा का ज्ञान स्वभाव जानकर रागादिक छोड़ कर निरन्तर आत्मा की भावना करनी चाहिये।

जिसका मन रूपी जल विषय कषाय रूप प्रचण्ड पवन से नहीं चलायमान होता है उसी भव्य जीव की आत्मा निर्मल हो जाती है और शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जाता है।

भावार्थ :— ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रूपी जलचर मगर मच्छादिक जीवों से भरा हुआ जो संसार सागर है उस में विषय कषाय रूपी प्रचड पवन है जो कि शुद्धात्म तत्त्व से सदा पराङ्मुख है, उसी प्रचड पवन से जिसका चित्त चलायमान नहीं हुआ, उसी का आत्मा निर्मल होता है।

आत्मा रत्न के समान है पर वह अनादि काल के अज्ञान रूपी पाताल मे पड़ा है सो रागादि मल के छोड़ने से शीघ्र ही निर्मल हो जाता है। हे भव्यजीव! आत्मा उन सज्जन पुरुषों का निर्मल होता है और प्रत्यक्ष उनको आत्मा का दर्शन होता है। परम कला जो आत्मा की अनुभूति है वही हुई निश्चय दृष्टि और उससे ही आत्मा के स्वरूप का अवलोकन होता है। आत्मा स्व संवेदन ज्ञान करके ही ग्रहण करने योग्य है। जिसका मन विषयों से चचल नहीं होता उसी को आत्मा का दर्शन होता है।

जिसने शीघ्र ही मन को वश कर आत्मा को परमात्मा से नहीं मिलाया, जिसमें ऐसी शक्ति नहीं है वह योग से क्या कर सकता है? जिसमें मन मारने की शक्ति नहीं है वह योगी कैसा? योगी तो उसे कहते हैं जो बड़ाई पूजा (अपनी महिमा) और लाभ आदि सभी मनोरथ रूप विकल्प जालों से रहित निर्मल दर्शन ज्ञान परमात्माको देखे जाने तथा अनुभव करे। सो मन को वश में करने से ही आत्मा की प्राप्ति हो सकती है।१०५॥

अब आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि ज्ञानी जीव को

हमेशा अपने आत्म चिन्तवन मे ही रमण करना चाहिये।

नीडु दिनं निजात्मनने भाविसि संस्कृतनाद मेले तां।
नोडुवुदल्लिये तिळिवुदल्लिये पोर्दुवुदल्लिये श्रियं॥
माडुवुदल्लिये सुखिपुदल्लिये अर्चिपुदल्लिये मर।
लाल्दाडुवदल्लिये पोरगे मेच्चनला अपराजितेश्वरा!॥१०६

हे अपराजितेश्वर! अपने आत्मा का ही अभ्यास करो। अपने आत्मा मे ही दिन प्रति दिन अपने मे ही आप को देखना, अपने आत्मा मे ही जानना, अपने आत्मा में ही आश्रय करना, अपने आत्मा मे ही प्रेम करना, अपने आत्मा में ही सुखी होना, अपने आत्मा के अन्दर ही पूजा करना तथा अपने आत्मा के अन्दर ही विनोद करना, इस तरह विचार करने वाला जीव वाह्य वस्तुओं में प्रेम कभी नहीं करेगा॥१०६॥

106. O, Aparajiteshwar! One who thinke to practise to see himself in his own soul, to know his own soul, to rest in his soul, to love his own soul, to be pleased in his own soul, to worship his own soul and to play in his own soul, will never love outside things

विवेचन—ग्रन्थकार कहते है कि यह जीवात्मा संम्पूर्ण वाह्य पर पदार्थोंसे विमुक्तहोकर अपने आत्मस्वरूपके सन्मुख होते हुए ऐसा विचारे कि मैंने अनादि काल से अपने निजात्म सत् स्वरूप से

च्युत होकर पर पदार्थों में आशक्त होते हुए, वाह्य इन्द्रियादि भोगोपभोग विषयों में रमण करते हुए चारों गतियों में दुःख ही दुःख उठाया। यह सभी मेरे अज्ञानका फल है। अब मुझे असली सुख शान्ति का स्वरूप मालूम हो गया यानी असली सुख मेरे अन्दर ही है तो फिर मै वाहर क्यों ढूंढ़ता फिरूं? इस तरह विचार करके यह आत्मा अपने मन में सद्भावना का अभ्यास करने के पश्चात् अहर्निशि अपने को आप ही देखता हुआ, अपने आप को ही जानता हुआ, अपने आत्मा में ही आश्रय करता हुआ, अपने आत्मा के अन्दर ही अपनी पूजा अर्चा करता हुआ, अपने आत्मा के अन्दर ही आमोद प्रमोद करता हुआ, अपने अन्दर ही हमेशा अपने आत्मा के साथ खिलौना रूप में खेलता हुआ ज्ञानी का उपयोग क्या वाह्य वस्तु में रमण करेगा? अर्थात् नहीं।

जीवों के अन्दर जो शुभाशुभ भाव हमेशा होते रहते हैं उसको मिटाने का उपाय वतलाते हैं —

ये ये सहाव उत्तं, ते ते अनुभवइ असुह सुह ज्ञानं।
जे के वि ज्ञान सुद्धं, विज्ञानं जानंति अप्प परमप्पं ॥७॥

मानव के जो जो स्वभाव कहे गए हैं वे सब अशुभ ज्ञान या शुभ ज्ञान का अनुभव करते है। जो कोई मानव शुद्ध ज्ञान का धारी है वह विज्ञान या भेद-विज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को निश्चय से परमात्मा रूप जानता है या अनुभव करता है।

जगत् में मानव के साधारण रूप से दो प्रकार के स्वभाव देखने में आते हैं। या तो उनके तीव्र कषाय के उदय से अशुभ ज्ञानोपयोग होता है या उनके मंद कषाय के उदय से शुभ ज्ञानोपयोग होता है। यहां सम्यग्दृष्टी की अपेक्षा नहीं है—मात्र तीव्र कषाय व मन्द कषाय की अपेक्षा विचार है। जगत में मिथ्यादृष्टी के भी कृष्णादि छहों लेश्याएं पाई जाती हैं। क्रोधादि कषायों के द्वारा रंगी हुई मन वचन काय-योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। अशुभतम भाव को कृष्ण, अशुभतर को नील तथा अशुभ भाव को कापोत लेश्या कहते हैं। शुभ भाव को पीत. शुभतर को पद्म तथा शुभतम भाव को शुक्ललेश्या कहते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील. तृष्णा, विषयलम्पटता, जुआ, मदिरापान, मांसाहार, वेश्यागमन, शिकार, पर अपकार आदि के भाव व तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, तीव्र लोभ आदि के भाव अशुभ ज्ञानोपयोग के दृष्टान्त हैं। दया, क्षमा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष. दान, परोपकार, भक्ति, स्वाध्याय, सामायिक, जप, तप, तीर्थयात्रा, व्रत. उपवास, विनय, संयम, वैराग्य आदि के भाव शुभ ज्ञानोपयोग के दृष्टान्त हैं—इन भावों को अशुभ करके मिथ्यादृष्टी भी नौ ग्रैवेयिक तक चले जावे हैं व अशुभ भाव से सातवें नर्क चले जाते हैं, परन्तु इनसे मोक्ष मार्ग नहीं मिलता है। जिन किन्हीं सम्यग्दृष्टी भव्य जीवों के भीतर शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों से मोह नहीं रहता

है, जिनके भीतर शुद्ध आत्मज्ञान का प्रकाश हो गया है वे भेदविज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को कर्मों से लिप्त होने पर भी शुद्ध निश्चयनय के द्वारा परमात्मारूप परम शुद्ध द्रव्य का अनुभव करते हैं। वे ही मानव जगत् में श्रेष्ठ हैं, वे ही रत्नत्रय के धारी हैं। शुद्ध भाव से उन्हे ही परम पद की प्राप्ति होती है। श्री गुण-भद्राचार्य जी आत्मानुशासन में कहते हैं—

> शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयं।
> हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥२३९॥
> तत्राप्याद्यं परित्याज्य शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
> शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥२४०

शुभोपयोग, अशुभोपयोग, पुण्यबन्ध, पापबन्ध, सुख, दुःख, ये छः हैं। उनमें पहले के तीन शुभापयोग, पुण्य व सुख दूसरे तीन की अपेक्षा हित रूप है व करने योग्य है शेष तीन तो अहित रूप ही है तो भी मोक्ष मार्ग मे शुभोपयोग भी त्यागने योग्य है। तब पुण्य व सासारिक सुख स्वयं न रहेगे। जो कोई शुभ भावों को भी छोड़ता है और शुद्ध भाव का अनुभवी होता है वही अन्त में मोक्ष को पाता है। प्रयोजन यह है कि जो परमानन्द का लाभ करना चाहे तो उनको शुद्धोपयोग की रुचि करनी चाहिये, जबतक शुद्ध भाव न हो तबतक शुभोपयोगको अशुभभाव

से बचने के लिए ही आलम्बन जानकर ग्रहण करना चाहिये।

जिन प्राणियों का चित्त कषाय से पुत्र रागद्वेषादि आताप से सतप्तायमान है. जिनकी आत्मा इन्द्रिय विषय रूपी रोगों से घिरा हुआ है, मन इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग से मूर्छित है तथा जिन का शरीर पूर्ण परिश्रम से खेदखिन्न हो रहा है, उन समस्त प्राणियों को उत्तम सम्यग्दर्शन हितकारी जानकर परम पवित्र चारित्र (आचरण) का पालन करना चाहिये. क्योंकि यह रामबाण महौषधि है।

जीव के जब तक रत्नत्रय की पूर्णता नहीं होती, तब तक ही निरन्तर कर्म का बन्ध होता रहता है। इसमें रत्नत्रय का कोई दोष नहीं है, बल्कि रत्नत्रय भाव का विरोधी जो रागांश है, वही बन्ध का कारण है। इस आत्मा में जितने अश में सम्यग्दर्शन है उतने अश तक बन्ध नहीं होता। आत्माको ज्ञाताद्रष्टा समझने से ही सम्यग्दर्शन होता है। देखिये महामण्डलेश्वर राजा श्रेणिक अव्रती थे। उनके त्याग भी नहीं था, परन्तु सम्यग्दर्शन के प्रताप से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया। वे भविष्य कालीन चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर-पद प्राप्त करेंगे। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का निजगुण है तथा पुण्य पाप से रहित है। जिस प्रकार शुद्ध स्वर्ण कीट कालिमा रहित है उसी प्रकार आत्मा रागद्वेप और मोहादि से रहित है। जो रागद्वेप, मोहरूप आत्मा की परिणति हो रही है वह उसका स्वभाव नहीं है वे तो उससे पृथक् हो जाते हैं।

जैसे गन्ने में रस और छिलका पृथक् है, अथवा तिल में तेल तथा खली का भाग पृथक है, उसी प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है।

शरीर तो गन्ने के छिलके के समान है उसके भीतर चैतन्य रस पृथक् है। यदि यह जीव क्षणमात्र को भी ऐसा विचार करे तो भवसागर से तर जावे।

सम्यग्दृष्टी जीव राग-द्वेष को अपना स्वरूप नहीं मानता। वह तो नरक मे निवास करते हुए भी आत्मा को शरीर से पृथक् पुण्य-पाप से परे, राग रहित ज्ञानानन्द स्वरूप समझता है। अनन्त काल व्यतीत हो गया परन्तु इस जीव ने एक क्षण मात्र भी चौथे गुण-स्थान को प्राप्त नहीं किया। सदैव चतुर्गति स्वरूप संसार में जन्म-मरण करता रहा। अनन्त काल के पश्चात् महा दुर्लभ यह मनुष्य भव मिला है। यदि एक क्षण मात्र भी आत्म दर्शन कर उसको आप समझे तो भव-सागर से पार हो जावे, क्योंकि आत्म-ज्ञान से ही मुक्ति होती है।

ज्ञानरूपी आत्मा मन के अगोचर है। इस चैतन्य के साथ रागद्वेषादि की परिणति नहीं है। आत्मा के आश्रय से ही आत्मा का ज्ञान होता है। जैसे विष-पान करने से कभी अमृत की डकार नहीं आ सकती वैसे ही पुण्य-पाप के विकार से आत्मा प्रकट नहीं होने पाता। जब मन का अवलम्बन छोडकर ज्ञान स्वभाव आत्मा को देखे तभी कल्याण होता है। जैसे

बालक मिष्टान्न के टुकड़े के बदले मे सोने का कंकड़ दे देता है, वैसे ही अज्ञानी जीव पुण्य के मधुर मिठास में से आत्म तत्त्व को भूल जाता है। प्रत्येक जीव में परिपूर्ण ज्ञान शक्ति भरी है। उसे जानकर उसमें एकाग्र होने पर निज स्वरूप में केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है। जो पुरुष अन्तरंग स्वभाव का विश्वास करके एकाग्र होता है वह भले ही आठ वर्ष का बालक हो पर उसे ज्ञान प्रकट हो जाता है। रागद्वेष से रहित होकर निज स्वरूप में सम्पूर्ण रूप से जागृत रहना मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। स्वाश्रय स्वभाव से भेद होना ही सम्यक् चारित्र है।

यदि जीव अपने उपयोग को आत्म स्वरूप से बाहर घुमावे तो शुद्ध आत्मा का अनुभव उसी प्रकार चला जाता है जैसे बड़े२ शहरों में जेब के काटने से रुपया, नोट आदि चोरी चले जाते हैं। इसी प्रकार घूमने वाले को सदा जागृत रहना पड़ता है। इसलिये जीव को राग-द्वेष दूर कर स्व-स्वरूप में सदैव जागृत रहना चाहिये। यह सब शुद्धोपयोगकी महिमा है। सन्तजनों को चाहिये कि शुद्धोपयोग को जागृत कर मोह का अभाव करे ताकि श्री अर्हन्त जैसा शुद्ध आत्मानुभव को तथा शुभोपयोग के अंश को छोड़ने के लिये तीव्र पुरुषार्थ करे। क्योंकि हमारे शुद्ध स्वभाव की पूर्ण स्थिरता को शुभोपयोग लूट लेता है। इसलिये प्रमाद योग से दूर रहकर सदा अपने स्वरूप में जागृत रहना चाहिये, यही पुरुषार्थ है।

अगले श्लोक मे कहते हैं कि सपूर्ण सपत्ति मेरे शुद्धात्मा में ही है—

सिरियोकगंतदे सिरि सुखक्कदे सौख्यवनेकतत्त्वदा।
तिरुळदे ताने कट्टकडे सर्व विचारके येंतनल्के स ॥
द्गुरुगळुमैवरिर्दरदरोळ्वरदर्शनवोधवृत्तिगळ्।
परमतपंगळल्लि नेले गोंडुदरिंद पराजितेश्वरा ॥१०७॥

हे अपराजितेश्वर! जो जो मेरा ऐश्वर्य है वह मेरे आत्म स्वरूप ही का ऐश्वर्य है। जितना मेरा सुख है वह मेरे आत्मा ही का सुख है। अनेक तत्त्वो का जो सार है वह सभी निजात्मरूप ही है। संपूण विचारों का अन्तिम सार भी निजात्मरूप ही है। क्योंकि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र तथा श्रेष्ठ तपमें समावेश होने के कारण पंचपरमेष्ठी अपने निजात्मरूपमें ही समाविष्ट हैं ॥१०७॥

107. O, Aparajiteshwar! Whatever prosperity I possess belongs to the nature of my soul. Whatever happiness I have belongs, too, to my soul. It is the essence of all Tatwas. It is the last essential core of all thoughts Five Parmestins (highest benefectors) even are included in the nature of soul, they being describable by the terms-Right belief, knowledge, conduct and penances.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञानी जीव सदा ऐसा विचार करता है कि तीन लोक में जितने ऐश्वर्य हैं वे सभी मेरे आत्मा के अन्दर ही हैं अर्थात् आत्मस्वरूप ही मेरी सच्ची सम्पत्ति है, जितने सुख हैं वे सभी मेरे निजी आत्मस्वरूप हैं, जितने तत्त्व हैं उन सभी तत्त्वों का सार मेरा निजात्मस्वरूप ही है, सम्पूर्ण विचारों का अन्त एक निजात्मरूपी सार ही है । क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा परम तपस्या में समाविष्ट होने के कारण भूत पंच परमेष्ठी, सद्गुरु तथा जिन-वाणी इत्यादि निजात्म स्वरूप में समाविष्ट है । व्यवहार रत्नत्रय में जो देव गुरु शास्त्र के प्रति श्रद्धान व सम्यग्दर्शनादि की अवस्था बतलाई गई है वह सभी केवल निश्चय सम्यग्दर्शन का साधन भूत ही है। इसलिये जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन का ही सहारा लेना चाहिये।

जब शुद्धोपयोग प्राप्त हो जाता है तब दर्शन मोहनीय दूर हो कर सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है शुद्धात्म की स्वानुभूति स्वरूप वीतराग चारित्र का प्रतिबन्धक राग द्वेष दूर हो जाता है और रत्नत्रय, केवल एक शुद्ध ज्ञान स्वभाव आत्मा को प्राप्त हो जाता है यही तो मुक्ति है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् आत्मा स्वरूपानुभव में ही अपने उपयोग को लीन करता है तो उसे पुनः २ रागादि नहीं होता क्योंकि वह जीव अभेद रत्नत्रय रूप परिणत हो गया है। रागद्वेष मोहरूप समस्त विकल्प टूट कर

उसे अभेदत्व हो गया है। यही रत्नत्रय की एकता है। इसीसे निजात्मा को प्राप्त करके केवलज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश में मुक्ति पा जाता है। अनन्त काल में निजात्मा के स्वभाव मे लीनता के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष मार्ग नहीं है, शुद्ध स्वभावी वस्तु के आश्रय से ही मोक्ष मार्ग है।

आत्मा पर से भिन्न ज्ञान स्वरूप और पूर्ण सुख स्वरूप है। जब आत्म स्वरूपकी ऐसी महिमा ज्ञान-गुण में आती है तब ज्ञान राजा अपने स्वभाव मे सुस्थिर हो कर परम शान्ति रस का पान करते है। यही स्वानुभव का धर्म है। आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। यदि कोई जीव स्वलक्ष्य से सम्यग्ज्ञान प्रकट किये विना कषाय परिणामों को मन्द करता है तो वह पापानु-बन्धी पुण्य का ही बन्ध करता है। वह मिथ्यात्व से अनन्त ससार को ही बढाता है। अतएव ज्ञानचारित्र और तप को उज्ज्वल करने वाली सम्यगाराधना, प्रधान आराधना है। हे भव्य जीवों! अनन्तानन्त दु.ख रूप अनादि ससार से निवृत्ति पाने के अर्थ परम पवित्र कल्याण स्वरूप सम्यगाराधना को भक्ति पूर्वक अंगीकार करो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार कल्याण का बीज और अपार ससार-समुद्र से पार करने के लिए श्रेष्ठ जहाज है। यह समस्त तीर्थों में उत्तम तीर्थ तथा पापरूपी वृक्ष जाल को काटने के लिए तीक्ष्ण कुठार है। इससे आत्मा की शुद्ध अवस्था उपलब्ध होती है।

वही पुरुप मोक्ष मार्ग में गमन कर सकता है जिसके हृदय कमल मे सम्यग्दर्शन अंकित है। वही नृसिंह है तथा राग-द्वेप हर्प विपाद से भिन्न मुक्ति का पात्र है। मुनि पद में सम्यग्दर्शन सहित व्यवहार रत्नत्रय से अनुराग आत्मा के शुद्धोपयोग रूप उत्तम चारित्र को रोकने वाला है। इसलिए उस राग रस को पृथक् कर आत्मा की निज निधि निश्चय रत्नत्रय रूप अनुभूति मे लवलीन होना चाहिये। यही मोक्ष मार्ग है। समस्त अरहन्त तीर्थंकर इसी निश्चय रत्नत्रय मोक्ष मार्ग से मुक्त हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य मे भी होंगे। किसी भी काल मे मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता, अतएव रागद्वेप मोह को मन्दकर निज शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के लिए अपने स्वरूप की साव-धानी रखनी चाहिये। अत करण में स्थिरता रूप सावधानी से यह जीव सम्पूर्ण शुद्ध दशा को प्रकट होने में कारण भूत केवल-ज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह सब क्षायिक सम्यग्दर्शन सहित क्षपक श्रेणी का माहात्म्य है।

यदि जीव सम्पूर्ण राग द्वेष और मोह न छोड़ सके तो सम्य-ग्दर्शनको अविच्छिन्न धारा रूप से स्थिर रखकर एक भव में स्वर्ग सम्पदा सुख भोगकर पश्चात् मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है। यही परम पुरुषार्थ है। जितने अरहन्त हुए और होंगे वे सब सम्यग्-ज्ञान आत्मा के द्रव्य गुण पर्याय का निर्णय कर शुद्ध अभेद आत्मा की प्रतीत के सहित उसी में रत होकर मोह का क्षय

करके केवलज्ञान प्रकट करते हैं। जगत् के प्राणियों को दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश देकर निवृत्त होते हैं। आत्मा टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वभाव रूप है। यही वस्तु का स्वभाव तथा स्वसमय है। समय उसे कहते हैं जो जानने और बदलने की क्रिया एक साथ करे। जब आत्मा का आत्मा में सीधा झुकाव हो जाता है तभी भेद विज्ञान ज्योति प्रकट होती है और तभी जीव पुरुषार्थ कर सकता है। अपने को सम्पूर्ण पर पदार्थों से भिन्न जानने लगता है मैं मन वचन कायसे पुण्य पाप रूप नहीं हूँ। सब से निराला रत्नत्रय युक्त, चैतन्य स्वरूप अमूर्तिक हूँ। अन्तरग में यह दृढता आ जाती है कि मेरा हित मुझ से ही होगा अन्य से नहीं। ऐसा विचारने से ही स्वभाव की स्थिरता होती है तथा साम्यभाव छा जाता है। यह मर्म समझने पर भेद विज्ञान हो जाता है। मैं राग द्वेष पुद्गल परमाणुओं से भिन्न पूर्ण परमात्मा हूँ ऐसी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन, ऐसा ज्ञान ही सम्यज्ञान और ऐसे दर्शन ज्ञान-से जानने स्वरूप में स्थिरता रूप जो क्रिया उत्पन्न होती है वही सम्यक् चारित्र है।

भेद—विज्ञान स्वरूप के द्वारा एक वार भी सत्य श्रद्धान करने से समस्त पर—भावों से मुक्त हो जाता है तथा स्वतन्त्र स्व स्वभाव को जान लेता है। संसार मे जन्म मरण करने का अभाव कर देता है जीव अनादि काल से मोह तथा अज्ञान के वश हो कदली स्तम्भ के समान संसार को अपना मान कर निज को भूल

रहा है जिससे अनन्त ससार बढ़ रहा है इसको रत्नत्रय के द्वारा त्यागने से सहज ही में मुक्ति प्राप्त हो जाती है। आत्मा अन्य द्रव्य के साथ एक क्षेत्र से रहने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता और न अन्य द्रव्य को ग्रहण करता है। इसलिए एकावतारी होने का उपाय वर्तमान काल में भी है और वही स्वसमय है। उसे स्वयं अनुभव किये बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जैसे—घृत की प्रशसा सुन अथवा घृत के खाने वाले को देखकर घृत का स्वाद नहीं आ सकता जब तक कि स्वयं घृत का ग्रास मुंह में डाल कर उसके स्वाद का अनुभव न करे। ठीक इसी भांति अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप आत्मा की कथा सुनने या उस आत्मा के अनुभव करनेवाले को देखने मात्र से कोई लाभ नहीं है, किन्तु उसको जान कर स्वरूप मे लीन होने से स्वय अनुभव करे तभी आनन्द, घन निज रस के स्वाद का अनुभव प्राप्त हो सकता है।

वहुवचनंगळेके भुवनत्रयसारमिदात्मतत्त्व मु।
त्सहपरनागितानदनं भाविसुतिर्दोडे मुक्तियय्दुगु ॥
सहजमिदोंदे इन्तुळिदुवेल्लवव व्यवहारवात्मनं।
वहिसि भवगळोळ्परिसुतिपुंवला अपराजितेश्वरा! ॥१०८॥

हे अपराजितेश्वर! अधिक क्या कहे? यह आत्मतत्त्व तीन लोक में सारभूत है। यदि भव्य जीव अपने मन में

उत्साह पूर्वक निजतत्त्व को निरन्तर भाता रहेगा तो अवश्य ही निर्वाण का पात्र होगा। यही वास्तविक में यथार्थ कर्त्तव्य कर्म है। अन्य कर्मों से जीव को कोई लाभ नहीं है अन्य वस्तु से जीव का क्या कोई प्रयोजन है ? जिसका एकान्त व्यवहार कर्म है वह चतुर्गतिमें परिभ्रमण नहीं कराता है क्या ? ॥१०८॥

108. O, Aparajiteshwar ! What to say more ? 'This soul is the essential in all thethree worlds', If the promising soul contemplates this always zealously, then, he shall surely become fit for liberation This is really the true duty of a Jiva. Other things do not benefit Jiva. They are purposeless for him. Do not the onesided worldly acts (where the spiritual side of life has been lost sight of) lead to the round of four gaties ?

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि अधिक मैं क्या कहूं ? यह जो आत्म तत्त्व है वह तीन लोक में सार भूत है। ज्ञानी जीव को अपने अन्दर उत्साह पूर्वक उसी तत्त्व की भावना करने से मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होगी क्योंकि यही एक यथार्थ तत्त्व है और अन्य भावना का क्या प्रयोजन ? पर ऐसा न करके अज्ञानी जीव केवल एक व्यवहार ही का सदा सहारा लेकर चारों गतियों में भ्रमण करने के अलावा और कुछ नहीं करता।

व्यवहार नय का अवलम्बन जब तक निश्चय रत्नत्रय ठीक २ अपने अन्दर प्रतीत न हो जाय तभी तक करना चाहिए। केवल व्यवहार को मूढ़ जीव अपना धर्म समझकर उसी में रत रहता है, पर उसको न तो आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है और न वह ससार बधन से ही छूटता है। जैसे मकड़ी अपने मुख से निकले हुए तंतु अर्थात् धागे से परको भी बांधती है और आप भी बधकर अपने प्राण को खो देती है उसी तरह यह मूर्ख जीव आत्मा केवल व्यवहार धर्म का आराधन करके पुण्य बंधकर लेता है और उसी के द्वारा अपने पांचों इन्द्रियों का पोषण कर जन्म और मरणके आधीन रहता है।

कोई व्यवहार का लोपकर केवल निश्चय नय का अवलम्बन करके कर्म का बंध कर हमेशा चारों गतियों में भ्रमण करता है। इसलिये भगवान् अरहन्त देव ने दोनों को मिथ्यादृष्टी कहा है ऐसे जीव ससार से कभी मुक्त नहीं हो सकते है।

परमात्म प्रकाश में योगीन्द्र देव ने कहा भी है कि —

जो णवि मण्णइ जीउसमुपुण्णु वि पाउविदोइ।
सोचिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहि हिडंइ लोई ॥५५॥

यद्यपि अशुद्ध अर्थात् असत्य व्यवहार नय से द्रव्य पुण्य और द्रव्य पाप ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं और अशुद्ध निश्चय नय से भाव पुण्य और भाव पाप ये दोनों भी आपस में भिन्न

हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय से पुण्य पाप रहित शुद्धात्मा से दोनों ही भिन्न वध रूप होने के कारण समान ही है। जैसे बबूल की लकड़ी का बोझा और चन्दन की लकड़ी का बोझा दोनों बोझा की दृष्टि से समान हैं केवल अन्तर इतना ही है कि चन्दन में सुगन्धि है पर बबूल में नहीं है। इसी तरह पुण्य और पाप में अन्तर यही है कि पाप से नरक होता है और पुण्य से देवगति का वध करके चार दिन इन्द्रियजन्य सुख को इच्छापूर्वक भोगकर वहां से फिर मनुष्य गति में जाकर पुण्य के द्वारा मिले हुए इन्द्रिय जन्य भोगों मे फसकर जन्म मरण के आधीन होकर दुःख उठाया करता है। इसलिये पाप और पुण्य दोनों वध के लिये कारण हैं।

यह कथन सुनकर कोई शिष्य प्रश्न करता है कि:—

यदि ऐसा ही है तो कितने ही परमात्मवादी पुरुष पुण्य और पाप को समान मानकर स्वच्छन्द रहते हैं उनको तुम दोष क्यों देते हो ?

समाधान.—योगीन्द्र देव कहते हैं कि जो ज्ञानी शुद्धानुभूति स्वरूप तीन गुप्ति, से गुप्त वीतराग निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान में मग्न होकर पुण्य पाप को समान जानते हैं उनका तो जानना ठीक है, परन्तु जो मूढ परम समाधि को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था में दान पूजा आदि शुभ क्रिया को और मुनिपद में छः आवश्यक कर्म को भी छोड़ देते हैं वे किधर

के भी नहीं रह जाते क्योंकि उनके दोनों स्थान भ्रष्ट हो जाते हैं। न तो वे यती ही बन पाते और न श्रावक ही। इसलिये निंदा के योग्य ही हैं। अर्थात् वे निन्दा के पात्र और दोषी ही हैं।

आगे के श्लोक में कहते हैं कि जिनके आत्मा में तप शास्त्र तथा तत्त्वादि ने प्रवेश किया है उन्हे अष्ट कर्मों का नाश करने में देरी नहीं है।

आव तपंगळुं श्रुतमुमाचारणंगळुमक्के तन्न चि- ।
द्भावद् नोटदोळ्पुदिदुवंदोडे निर्जरेमाळ्कुमष्टक- ॥
र्मावळियं वळिक्के शिवमप्पुदु ताने यदल्लदिर्दोडा- ।
जीवके पुण्यबंधवने माळ्पुदला अपराजितेश्वरा ! ॥१०६॥

हे अपराजितेश्वर ! दर्शन, तप, ज्ञान आत्मपरणति मे आदि जब प्रविष्ट हो जाते हैं तब आत्मा के साथ लगे हुये कर्म अवश्य नष्ट हो जाते हैं और आत्मा को निर्वाण पद प्राप्त हो जाता है। परन्तु यदि ये तप ज्ञानादि बाह्य रूप ही होते है और आत्म स्वरूप के अदर प्रविष्ट नहीं होते हैं तो ये ही ससार मे चतुर्गति के कारण नहीं होते हैं क्या ? तथा शुभ गति के कारण नहीं होते हैं क्या ? अवश्य होते हैं ॥१०६॥

109. O, Aparajiteshwar ! When these belief, knowledge and conduct (right) get inside the soul, the karmas sticking to the soul get des-

troyed and the soul attains liberation. But when these remain external and do not get inside the soul, then, do not these become the cause of auspicious gaties and four gaties only ?

विवेचन —ग्रथकार कहते हैं कि जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ तप, शास्त्र, आचरण, गुप्ति, समिति, वारह अनुप्रेक्षा, दशधम,सात तत्त्व. नौ पदार्थ, बाईस परीषह, शास्त्र चिंतवन और भगवान की स्तुति स्तोत्र पूजा अर्चा इत्यादि जो भी क्रिया के आचरण हैं वे सभी मेरे आत्म स्वरूप की दृष्टि में यदि प्रवेश हो जायँ तो अनादि काल से मेरे आत्मा के साथ जकड़े हुए जो कर्म समूह हैं, उनकी निर्जरा होकर मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी, परन्तु यदि ऊपर कहे हुए तत्त्वाचरण तप शास्त्र इत्यादि आत्मस्वरूप में प्रवेश नहीं होंगे तो वे तप इत्यादि जितनी भी क्रियायें हैं वे सभी पुण्य कर्म के कारण होकर वन्ध ही करेंगी। इससे मोक्ष की प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती और यह पुण्य कर्मका वन्ध कराके इस जीवात्माको हमेशा शुभ और अशुभ पर परिणति में ही परिणमन कराके अन्त मे चारों गतियों मे भ्रमण का कारण वन जाता है।

कहा भी है कि:—

पुण्य पाप फल माहिं हरख विलखो मत भाई।
यह पुद्गल पर्याय उपजि विनसै थिर नाई॥

लाख बातकी बात यह निश्चय उर लावो।
तोरि सकल जगद्वन्द फंद, निज आतम ध्यावो ॥

तात्पर्य यह है कि—इस जीवात्मा ने लाखों बार पुण्य और पाप का अनुभव करते हुए अनेक योनियों में जन्म और मरण किया, कितने बार एक छोटे अणु से लेकर एक एक परमाणु मात्र लोकाकाश के बराबर पुद्गल पर्याय धारण करके छोड़ दिया, कितने बार स्वर्गमें गया, कितने बार नरकमें गया, चक्रवर्ती पद कितने बार प्राप्त करके छोड़ दिया, इसका कोई अन्त नहीं रहा, संसार के प्रत्येक पदार्थ का अनुभव किया अनेक, कला, चातुर्य, शिल्प, तर्क, शास्त्र, गणित, वैद्यक, ज्योतिष और काव्य इत्यादि विद्याओंको कंठस्थ कर लिया, अनेक परीक्षा पास करके सार्टिफिकेट भी प्राप्त कर लिया ऐसी लौकिक विद्या को अनेक बार प्राप्त किया तप भी किया, व्रत भी किया, भगवान की पूजा आठों द्रव्यों से भक्ति के साथ करके और पुण्य का बन्ध करके देवपद भी प्राप्त किया तथा अनेक प्रकार भोगोपभोग किया। तत्पश्चात् वहां की देव पर्याय पूर्ण करके उत्तम कुलमें आकर चक्रवर्ती पद पाकर षट् खड पृथ्वी के ऐश्वर्य का भी मनमाने अनुभव किया और महान् योद्धाओं को स्वाधीन करलिया, शत्रुओं को भी अपने बाहुबल से हस्तगत किया; परन्तु अनादि कालसे पानी और दूध के समान एक क्षेत्रावगाहरूपमें रहकर तू स्व को पर मानकर पर को ही अपनाया तथा परमें ही परिणमन किया, यह कितने आश्चर्य की

बात है। स्व पर के ज्ञानके बिना तेरा सारा प्रयत्न अनादि काल से व्यर्थ ही गया।

और भी कहा है.—

नर के संग सुआ हरि बोले हरि प्रताप नहिं जाने।
जो इक बार उड़ि जाय जंगलको, तो हरि सुरत न जाने ॥१॥
बिन जाने बिन देखे द्रव्यके, व्रत किये क्या होई।
धनके कहे यदि धनिक हो जावे, निर्धन रहे न कोई ॥२॥
कहत चन्द्र अब चेतो जिवडा, समय करे नर सोई।
काल बली से सब कोई हारे, बांधे यमपुर जाई ॥३॥

दोहा—मनुष्य जन्म दुर्लभ है जगमे, होय न दूजी बार।
पका फल जो गिर गया, फेर न लागे डार॥
जागो रे जिन जागना, अब जागन की बार।
फेर कि जागो नानका, जब सोऊँ पांव पसार॥

जैसे किसी मनुष्य के हाथ रहने तक तोता उनके साथ २ हरि हरि रटता रहता है, परन्तु हरि के महत्त्व को नहीं जानता। जब वह जगल में उड़ जाता है तब रटे हुए नाम की याद तक नहीं करता। उसी प्रकार रुचिपूर्वक स्व स्वरूप का ज्ञान तथा श्रद्धान के बिना व्रत, नियम उपवास आदि सभी व्यर्थ हो जाते हैं है। जैसे धनवान को देखकर धनी धनी कहने से गरीब धनवान नहीं हो सकता, उसी प्रकार केवल भगवान का नाम बिना रुचि के

रटने से कभी भगवान नहीं बन सकता। इसलिए हे जीवात्मन्! अब तू चेत, सोकर जीवनको यौंही खो दिया। काल रूपी बली आकर जब तुझे बाँधकर यमपुर ले जायगा तब उस समय तू पछतायेगा तो तेरा रुदन कौन सुनेगा? चेतरे जीव तू चेत।

मनुष्य भव अत्यन्त दुर्लभ है, दूसरे बार इसका मिलना अत्यन्त कठिन है, जैसे पका हुआ फल यदि जमीन पर गिर जाय तो फिर हाथ लगना बहुत मुश्किल है इसी प्रकार मनुष्य जीवन यदि बाह्य पर पदार्थों के विषय भोगो में ही समाप्त कर दिया जाय तो देहावसान काल में उसका हाथ लगना नितान्त कठिन है। इसलिये हे आत्मन्! अब तो तु जाग। हे दुनिया के मायामयी नींद मे सोने वाले जीवात्मन्! जिनको जागकर जल्दी अपने निजी स्थान मे पहुँचना है वे सभी जागो, फिर ऐसी नर रत्न रूपी रेलगाड़ी मिलना बहुत मुश्किल है। अगर तू यहीं पडा रहेगा तो काल आकर तेरा पाँव पकड़ घसीट कर खींचेगा तब पाँव पसार कर दुनियाँसे खाली हाथ तुझे लाचार होकर जाना पड़ेगा।

अब निज को पहचानो.—

एक दृष्टान्त इस प्रकार है कि एक आदमी बाजार से कपडे का थान लाया। उसके नो वर्षीय पुत्रने उससे पूछा–पिताजी! यह थान कितने हाथ का है? पिता ने उत्तर दिया कि थान पचास हाथ का है। लडके ने अपने हाथ से नाप कर कहा–पिताजी! यह तो ७५

हाथ का है, इसलिये आपकी बात असत्य है। तब पिताजी ने कहा कि हमारे लेन देन में तेरे हाथ का नाप नहीं चलता, तब लड़का कहता है कि क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ? मेरा हाथ क्यों नहीं चलता। ठीक उसी प्रकार संसारी जीव बाह्य दृष्टि वाले सम्यक्त्व की पहिचान न होने से अज्ञानी की बुद्धि में से उत्पन्न कुयुक्ति, अतीन्द्रिय आत्मभाव के नापने में काम नहीं आती। धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी का हृदय अज्ञानी से नहीं नापा जा सकता, इसलिये ज्ञानी को पहिचानने के लिए पहले उस मोक्षमार्गका परिचय करो। रुचि बढ़ाओ विशाल बुद्धि, मध्यस्थता, सरलता व जितेन्द्रियता इत्यादि गुण प्राप्त करो। जैन आगम को समझो। तभी उस अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त कर सकोगे।

आगे के श्लोक में ग्रन्थकार यह कहते हैं कि जब तक व्रत व तप का प्रवेश आत्मा के अन्दर रुचिपूर्वक नहीं होगा, तब तक सभी कार्य बाह्य होकर बन्ध के कारण कहलाते हैं।

भव्यनभव्यनीर्वरुमुदुग्रतपोव्रतशास्त्रदोळ्समा ।
नव्यवसायरप्परदरिं सुरसंपदमप्पुदल्लदे ॥
अव्ययसिद्धियागदहु तन्नय चित्तवनात्मरूपदोळ् ।
भव्यतपस्त्रि योजिसिदोडप्पुदला अपराजितेश्वरा ! ॥११०॥

हे अपराजितेश्वर! भव्य और अभव्य ये दोनों ही तप में, व्रतों में और शास्त्रों में समान होते है। उस से देव गति की

सपत्ति जरूर प्राप्त होती है, परन्तु मोक्ष की सिद्धि नहीं होती है। वह सिद्धि जो भव्य हैं और जो तप के द्वारा अपने इन्द्रियों को तथा मन को आधीन कर अपने मन को आत्म स्वरूप में लीन करते हैं उन्हें ही होती है ॥ ११० ॥

110. O, Aparajiteshwar! Promising and un-promising, both souls are equal in observing penances and vows and in studying scriptures. They are equal in attaining angel lives too, but not in attaining liberation This is attained only by a promising one who absorbs himself in the nature of soul, controlling the senses and mind by penances

विवेचन—ग्रन्थकार कहते है कि—तपश्चर्या में, शास्त्र मे, व्रत मे व नियम मे भव्य और अभव्य दोनों ही समान रहते हैं, इससे दोनों को देवपद की प्राप्ति होती है, परन्तु मोक्ष पद की प्राप्ति केवल भव्य को ही होती है, अभव्य को नहीं। मोक्ष सिद्धि की इच्छा करने वाले भव्य अगर अपने मन को आत्म स्वरूप में लगाकर एकाग्रता पूर्वक भावना भावेंगे तो क्या आत्मसिद्धि की प्राप्ति होने में देर है ?

परन्तु अन्त करण की शुद्धि बिना तथा लोभ कषाय के अभाव किये बिना मन की शुद्धि कभी नहीं हो सकती। जैसे कि कहा है—

नानैकक्षणसन्निभैकजनने वाऽऽजं ! विनान्तर्बहि-
र्ग्रन्थं सर्वमिमं विहाय तपसि क्षान्तः कषायोज्झितः ॥
यो वर्तेत मुनिः स चापरिमितं कालं प्रयासं विना ।
स्वर्गे सौख्यकरं सुखंऽनुभवेद्वुद्ध्यैव कुर्यात्तपः ॥६८॥

अत्यन्त चचल नश्वर इस अन्तरग और बहिरग परिग्रह को त्याग कर जो व्यक्ति उत्तम क्षमादि गुणों को धारण कर, कषायों का परित्याग कर तपश्चर्या में लीन रहता है, वह मुनिराज अपरिमित काल तक स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है । इसलिये जिनको संसार से पार होना है उन ज्ञानी भव्य जीवों को शुद्ध मन से तपश्चरण कर निजात्म सुख की प्राप्ति कर लेनी चाहिये ।

स्वानुभव के विना शुद्धात्म का लाभ नहीं है । तत्त्वसार मे कहा भी है कि—

झाणट्ठिओ हु जोई जईणोसम्वेवणियय अप्पाणं ।
तोण लहई तंसुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं ॥ ४६ ॥

यहा पर यथार्थ वात बताई है कि यथार्थ आत्मध्यान उसे ही समझना चाहिये जहाँ आप आप मे लय होकर अपने आत्मा का अनुभव करे, आप ही के स्वाभाविक आनन्द रस का पान करे। उसी को अपने शुद्धात्मा का स्वभाव मिट गया ऐसा कहा जायगा क्योंकि वह सर्व पर से छूटा हुआ अपने ही निर्विकल्प

अभेद स्वरूप में तन्मय है। वही बड़ा भारी पुण्यशाली निकट भव्य जीव है जो स्वानुभव रूपी रत्नत्रय की एकताको पा लेता है।

जो कोई ध्यान करे परन्तु उस ध्यान से अपने निज ध्येय पर न आवे, मन्त्रों पर चित्त रोके या पृथ्वी आदि धारणाओं को करे, व पाच परमेष्ठी का या जिन प्रतिमा का ध्यान करे, या सिद्ध का स्वरूप ध्यावे, उन सब साधनों में ही उलझा रहे, परन्तु अपने ही शुद्ध स्वतत्त्व पर न पहुंचे तो उसे भाग्यहीन ही कहा जायेगा क्योंकि मोक्ष का साधक मुख्य एक वीतराग स्वसंवेदन भाव या शुद्धोपयोग ही है।

द्रव्य लिंगी मुनि ध्यान का बहुत ही अभ्यास करते हैं। परन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय से अपने शुद्धात्मा की प्रतीनि रूप सम्यग्दर्शन को न पाते हुए स्वानुभव के सिंहासन पर नहीं पहुँच सकते हैं, वे भाव में बहिरात्मा ही रहते हैं। यद्यपि मद कषाय से ग्रैवेयिक तक जाकर अहमिंद्र होनेका पुण्य बाध लेते हैं तथापि भवसागर से पार होने का साधन स्वानुभव रूपी जहाज को न पाकर वे मोक्ष लाभ नहीं कर सकते।

तत्त्वानुशासन में कहा है—

समाधिस्थेन यद्यात्मा वोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्यतद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव सः ॥१६९॥
तदेवानुभवश्चाप्येकाग्रय परमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥१७०॥

तदा च परमेकाग्रयाद्वहिर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥१७१॥

भावार्थ—जो कोई समाधि में स्थित हो परन्तु ज्ञान स्वरूपी अपने आत्मा का अनुभव न करे तो उसके आत्म-ध्यान है ही नहीं,वह मूर्छावान है,पर भाव में लीन है,वह मोही ही है, पर जो आत्मा का ही अनुभव करता है, वह उत्तम एकाग्रता को पा लेता है, उसी समय स्वाधीन अतीन्द्रिय वचन अगोचर परमानन्द का भी स्वाद पाता है तब वह ऐसी उत्तम एकाग्रता का लाभ करता है कि बाहरी पदार्थों के रहते हुये भी उसके भीतर केवल अपने एक आत्मा को अपने में अनुभव करते हुए और कोई पदार्थ नहीं झलकता है उसे एक अद्वैत निज भाव का ही स्वाद आता है। बहिरात्मा तत्त्व को नहीं पा सकता।

देह सुहे पडिबद्धो जेणाय सो तेण लहइ ण हु सुद्धं ।
तच्चं विहाररहियं णिच्चं चिय झायमाणो हु ॥४७॥

द्रव्य लिंगी ग्यारह अग नौ पूर्व तक के पाठी मुनि दूसरे भाव लिंगी के समान सब जप तप ध्यान करते हैं फिर भी मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व भाव को नहीं पाते हुये शुद्धात्मा का अनुभव नहीं कर पाते है। इसका कारण यह है कि उनकी श्रद्धा अतीन्द्रिय सुख में नहीं हो पाती है। इन्द्रिय सुख में उनकी रुचि बनी रहती है। मोक्ष मे भी उसी

जाति का अनन्त सुख होगा ऐसी कल्पना रहती है। इन्द्रिय सुख से विपरीत ही सच्चा निराकुल सुख है ऐसी श्रद्धा स्वानुभव रूप नहीं हो पाती है इसलिये मन परभावों से मुक्त होकर अपने शुद्धात्मा की ओर नहीं ठहरता।

निर्विकल्प शुद्ध तत्त्व का अनुभव पाने के लिये सम्यग्दर्शन की विशेष आवश्यकता है जबतक सम्यक्त्वका बाधक कर्मका नाश नहीं होगा तबतक सम्यक्त्वका प्रकाश होनहीं सकता। सम्यक्त्वके बिना स्वरूपाचरण या स्वानुभव हो नहीं सकता। साधकको शरीर सबन्धी सर्व विषयों से पूर्ण वैराग्यवान होना चाहिये। पाचों इन्द्रियों का विजेता होना चाहिये। शरीर की रक्षा मात्र करनी है क्योंकि वह सयम का बाहरी साधक है, ऐसा भाव रख के, प्राप्त भिक्षा में सतोष करने वाले, शरीर के सुख पाने के भाव को दूर रखने वाले, परीषहों के सहन करने वाले संयमी साधु ही पूर्ण वैराग्य व आत्मज्ञान के प्रभाव से ऐसा धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान कर पाते हैं जिससे शुद्धोपयोग मे स्थिरता देर तक रह सके।

मनेयोळ् पोळ्द् तन्नोडवेयं तेगेदुण्बोडे पुण्य मिल्लदं।
धनिकर पोदिं वेडिदोडे ईवरे इच्चोडुणल्के साल्वने ॥
तनुविनोळिर्द् तन्ननुरे काण्बोडे भव्यतेयिल्लदिर्दवं।
मुनिमतवेन्दिदु शिवनेय्दुवने अपराजितेश्वरा ! ॥१११॥

हे अपराजितेश्वर ! अपने घर में ही गाड़ी हुई अपनी निधि या द्रव्य को उसमें से निकाल कर उपभोग करने का पुण्य यदि नहीं किया है तो उसे भोग नहीं सकता। पुण्य हीन मनुष्य किसी ऐश्वर्यवान के पास जाकर उन के पास यदि ऐश्वर्य या पुण्य मांगे तो क्या उसे दे देते हैं ? कदाचित् वह पुण्य भी यदि उसको दे दिया जाय तो पुण्य हीन मनुष्य उस पुण्य का अनुभव करने में समर्थ होगा क्या ? अर्थात् वह अभव्य मोक्ष की प्राप्ति करेगा क्या ? ॥१११॥

111. O, Aparajiteshwar ! To dig out the hidden property in one's own house and use it, is no sign of punya (auspicious karmas). No one can get Punya or prosperity by begging (and even if it comes to a person devoid of Punya, he can not enjoy it) So too, is not it true that who is not a promising soul can not attain liberation in any way ?

विवेचन—ग्रथकार कहते हैं कि—जैसे घरमें गाड़ कर रक्खी हुई निधि को निकालकर भी पुण्य हीन मनुष्य उसे भोग नहीं सकता उसी प्रकार अभव्य जीव सारे साधन रहने पर भी मोक्ष पद नहीं प्राप्त कर सकता। पुण्य हीन मनुष्य को धन देने पर भी वह उसके भोग ने में समर्थ होगा क्या ? कभी नहीं। इसी तरह जिनके भव्यत्व गुण नहीं है वह अपने अन्दर अनादि

काल से स्थित अपने आत्मस्वरूप को देखने में समर्थ होगा क्या ? अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर लेगा क्या ? कभी नहीं।

यह अज्ञानी जीव पर में रमण करता हुआ पर को प्राप्त हो गया है। परके निमित्त से ही सुख दुख का भोगी बन जाता है. शुभाशुभ को उत्पन्न करने वाला पाप और पुण्य है, यह पुण्य पाप बधन के लिये कारण हैं। ऐसा होने पर भी वह बधन आत्माको कभी नहीं बाधता परन्तु अज्ञानी अपने स्वस्वरूप से च्युत होकर पर रूप को अपनाता है इसलिये सुख दु.ख को प्राप्त होता है और परके द्वारा ही रागी या द्वेषी बनता है। रागको उत्पन्न करने वाली पांचों इन्द्रियों द्वारा ही लोभ मान माया को प्राप्त होता है इसी के कारण भय आदि सज्ञायें उत्पन्न होती रहती हैं गोम्मटसार में कहा भी है कि:—

संज्ञाओं का अंतर्भाव—

माया लोहे रदि पुव्वाहारं कोहमाणगम्मि भयं।
वेदे मेहुणसण्णा लोहम्हि परिग्गहे सण्णा ॥६॥

जब यह आत्मा इन्द्रिय वासना मे रति करता है तब रति पूर्वक आहार अर्थात् आहार सज्ञा राग विशेप होने से राग का स्वरूप ही बन जाता है और माया तथा लोभ कषाय दोनों ही स्वरूपवान हैं, इस लिये स्वरूपवत्सम्बन्ध की अपेक्षा से माया और लोभ कपाय में आहार संज्ञा का अन्तर्भाव होता है। इसी

प्रकार क्रोध तथा मान कषाय में भय संज्ञा का अंतर्भाव होता है। कार्य कारण सम्बन्ध की अपेक्षा से वेद कषाय में मैथुन संज्ञा और लोभ कषाय में परिग्रह संज्ञा का अंतर्भाव होता है। क्योंकि वेद कषाय तथा लोभ कषाय कारण है और मैथुन संज्ञा तथा परिग्रह संज्ञा कार्य है। इस प्रकार यह स्वयं ही शुभ और अशुभ भाव करके कर्तापने को प्राप्त होता है। तब यह अज्ञानी जीव हमेशा इस कर्मके निमित्त सुख दुःख का अनुभव करते हुए अपने को रागी द्वेषी कहलाता है। परन्तु अज्ञान द्वारा आत्मा के साथ बंधे हुए ज्ञानावर्णादि आठों कर्म ज्ञानी के लिए बंध का कारण नहीं होते। ऊपर कही हुई रागपरिणति अज्ञानीके लिये पर भाव है परन्तु ज्ञानी के लिये नहीं है। जैसे परमात्म प्रकाश में कहा भी है—

कम्महि जासु जनन्तहि विणिवुणिउ कज्जु सभावि।
कि यिण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ॥४८॥

यद्यपि व्यवहारनय से शुद्धात्म स्वरूप के रोकने वाले ज्ञानावरणादि कर्म अपने अपने कार्य को करते हैं अर्थात् ज्ञानावरण तो ज्ञान को ढकता है, दर्शनावरण कर्म दर्शन को आच्छादित करता है, वेदनीय साता असाता उत्पन्न करके अतीन्द्रिय सुख घातता है, मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्र को रोकता है, आयु कर्म स्थिति के प्रमाण शरीर मे रखता है, अविनाशी भाव को

प्रकट नहीं होने देता, नाम कर्म नाना प्रकार गति जाति शरीरादि को उपजाता है, गोत्र कर्म ऊँच नीच गोत्र में डाल देता है और अन्तराय कर्म अनन्तवीर्य को प्रकट नहीं होने देता। इस प्रकार ये कार्य को करते हैं तो भी शुद्ध निश्चय नय से आत्मा के अनन्त ज्ञानादि स्वरूप का इन कार्यों ने न तो नाश किया और न नया उत्पन्न ही किया, आत्मा तो जैसा है वैसा ही है ऐसा अखण्ड परमात्मा का तू वीतराग निर्विकल्प समाधि से स्थिर हो कर ध्यान कर, यहां पर तात्पर्य यह है कि जो जीव पदार्थ कर्मों से न हरा गया, न उपजा, किसी दूसरी तरह नहीं किया गया, वही चिदानन्द स्वरूप उपादेय है।

इसके बाद जो आत्मा कर्मों से अनादि काल का बधा हुआ है तो भी कर्म रूप नहीं होता और कर्म भी आत्म स्वरूप नहीं होते, आत्मा चैतन्य है, कर्म जड है, ऐसा जानकर उस परमात्मा का तू ध्यानकर ऐसा कहते हैं जो आत्मा अपने शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति के अभाव से उत्पन्न किये ज्ञानावरणादि शुभ अशुभ कर्मों से व्यवहार नय से बधा हुआ है, तो भी शुद्ध निश्चयनय से कर्म रूप नहीं है, अर्थात् केवल ज्ञानादि अनन्त गुण स्वरूप अपने स्वरूप को छोड़कर कर्म रूप नहीं परिणमता और ये ज्ञाना-वरणादि द्रव्य—भाव रूप कर्म भी आत्म स्वरूप नहीं परिणमते, अर्थात् अपने जड़ रूप पुद्गलपने को छोड़कर चैतन्य रूप नहीं होते यह निश्चय है कि जीव तो अजीव नहीं होता और

अजीव जीव नहीं होता, ऐसी अनादिकाल की मर्यादा है। इस लिये कर्मों से भिन्न ज्ञान दर्शनमयी सब तरह उपादेय रूप परमात्मा का तुम देह रागादि परिणति रूप बहिरात्मपने को छोड़ कर शुद्धात्म परिणति की भावना रूप अन्तरात्मा में स्थिर होकर चिन्तन करो, उसी का अनुभव करो, यह तात्पर्य हुआ।

अपने निज सिद्धात्मा के विपरीत अज्ञानी जीव पर वस्तु मे रमण करके हमेशा दु.ख ही पाता है। जैसे मृग की नाभि मे शुद्ध अमूल्य कस्तूरी होती है और उसकी सुगन्धि चारों ओर फैलती रहती है, परन्तु मृग को उसका पता नहीं रहता है, वह अपने अन्दर अमूल्य कस्तूरी का भान नहीं करके बाहर ढूंढ़ता फिरता है। उसी तरह अज्ञानी जीव अपने अन्दर ही परमानन्द निजात्म रूपी आनन्दघन कस्तूरी को छोड़कर बाहर ढूंढ़ता फिरता है। वह सुख शान्ति को देनेवाली निजानन्द कस्तूरी को ढूंढ़ने के लिये बाहर ही प्रयत्न करता हुए दु खी हो रहा है। अर्थात् दरिद्री बन गया है, इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि हे आत्मन्! परपरिणति से विमुख होकर अपने अदर ही समुख होकर यदि तू ढूंढ़ेगा तो तेरे अदर ही सुख शान्ति देनेवाली निजानन्द कस्तूरी मिल जायेगी और तेरी दरिद्रता दूर हो जायगी, यानी तू सदा के लिये सुखी बन जायगा ॥१११॥

अगले श्लोक मे कहते हैं कि अशुभ शुभ दोनों त्याग कर शुद्ध में रहना ही शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय है।

अशुभशुभंगळॆंबेरडु योगमिवव्रतसुव्रतंगळोळ् ।
विशिदमिविंतु संसृतिय माळ्पुवु दुःखसुख स्वरूपदोळ् ॥
अशुभवनोल्लदा शुभदोळिर्ददनु तोरेदात्मनोळ्मनो- ।
वशनेने शुद्धयोगमिदु सिद्धियत्ना अपराजितेश्वरा ! ॥११२॥

हे अपराजितेश्वर ! अव्रतों से अशुभोपयोग होकर वह आगे दु ख रूप मे परिणमन शील होकर संसार को उत्पन्न करता है । अच्छे व्रतों से शुभ उपयोग होता है परन्तु वह सुख रूप होने पर भीससार को उत्पन्न करता है । अत पहले अशुभ योग को त्याग कर शुभ उपयोग मे रहे और अन्त में उसको भी त्यागकर अपने मन को वश में कर शुद्धात्म मे ही लीन होने से क्या आत्मसिद्धि नहीं होगी ? ॥११२॥

112. O, Aparajiteshwar ! Non-vowful life causes unauspicious attitudes which turn into misery and prolong Samsara. Vows cause auspicious attitudes which turn into pleasure but still prolong Samsara. The way to spiritual purification is first renouncing the unauspicious, inculcating the auspicious and ultimately renouncing even the auspicious.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि अव्रत से अशुभयोग तथा व्रत से शुभोपयोग व सुख उत्पन्न होता है तथा उस सुख से

ससार का संवर्द्धन करता है। पर ज्ञानी जीव अशुभयोग को छोड़ कर शुभ योग में रत रहकर सुख भोगने के पश्चात् उसको भी त्याग कर अपने मन को वश में करके उसी मे रमण करते रहने से शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं करेगा क्या ? अर्थात् उसे शुद्धोपयोग की प्राप्ति अवश्य ही होगी। इससे मोक्ष की प्राप्ति में देरी है क्या ? कुछ भी नहीं। इसलिये हे अज्ञानी ! तू शुभाशुभ पाप और पुण्य दोनों को बंध का कारण जानकर त्याग कर शुद्धात्मा का सहारा ग्रहण करो क्योंकि यही तुझे इष्ट है, अन्य सभी ससार के लिये कारण ही है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने पचास्तिकाय मे कहा भी है कि-

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि ।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥१२९॥

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय होते हुये निश्चयनय से शुद्धात्मा कीरुचि रूप सम्यक्त्व नहीं होता और व्यवहार रत्नत्रय रूप तत्त्वार्थ की रुचि ही होती है। ऐसे बहिरात्मा जीव के भीतर जो विपरीत अभिप्राय रूप परिणाम होता है वह दर्शन मोह या मोह है। उसी आत्मा के नाना प्रकार चारित्र मोह के उदय होते हुये न निश्चय वीतराग चारित्र होता है और न व्यवहार व्रत आदि के परिणाम होते हैं ऐसे जीव के भीतर इष्ट पदार्थों में जो प्रीति भाव होता है सो राग है और जो अनिष्ट पदार्थों में अप्रीति

भाव होता है सो द्वेष है। उसी मोह के मद उदय से जो मन की विंशुद्धि होती है उसको चित्त प्रसाद कहते हैं। यहा मोह, द्वेष तथा विषयादि में जो अशुभ राग है सो अशुभभाव है तथा दान पूजा व्रत शील आदि रूप जो शुभ राग या चित्त का आह्लाद होता है सो शुभ भाव है, यह सूत्र का अभिप्राय है।

इस गाथा में आचार्य ने भाव पाप और पुण्य का स्वरूप बतलाया है जो क्रम से द्रव्य पाप और द्रव्य पुण्य के बन्ध के निमित्त हैं। मिथ्यात्व भाव बड़ा प्रबल भाव पाप है जिसके कारण इस भाव के धारी जीव में पर्याय बुद्धि होती है। जिससे वह शरीर में, शरीर सम्बन्धी इन्द्रियों के विषयों में और उनके सहकारी पदार्थों मे अतिशय करके लीन होता है और अपने सांसारिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये अनेक अन्याय रूप उपायों से भी काम लेता है। इसलिये सर्व पाप भोगों का मूल कारण यह मिथ्यादर्शन रूप भाव पाप है। इसी के निमित्त से अनतानुबन्धी कषाय जनित राग और द्वेष की प्रवृत्ति होती है जिससे यह प्राणी अपने इष्ट पदार्थों में तीव्र राग तथा अनिष्ट पदार्थों से तीव्र द्वेष करता है। कभी २ मिथ्यादृष्टी के भी मद मिथ्यात्व और मद अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से दान पूजा व्रत शील आदि सम्बन्धी राग भाव होता है जिससे वह भाव पुण्यरूप भी हो जाता है तब पुण्य भी बाधता है परन्तु यह पुण्य भाव परम्परा पाप का ही कारण होता है। इसीलिये आचा-

यों ने धर्म ध्यान चौथे अविरत सम्यग्दृष्टी गुण स्थान से पहले नहीं माना है, तो भी मिथ्यादृष्टी सातावेदनीय, देवायु, उच्च गोत्र आदि पुण्य कर्मों का बन्ध कर सकता है । इसलिये उस द्रव्य पुण्य बन्ध के हेतु रूप भाव पुण्य का होना उनके सम्भव है। पंचेन्द्रिय सैनी जीव के लेश्या भी छहो पाई जाती है जिनमें पीत, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्याएँ हैं। इनके परिणामो से अधिकतर पुण्य कर्म का बध होता है । वास्तव में पाप कर्म का उदय अधिक आकुलता का कारण है जब कि पुण्य कर्म का उदय कुछ देर आकुलता के घटाने का कारण है। वर्तमान काल में उदय आकर पाप कर्म जब दुखदायी है तब पुण्य कर्म सुखदायी है। यद्यपि बध की अपेक्षा दोनों ही त्यागने योग्य हैं तथापि जब तक मोक्ष न हो तब तक पुण्य कर्मका उदय साताकारी है तथा मोक्ष के योग्य सामग्री मिलाने का भी कारण है। इसी लिये पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश मे बहुत ही अच्छा कहा है—

वरं व्रतैः पदं देव नाव्रतैर्वत नारकं।
छाया तपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ।

हिंसा आदि पाँच पापो की अपेक्षा जीव दया, सत्य वचन आदि पच व्रतोका पालन करना अच्छा है क्योंकि हिंसादि पापोंसे जब नरक मे जाता है तब जीव दया आदि पुण्य कर्म से देव हो

सकता है। नरक में जब असाताकारी सम्बन्ध है तब देवगति में साताकारी सम्बन्ध है। जब तक मोक्ष न हो तबतक देव गति में व मनुष्य गति में रहना नरक गति व पशु गति में रहने की अपेक्षा उसी तरह ठीक है जैसे किसी को आने की राह देखने वाले दो पुरुषों मे से एक का छाया में खडा रहना, दूसरे के धूप में खड़े रहने से वहुत अच्छा है।

भीतर से जब स्वाभाविक प्रसन्नता होती है तभी चित्ताह्लाद कहलाता है। यह प्रसन्नता संक्लेश भावके घटने और विशुद्ध भाव या मंद कषाय के बढ़ने से होती है। जैसे किसी को दया पूर्वक दान देने से भीतर में हर्ष होता है इसी का नाम चित्त प्रसाद है। जो दुष्ट भावधारियों के चित्त में दूसरों के दुःखी होते देख कर व विषय भोगियों के चित्त में इच्छित कामभोग के विषय मिलने पर हर्ष होता है वह सक्लेश भावरूप है। जो तीव्र कषाय क्रोध या लोभ से उत्पन्न होता है सो चित्तप्रसाद नहीं है। कषाय की मंदता होकर जो विना किसी बनावट के अन्तरंग में आनन्द हो जाता है उसे ही चित्तप्रसाद कहते हैं। परोपकार व सेवा में यह चित्तप्रसाद अवश्य होता है इसी से परोपकार को पुण्य कहा है।

राग को भी पाप व पुण्य दो रूप कहा है। जहां अप्रशस्त राग है अर्थात् जहां विषयों व कषायों के पुष्ट करने का राग है, वह पाप रूप राग है तथा जहां प्रशस्त राग है अर्थात जहाँ

आत्महित, धर्म ध्यान, दान, व्रत पालन, पर दुःख निवारण आदि का भाव है वह पुण्य रूप राग है। ज्ञानी को यह भावना भानी चाहिए कि यह बंध का हेतु भाव पुण्य और भाव पाप दोनों ही प्रकार का भाव त्यागने योग्य है। एव शुद्ध भाव ही ग्रहण करने योग्य है जो बंध का नाशक व साक्षात् मोक्ष का साधन है।

आगे के श्लोक मे कहते हैं कि प्रथम अवस्था में पुण्य सचय करना आवश्यक है और बाद में उसको भी छोड़ने का अभ्यास करना चाहिये।

व्रततति यिल्लदडु पवणिल्ल मनक्कदरिदे पापमा ।
व्रततियुळ्ळोडतदने पालिपेनव्रतमं केडिप्पेनें- ॥
वतिमतियुळ्ळिळनं सुकृतमक्कुमदु भवबीजयी मनः- ।
क्षति किडे तन्नोळिर्दोडे सिद्धियला अपराजितेश्वरा ! ॥११३

हे अपराजितेश्वर ! व्रतसमूह न होने से मन की स्थिरता नही रहती है और वह हमेशा पाप की प्रवृत्ति की तरफ ही दौड़ता रहता है। अत आत्मा को व्रत होने से उसको उसी तरह पालन कर अविरत को नाश करने की अतिशय युक्त विचारशील बुद्धि जब तक रहती है तभी तक पुण्य की प्राप्ति होती है। पर पुण्य भी ससारके लिये कारण हीहै। इस मनके विकल्प को नाश करके उसे अपने आत्मा में ही संलग्न होकर रहने से वही आत्म सिद्धि नहीं है क्या ? ॥११३॥

113 O, Aparajiteshwar ! In the absence of vows the mind does not remain steady and runs towards sin. By observing the vows I destroy the vowlessness. This conscientious means the arousal of punya (auspicious karmas).But the punya also causes Samsara (rounds of births and deaths). Hence, will not I realise myself by destroying all the mental activities ?

विवेचन—ग्रन्थकार कहते है कि व्रत नियमादि इस मानव शरीर धारी जीवात्मा को न होने से इसके मन मे न्यूनता आती है और यह व्रत नियम करने से कमजोर बन जाता है. इसलिये इस को पाप का बंध होता है। अतः हे भगवन्! मेरे अन्दर हमेशा व्रत का समूह होने से मैं आगमानुकूल उसी का ही पालन करूँ -तथा उन पापों को नाश कर डालूँ। ऐसी मेरे अन्दर अतिशय विवेक बुद्धि जब तक रहेगी तभी तक पुण्य का बध होता है और वह पुण्य ससार के लिये कारण होता है। अगर मन के विकल्प को नष्ट करके मन को आत्मा में स्थिर करके उसी मे बार २ रमण किया जाय तो क्या वही मेरी आत्मसिद्धि के लिये कारण नहीं होगा, अवश्य होगा।

व्यवहार नय निश्चय नय के लिये साधन है, इस लिये साधक को व्यवहार नय के अवलम्बन से निश्चय नय का साधन करना चाहिये। वीतराग भगवान के द्वारा कहे हुए जीव आदि पदार्थों

के सम्बन्ध में भले प्रकार श्रद्धान करना तथा जानना दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गृहस्थ और मुनियों में समान होते हैं, परन्तु साधुतपस्वियों का चारित्र आचार सार आदि चारित्र ग्रन्थों में कहे हुए मार्ग के अनुसार प्रमत्त और अप्रमत्त छठे सातवें गुण-स्थान के योग्य पाच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति व छः आवश्यक आदि रूप होता है। गृहस्थों का चारित्र उपासकाध्ययन शास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार पचम गुण-स्थान के योग्य दान, पूजा, शील, उपवास आदि रूप या दर्शन व्रत आदि ग्यारह स्थान रूप होता है। यह मोक्ष मार्ग का लक्षण है। यह मोक्ष मार्ग अपने दूसरे परिणाम के आश्रय से होता है इसमें साधन और साध्य भिन्न २ होते हैं, इसका ज्ञान व्यवहार नय के आश्रय से होता है। जैसे सुवर्ण निकालने के लिये अग्नि वाहरी साधन है, वैसे ही यह व्यवहार मोक्ष मार्ग, निश्चय मोक्ष मार्ग का वाहरी साधन है। जो भव्य जीव निश्चय नय के द्वारा भिन्न २ साधन और साध्य को छोड़ कर स्वय ही अपने शुद्ध आत्म तत्त्व के भले प्रकार श्रद्धान, ज्ञान, तथा अनुभवरूप अनु-ष्ठान में परिणमन करता है वह निश्चय मोक्षमार्ग का आश्रय करने वाला है। उसके लिये भी यह व्यवहार मोक्ष वाहरी साधन है।

व्यवहार मार्ग गृहस्थ अविरति के लिये अशुभ वाह्य मलको धोने के लिये सावुन के समान हैं। अगर गृहस्थ इस पुण्य रूपी

साबुन का आश्रय नहीं लेगा तो तीव्र कर्म मल का बंध होकर संसार मे अनेक तरह का दु:ख उत्पन्न करता रहेगा। जब शुभ पुण्य रूपी साबुन का सहारा लेता है, तब सासारिक सुखों का अनुभव करता है। इसलिये यदि सच्चे निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त करना चाहता है, तो भव्य ज्ञानी जीव को शुभाशुभ दोनों आश्रय को छोड़ देना ही उचित है।

यह आत्मा बहुत चाहता है कि मैं निश्चय से मोक्ष मार्ग को प्राप्त करूँ। परन्तु ऐसी भूमि में ठहरा हुआ है कि जहाँ पर अशुभ कार्यों व मोह की घनघोर घटा छाई हुई है जिससे कि उसकी दृष्टि मोक्ष मार्ग पर जम ही नहीं सकती। उस जीव को निश्चय मार्ग पर लाने तथा अशुभ मार्ग या संसार मार्ग की भूमि मे हटा ने के लिये व्यवहार मोक्ष मार्ग हस्तावलंबन रूप है। इसके सहारे से निश्चय मोक्ष मार्ग का लाभ हर एक साधक को हो सकता है। निश्चयनय से मेरा स्वभाव शुद्ध आत्मा रूप है इसी बात का ज्ञान व श्रद्धान प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि जीवादि सात तत्वों का ज्ञान व श्रद्धान पूर्ण रूप से हो। आश्रव बंध तत्व से जीवके अशुद्ध होनेके कारण संवर व निर्जरा तत्त्व से जीव के शुद्ध होने का उपाय विदित होते हैं। मोक्ष से अपनी शुद्ध अवस्था का ज्ञान होता है। इस तरह भेदरूप पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करनेसे जब मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम होजाता है तब आत्मा का यथार्थ श्रद्धान प्रकट हो जाता है। यही निश्चय

सम्यग्दर्शन है व तभी ज्ञान भी निश्चय सम्यग्ज्ञान कहलाता है। गृहस्थ व मुनि दोनों को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समान हो सकता है परन्तु चारित्र में भेद है। मुनि का चारित्र पांच महाव्रत रूप है जहाँ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग पूर्णतया प्रतिपादित है, जहां सर्व गृहारंभ का त्याग है जहां एकांत निर्जन स्थानों में निवास है, यह सब व्यवहार चारित्र है, जो अपने स्वरूप में आचरणरूप है उसका इसलिये बाहरी साधन हो जाता है कि इस व्यवहार चारित्र से मन के संकल्प विकल्प हटते हैं और उपयोग निराकुल होकर अपने आत्माके ध्यान में तल्लीन हो जाता है। गृहस्थ श्रावक दान पूजा, सामायिक उपवासादि व ग्यारह प्रतिमा रूप से जो अपने २ योग्य व्यवहार चारित्र पालते हैं उसका भी हेतु निश्चय चारित्र का लाभ है। गृहस्थ पूजा सामायिकादि के द्वारा परमात्मा के गुणों का विचार करते हुए सहसा स्वात्मानुभव में जब तल्लीन हो जाते हैं तब निश्चय चारित्र का लाभ प्राप्त कर लेते हैं।

निश्चय मोक्षमार्ग आत्मा के भाव में लवलीनता रूप है,इसके लाभ में जो जो बाहरी उपाय सहकारी होते हैं वे सभी व्यवहार मोक्षमार्ग हैं। अतः जो अपना हित करना चाहें उनको उचित है कि व्यवहार को सहारा देने वाला जानकर जब तक निश्चयमार्ग में दृढ़ता से स्थिरता न हो जाय तब तक सहयोगी बनाये रहें। क्योंकि यह ऐसा रक्षक है जो कि विषय कषाय रूपी चोरों

के आक्रमणों से बचाता है, तथापि साधक को अपना लक्ष्य बिन्दु निश्चय मोक्ष मार्ग को ही बनाना योग्य है, क्योंकि साक्षात् मोक्ष व आनन्द का उपाय वही है । श्री पद्मनन्दी मुनिराज ने कहा भी है कि·—

वातव्याप्तसमुद्रवारलहरीसंघातत्सर्वदा ।
सर्वत्रक्षणभंगुरं जगदिदं संचित्य चेतोमम ॥

संप्रत्येतदशेषजन्मजनकव्यापारपारस्थिते ।
स्थातुं वांछति निर्विकारपरमानंदे त्वयि ब्रह्मणि॥१७

जैसे समुद्र में पवन के कारण निरंतर लहरें उठती और नष्ट होती रहती हैं उसी प्रकार ससार सागर में विभाव के कारण जीवन रूपी तरगे उठकर नष्ट होती जा रही हैं। ऐसा विचार कर मेरा चित्त अब यही चाहता है कि यह ससार सम्बन्धी व्यापारो से पार होने वाले निर्विकार परमानन्दमयी तुझ ब्रह्म स्वरूप आत्मा में ठहर जावे। इस तरह मुमुक्षु जीव सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों से भिन्न होकर अपने शुद्धात्म स्वरूप मे लवलीन रहकर संसार जाल को काटकर उपाधि से रहित हो मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है।

आगे के श्लोक में मन को रोकने के लिये शास्त्रादि चिन्तवन का अभ्यास करने की जरूरत है ऐसा कहते हैं.—

अध्ययनंगळिंव्रतचिंतने स्तुतियिं प्रबोधेयिं ।
साध्यमनस्कनागि निजरूप नप्पिदवंगे वेरे म- ।।
चध्ययनादिगळ्मेरेयवाव विकल्पमुमिल्ललोकका ।
राध्यनवंगे पूज्य गुणरिल्लवला अपराजितेश्वरा ! ।।११४।।

हे अपराजितेश्वर ! शास्त्रों के अध्ययन से, व्रत चिंतवन से स्तुति से तथा सम्यग्ज्ञान से मन को वशीभूत करके आत्मानन्द निजरूप को ग्रहण करनेवाले को उसके उपरांत अन्य अध्ययन इत्यादि की रुचिनहीं होती है। उनके समान पूज्य गुणवाले अन्य कौन हैं ? अर्थात् कोई नहीं है ।।११४।।

114. O, Aparajiteswhar ! He who has absorbred himself in his soul-bliss after controlling his mind by the study of scriptures, observance of Vratas, chanting of prayers does not relish in these particular activities. He performs no thought activity. He is the object of worship. Who is else like him ? No one.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि शास्त्रों के अध्ययन से, व्रतों के चिंतवन से, स्तुति-स्तोत्रों से तथा सम्यग्ज्ञानादि से मनको स्वाधीन कर अपने निज स्वरूप में दृढ होकर केवल आत्म स्वरूप को ग्रहण करनेवाले को अन्य अध्ययन आदि व्यवहार क्रिया संचार नहीं होती । उनके समान पूज्य गुणवाला अन्य

नहीं होता है, और कोई मनोविकार भी नहीं होता है। ऐसे भव्य जीव ही इस लोक मे पूज्य हैं उनके समान पूज्य गुण-वाला अन्य कौन होगा? अर्थात कोई नहीं।

इस चचल मन को रोकने के लिये हमेशा शास्त्र स्वाध्याय करते रहना चाहिये क्योंकि यह वन्दरके समान अत्यन्त चचल है। जैसे चचल वन्दर को जब तक खाने के लिये फल फूल अथवा वृक्ष पर हरे भरे पत्ते न मिले तब तक वहाँ स्थिरता पूर्वक नहीं रहता है जब उसको वृक्ष मे हरे भरे पत्ते मिल जाते हैं तब उसी में रत रहकर उसी मे रम जाता है उसी तरह यह हमारा चचल मन इधर उधर सूखे हुए ससाररूपी जगल में इन्द्रिय जन्य क्षणिक वासानाओं के प्रति हमेशा घूमा करता है। यदि यह शास्त्र स्वाध्याय तथा अन्य पुराण पुरुषों की कथा या आत्मतत्व की चर्चा आदि रूपी हरे-भरे वृक्ष में लगजाय तो इसकी चचलता रुक जाती है और चचलता रुक जाने से मन अपने आत्मा मे स्थिर हो जाता है। तत्पश्चात् वाहर से आनेवाले अशुभ कर्मो का द्वार वन्द हो जाता है। स्वाध्याय का अर्थ आत्मा के सन्मुख होना है। स्वाध्याय एक परम तप है। स्वाध्याय से मनमें शान्ति मिलती है और कर्म की निजरा के लिये मुख्य कारण है इसलिये मनुष्य को हमेशा स्वाध्याय करते रहना चाहिये।

स्वाध्याय के पाच भेद इस प्रकार हैं—वॉचना, पूछना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश॥

निर्दोष ग्रंथ अर्थ सहित पढ़ना यह बाचना है। सशय को मिटाने के लिये अथवा तत्व को पुष्ट करने के लिये प्रश्न पूछना पृच्छना है। जाने हुए अर्थ का मनमें ठीक ठीक अर्थ करना-मनन करना आम्नाय (अनुप्रेक्षा) है। उच्चारण की शुद्धि पूर्वक पाठ को पढ़ना सुनना तथा दुबारा दोहराना अभ्यास है और धर्म कथा आदि का प्रवचन करना अर्थात् सुनाना धर्मोपदेश है। इन पाच प्रकार के स्वाध्याय को मन लगाकर करने से मन की स्थिरता होती है।

व्रत—पांच व्रत, तीन गुण व्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह व्रत है। इन बारह व्रतों का निरतिचार पूर्वक पालन करना यानी उसमे दोष नहीं लगने देना, उत्तर गुण को पालन करते हुए उत्तरोत्तर बढ़ाने का विचार करना, उस के साथ २ बारह भावनाओंका भी चिंतवन करना, मन वचन काय को रोकना, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम सयम , उत्तम व्रत, उत्तम त्याग, उत्तम शौच, उत्तम आकिंचन और उत्तम ब्रह्मचर्य इन दश प्रकार के धर्म को धारण करने तथा सद्भावनाओं के चिंतवन करने से आने-वाले अशुभ कर्म के द्वार रुक जाते हैं।

स्तुति—चौवीस तीर्थंकर भगवान की स्तुति तथा उनके गुण का गान करना चाहिए। जैसे मन को एकाग्र करके रावण ने कैलाश पर्वतपर वालि मुनि की स्तुति की थी और उस स्तुति

के कारण उसने भविष्य में तीर्थंकर नाम कर्म का वध कर लिया था इसी प्रकार यह ज्ञानी आत्मा मन के वेग को व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा रोकते हुए जब स्थिर होता है उसी समय अपने आत्मा में वाह्य व्यवहार रत्नत्रय का सहारा छोड कर निश्चय रत्नत्रय में रत हो जाता है तब अन्य क्रियाकाड इत्यादि उनको रुचिकर नहीं होती है तथा उनके अन्य मनोविकार वगैरह कुछ भी नहीं रहते। वे मनुष्य तीन लोक में पूज्य गिने जाते हैं। उनके समान इस पृथ्वी में उत्तम गुणवान कौन है? अर्थात् काई नहीं। इस पृथ्वीमें उनको धन्य समझना चाहिए ॥११४॥

अगले श्लोक मे इसी बात की पुष्टि करने के लिये कहते हैं—

परगणदाटमेंदु जगमं सले नोडुते दुर्विकल्पमं।
तेगेदु त्रिसाडुनं निजचिदात्मननीक्षिसुतं विशोधियोळ् ॥
मिगे मुळगाडुतं शमरसामृतमं सवियुत्ते तन्न ता।
नगुते विलासदि तपिसुवंगेणेयारपराजितेश्वरा! ॥११५॥

हे अपराजितेश्वर! यह ससार कलह अर्थात् झगडे का खेल है। ऐसा अच्छी तरह जानकर दुष्ट मन के विकल्परूपी जड़ को उखाड़ कर फेंकते हुए, अपने ज्ञान दर्शन स्वरूप आत्मा को देखते हुए, उत्तरोत्तर अपने आत्मानन्द की विशुद्धि में डूबते हुए रहने से शान्ति रस नामक अमृत को पान करते हुए विनोद पूर्वक

अपने को आप ही में हसते हुये तपस्या करनेवाले योगी के समान अन्य कौन-हो सकता है ? कोई नहीं ॥११५॥

115. O, Aparajiteshwar ! Who is like that penacing Yogi who has destroyed meliciousness with its roots in the mental activities (Vikalpa), who drinks the nectar of Peace dwelling in the purity of soul and percieving it as knowledge and perceptions incarnate ?

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि जिनको अपनी आत्म-विशुद्धि करनी है उनको यह विचार करना चाहिये कि यह जगत् कलह की जड़ है। इसे अच्छी तरह जान कर मन में उठनेवाले अत्यन्त दुष्ट मनो-विकार को तथा विकल्पों को जड़ से उखाडकर फेंक दे. तदनन्तर अपने ज्ञान दर्शनमय आत्म स्वरूप को देखते हुए जैसी मन की विशुद्धता होती जाय तब उसी विशुद्धि रस में तैरते हुए, शान्तिरूपी अमृत का स्वाद लेते हुए, अपने को आप ही में विनोद करते हुए तथा अपने को आप ही मे देखकर हंसते हुए तप करनेवाले महान् तपस्वी के समान कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है।

ज्ञानी आत्मा यह विचारता है कि यह जगत् महान् भयंकर जंगल के समान है और इसमें मिथ्यात्व रूपी अंधकार चारों ओर फैला हुआ है। इस जगतरूपी जगल मे रहनेवाले प्राणी अधेरे में अपने इष्ट स्थान का रास्ता न दीखने के कारण मिथ्या

रूपी अंधकार में यत्र तत्र भटक रहे हैं । इसमें महान् भयंकर रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि चतुष्पाद मोटे-मोटे दाढ़ तथा तीक्ष्ण दांतवाले, नखवाले जीव हमेशा विचरते रहते हैं और अपने स्वरूप से च्युत होकर यत्र तत्र इस संसार वन में भटकनेवाले दीन हीन आत्मा रूपी मृग को पकड़कर विदीर्ण करते हुए नरक रूपी कुंड में पटक देते हैं। फिर यह आत्मा बार २ जन्म मरण को प्राप्त होता हुआ दीर्घ संसार का कारण हो जाता है । इस तरह ज्ञानी आत्मा विचार करते हुए जगत् के मोह से विरक्त हो जाता है । और भी विचार करता है कि.—

अस्त्यात्माऽस्तमितादिबंधनगतस्तद्बंधनान्यास्रवं ।
स्ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात् ॥
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादि लब्धो क्वचित् ।
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषताऽयोगैः क्रमान्मुच्यते ॥२४७॥

इस ज्ञान दर्शनमयी आत्मा की पहिचान तभी होती है जब कि जीव माता के गर्भ से बाहर आता है तब ज्ञान इच्छा रागद्वेष व इसी प्रकार जन्मते ही स्तन पान, इत्यादि विचित्रता या असाधारणता देखने से आत्मा को मानना पड़ता है । कर्म की अपेक्षा से वह अनिष्ट दु खको भोग रहा है इसलिये उसे परतंत्र अथवा बद्ध भी मानना पडता है । पूर्व कर्मों का नाश होता रहता है व नवीन कर्मों का संचय होता जाता है, इसलिये अनादिकाल से यह जीव

कर्मबद्ध ही चला आ रहा है। उन कर्मों की स्थिति अनुभागादि व ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार से है। कर्म पिण्ड का बधन मन वचन व शरीर की चंचलता से होता है। कर्म पिंड में फल दान शक्ति तथा ववने की शक्ति क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होती है। कर्म पिंड का आना व फल दानादि शक्ति का उपजना ये दोनों कार्य एक साथ होते है, इसलिए दोनों के कारण भी एक साथ जमा हो जाते हैं। अर्थात् कर्म पिड के लिये निमित्त भूत चचलता को कषाय मिलकर उत्तेजित करते हैं। तव यह वंध प्रारम्भ हो जाता है। कषायों का प्रादुर्भाव तभी होता है जबकि आत्मा प्रमादी बनता है। प्रमाद की वृद्धि हिंसादि अव्रत कर्मो के करने से होती है। हिंसादि अव्रतों मे जो जोर बढ़ता है वह मिथ्यात्व के सहवास से। इस प्रकार यह जीव उत्तरोत्तर कारणों के मिलने से अधिक अधिक मलिन होता जाता है। उपदेशादि निमित्तो के मिलने पर कदाचित् किसी एक मनुष्य भव में यदि इस प्राणी को सम्यग्दर्शन, व्रत, विवेक तथा वीतरागता व निश्चलता प्राप्त हो जाय तो यह जीवात्मा तर जाता है। इसके लिये सबसे पहले सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना है; फिर छठे गुणस्थान तक क्रम से व्रत और उसके आगे शुक्ल ध्यानादि रूप विवेक, विवेक के बाद दशम् गुणस्थान के अन्त से लेकर वीतरागता प्राप्त होती है और सब के अंत में चचलता का अभाव हो जाता है। चचलता का नाम ही योग है। जैसे २ कारण प्राप्त होते जाते हैं वैसे २ यह

कर्मों से मुक्त भी होता जाता है। इस लिये हे आत्मन्! अगर तू क्रम से इस वात का विचार कर अपने अंदर जगत् के खेल को समझ जायेगा तो तुझ मोक्ष दूर नहीं है।

इस तरह जो ज्ञानी जीव जगत् के सार-असार का विचार करके अपने अपने स्वरूप में मग्न होकर ससारी प्राणी को जगत् की माया में फसे हुए देखकर हसता है और अपने से उत्पन्न हुये अमृतमय समुद्र में डूबते हुए आनन्द को प्राप्त होता है वही जीव इस ससार में धन्य है ॥११४॥

अव आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि ज्ञानी जीव इस तरह आत्मानन्द रूपी समरस अर्थात् शान्त रस में जब मग्न हो जाता है तव ज्ञानावरणादि कर्म स्वयं धीरे २ पिघल जाते हैं।

मूरु शरीरदोळ्तडेयदंतरदात्मनोळैक्यमागिवं- ।
देरुव दुष्परीषहदंगकेनुत्तुपशांतनप्पुदुं ॥
जारुगुमोय्यनोय्यनेचिदावरणादिगळात्मसिद्धि मे- ।
य्दारुगुमोय्यनिदे युक्तियला अपराजितेश्वरा ! ॥११६॥

हे अपराजितेश्वर ! औदारिक तैजस और कार्मण ऐसे इन तीनों शरीर वाला ही मैं हूँ, इस भावना से अपने मनको रहित कर अर्थात् मनको अपने आत्मस्वरूप में ऐक्य करके अपने को प्राप्त होनेवाली दुष्ट बाधाको ऐसा जो जानता है कि यह

मेरे आत्मा की कुछ बाधा नहीं करती है यह सभी बाधा शरीर के लिये है और शरीर मेरे आत्मा से भिन्न जड़ स्वरूप है। इस तरह भावना करके अपने अन्दर ही शान्त होकर रहना चाहिए। इसतरह भावना करनेसे ज्ञानावरणादि आठों कर्म धीरे धीरे खिर जाते हैं। तब आत्मसिद्धि धीरे धीरे दीखने लगती है यह मुक्ति नहीं है क्या? अवश्य है ॥११६॥

116 O, Aparajiteshwar! Is the way to self-realisation not to redeem oneself from the mistake of concieving oneself as identical with three kinds of bodies-Audarika, Taijas and Karman, to identify oneself with one's own soul considering all the obstacles as belonging to body and not to one's self and that this body is unconcious, different from my soul and thus to stay in one self undisturbed? This attitude destroys the Gyanavarniya ect., the eight karmas.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि इस मन को औदारिक तैजस और कार्मण इन तीन प्रकार के शरीरों में स्थिर न करके अपने आत्मा के अंदर ही स्थिर करना चाहिये। तत्पश्चात् होनेवाली बाह्य बाधाओं को शारीरिक समझकर परम शान्त रसामृतरूप अपने शुद्धात्मा में ही रमण करना चाहिये। क्योंकि इस तरह रत होने से उसी समय ज्ञानावरणादि कर्म धीरे २ उतर जाते

हैं और जितने २ कर्म उतर जायेंगे उतने २ निजात्म सिद्धि का स्वरूप धीरे २ दीखने लगेगा, यही आत्मसिद्धि का उपाय है। ज्ञानी जीव हमेशा अपने आनन्दमयी परमानन्द रस मे लवलीन होकर वाह्य सम्पूर्ण शारीरिक कष्ट या इन्द्रियों के सकल्प विकल्प आदि को विल्कुल भूल जाता है। दुष्ट शत्रु या मिथ्यादृष्टी जीव अनेक प्रकार से उसका उपद्रव करते हैं, गाली देते है, शरीर को डंडे से पीटते है, विविध भांति से उसकी निंदा करते हैं, परन्तु आत्म-ध्यान में स्थित ज्ञानी अपने भीतर द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नौ कर्म से रहित परमानन्द सुखामृत पान में मग्न रहने के कारण वाहरी शरीर में होने वाली वाधा, वेदना या उपसर्ग की तरफ तिलमात्र भी ध्यान नहीं देते। वे ज्ञानी मुनिराज अपने अंदर यह विचारते हैं कि निन्दा करनेवाले, मारनेवाले, क्रोध करनेवाले, परम शान्तमयी साधु हमारे उपकारी ही है। क्योंकि यदि निंदक लोग नहीं होते तो साधु के कर्मों की निर्जरा जल्दी नहीं हो सकती। निंदक लोगों के रहने से साधु जल्दी कर्म निर्जरा करके मोक्ष चले गये हैं। नास्तिक, मिथ्यावादी, जैन शास्त्रों से शून्य, पापी, अपने को पण्डित मानने वाले महान् क्रोधी, लोभी ही साधु की निन्दा तथा छल के द्वारा उपसर्ग करके उनके कर्मों की निर्जरा करके उन्हें मोक्ष में भेज देते हैं। अतः ऐसे उपकारी लोगों के ऊपर साधु सदा प्रसन्न रहते हैं। साधु निंदा करनेवाले या उपसर्ग करने

वाले पर कृतज्ञता प्रगट करके कहते हैं कि इस मनुष्य ने इतनी गाली या निंदा के द्वारा मेरा महान् उपकार किया तथा घंटे भर परिश्रम किया परन्तु मुझसे उनको कुछ भी प्राप्त नहीं हो सका। उन्होंने मुझको गालियों व निन्दा का दान दिया इस दान से मै शीघ्र ही मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकूंगा, परन्तु मुझसे उनको कुछ भी नहीं मिला क्योंकि मैं दिगम्बर हूँ। शरीर भी मेरा नहीं है यह तो जड़ है और जड़ से जड़ ही लड़ता है। गाली गलोज यह भी जड़ है तथा शब्द वर्गणा भी जड़ हे, इस गाली से या उपसर्ग से मेरे आत्मा का कुछ भी बिगाड़ तो हुआ नहीं फिर मै क्रोध-राग किस पर करू? मेरा आत्मा हमेशा अखड अविनाशी नित्यानन्द अतीन्द्रिय और वदनीय है। निदनीय नहीं है। जो संसार से निंदनीय वस्तु है उसकी दुनिया निंदा करती है। इससे मेरी कोई हानि या लाभ नहीं है। मै अपने स्वरूप को छोड़-कर अन्य परवस्तु पर राग या द्वेष क्यों करू? इस प्रकार आत्म-रत ध्यानी साधु निन्दा या स्तुति करनवाले या पूजा करनेवाले के प्रति न राग करता है और न द्वेप करता है। अर्थात् वह हर्ष विषाद दोनों से रहित अपने आत्मस्वरूप मे रत व नि.सग रहता है। वही साधु ध्यानी महात्मा कर्म की निर्जरा करके जल्दी ससार वधन से मुक्त हो जाता है तथा वही इस पृथ्वी में धन्य है।

फिर वह ज्ञानी महात्मा कैसा विचार करता है सो कहते हैं—

यत्पश्यामि कलेवरं वहुविधव्यापारजल्पोद्यतम् ।
तन्मे किंचिदचेतनं न कुरुते मित्रस्य वा विद्विषः ।
आत्मा यः सुखदुःखकर्मजनको नासौ मया दृश्यते ।
कस्याहं वत सर्वसंगविकलस्तुष्यामि रुष्यामि च ॥४१

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने रागद्वेष को मिटाने की एक रीति समझाई है। यह संसारी प्राणी उन मित्रों से प्रेम करता हैं जो अपने वचनों से हमारे हित की बातें करते हैं व अपने आचरण से हमारी तरफ अपना हित दिखलाते हैं तथा उनको शत्रु समझ कर द्वेष करता है जो हमारे अहित की बातें करते है तथा अपने व्यवहार से हमारी कुछ हानि करते हैं। सामायिक करते हुए प्राणी के मन से रागद्वेष हटाने के लिये आचार्य कहते हैं कि—हे भाई! तू किस पर राग व किस पर द्वेष करेगा? जरा तुझे विचारना चाहिए कि यदि तू मित्र के शरीर से राग व शत्रु के शरीर से द्वेष करे तो यह तेरी मूर्खता ही होगी क्योंकि शरीर बिचारा जड़ अचेतन है वह किसी का विगाड़ नहीं करता है। शरीरके सिवाय उनका जो आत्मा है उसको यदि सुख तथा दु:ख का देनेवाला जाने तो वह आत्मा विल्कुल नहीं दीखता। इसका भाव यह है कि इन्द्रियों के भोगों में आत्मा को सुख शान्ति नहीं होती है। किन्तु उल्टे रागद्वेष की मात्राएँ बढ़कर मोक्ष मार्ग में विघ्न आता है। उसकी लालसा खाने

पीने दीखने आदि से हट गई हो तथा आत्मसुख का अनुभव होने लग गया हो और यह सच्चा ज्ञान हो कि जैसे कोई यात्री अपनी यात्रा में भिन्न २ स्थानों में विश्राम करता हुआ जाता है वैसे यह आत्मा भी एक यात्री है जिसकी यात्राका ध्येय मोक्ष द्वीप है, सो जब तक मोक्ष न पहुँचे तब तक यह भिन्न२ शरीर में वास करता हुआ यात्रा करता रहता है तथा यह अविनाशी है। शरीर के बिगड़ने पर आत्मा नहीं बिगड़ता। यह अनादि से अनन्त-काल तक अपनी सत्ता रखनेवाला है। इस तरह जिसका लक्ष्य शरीररूपी रथ द्वारा मोक्षपुर पहुंचना रहता है तथा जिस किसी शरीरमें कुछ कालके लिये रहता है उसे एक धर्मशाला मात्र जानता है तो फिर उस शरीर मे व उसके संबन्धी चेतन व अचेतन द्रव्योंमें न जाने कब तक उसपर रागद्वेप किस तरह किया जा सकता है? तथा मेरा स्वभाव भी राग द्वेष करने का नहीं है। मै सर्वसग से रहित हूं। मेरे मे न कोई ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म है, न शरीरादि नो कर्म है तथा न रागद्वेषादि भाव कर्म है। मै निश्चय से सबसे निराला सिद्धके समान ज्ञाता द्रष्टा अविनाशी पदार्थ हूँ। इसलिये मुझे उचित है कि समता भाव मे रमण कर आत्मिक सुख का अनुभव करूँ। जगत मे न कोई मेरा शत्रु है और न कोई मेरा मित्र है। आगे के श्लोक में कहते हैं कि अपने आत्मा को आप ही देखनेतथा प्रेम करनेवाले भव्य ज्ञानी योगी अमृत रस के भागी नहीं हैं क्या?

नोडुत नोडि लालिसुत लालिसुतात्मसुखक्के विस्मयं ।
माडुत माडि मेच्चुत विजात्मनोळागले मेच्चुतैक्यदिं ॥
कूडुव कूडियेच्चेरेवतन्मय नागुते तानेतन्नोळो-।
लाडुव जोगिये अमृत भागियला अपराजितेश्वरा ! ॥११७॥

हे अपराजितेश्वर ! अपने आत्मा को देखनेवाले देखकर के, उससे प्रेम करने वाले प्रेम करके, उस आत्मसुख को आश्चर्य करनेवाले आश्चर्य करके, अपने आत्मा से ऐक्य होनेवाले ऐक्य होकर, उसी में रत होनेवाले रत होकर तथा निजात्मवश रहनेवाले निजात्मावश होते हुए अपने में आप ही आनन्द मानने वाले योगी ही निजानन्द अमृत रस के भागी नहीं होंगे क्या ? अवश्य होंगे ॥११७॥

117 O, Aparajiteshwar ! Will not that Yogi partake in his own spiritual bliss who perceives, loves, wonders at, becomes identically absorbed in and controlled by the soul ?

विवेचन.—ग्रन्थकार कहते हैं कि अपने आत्मा को देखने वाले देखकर के, प्रेम करनेवाले प्रेम करके, आत्मसुख को अपना सच्चा ऐश्वर्य मानने [वाले ऐश्वर्य मान करके, उसको देखकर आश्चर्य मे पड़ने वाले आश्चर्य कर के, उसी को प्यार करने वाले

प्यार करके, अपने आत्मा में ऐक्य होकर उसी में रमण करने वाले रमण करके तथा निजात्मा के वश होनेवाले निजात्मा के वश होकर उसी में आनन्द होने योग्य अमृत रस के भागी नहीं हैं क्या ? अर्थात् अवश्य अमृतरस के भागी हैं। ग्रन्थकार ने यहां अपने आत्मा में रमण करने को कहा है कि हे संसारी जीवात्मन् ! अगर तुझे संसारसे भय हो तो तू बाह्य इन्द्रिय वासनाओं से तथा शरीरादि से राग द्वेष व ममता को हटाकर केवल अपने अन्दर अन्तर्यामी होकर उसी की पहचान करके उसी का ध्यान करो।

आत्मा का ध्यान इस तरह करना चाहिये ?

दसंणणाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो ।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥१७॥

भावार्थ—अपने आत्मा का इन्द्रियों के द्वारा स्पर्श नहीं किया जा सकता। यह द्रव्यार्थिक नय से या निश्चय नय से जानना चाहिये। अर्थात् यद्यपि यह आत्मा कर्मों के साथ है शरीर के साथ है, तो भी जैसे मैले पानी को मिट्टी से अलग देखा जाता है। वैसे आत्मा को कर्मादि सर्व पुद्गलों से, कर्मों के उदय के निमित्त से व रागद्वेपादि भावों से भिन्न देखना चाहिये। तब यह ऐसा दीखेगा कि यह अपने अभीष्ट गुणों का पिण्ड द्रव्य है। उसमें दर्शन ज्ञान प्रधान है। यह आत्मा अपने ज्ञान दर्शन गुणों

के कारण सामान्य विशेष रूप सर्व जगत् की वस्तुओं में तीन कालवर्ती पर्यायों को एक ही काल मे जानने को समर्थ रहता है। जैसे मेघ रहित सूर्य का प्रकाश सभी को एक साथ झलकता है वैसे ही आत्मा का दर्शनज्ञान गुण, कर्म रहित सर्व जानने योग्य पदार्थों को जाननेवाला है। किसी भी वस्तु का आकार होना चाहिये। आत्म का भी आकार है, उस को प्रदेश रूपी गज से मापा जावे तो वह लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेशों के माप में आता है केवल समुद्घात के समय लोकव्यापी हो जाता है, शेष समयों मे शरीर प्रमाण रहता है। इस में संकोच विस्तार करने की शक्ति है जो नाम कर्म के उदय से काम करती है।

जब नाम कर्म का उदय नहीं रहता है तव आत्मा से सकोच विस्तार दोनों नहीं होते। इसीलिये सिद्ध भगवान् अन्तिम शरीर मे जैसा आकार होता है उसी आकार से सिद्धालय में विराजते हैं। इस समय मेरा आत्मा मेरे शरीर में व्यापक है। आकार रहने पर भी मूर्तिक आकार ऐसा नहीं है जो इन्द्रियों के गोचर हो। जड़मयी मूर्ति आत्मा की नहीं है। उस अमूर्तिक शरीर-व्यापी आत्मा को इस तरह देखना चाहिये कि जैसे किसी मन्दिर मे देव हो। इस देहरूपी मन्दिर में परमात्मा देव विराजमान हैं। समयसार कलश में कहा भी है कि—

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी—
र्यद्यन्तः किल कोप्यहो कलयतिऽव्याहत्य मोहं हठात्।

आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं ।
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

भावार्थ—जो कोई बुद्धिमान, भूत, भविष्य व वर्तमान काल में बन्धों से रहित मैं हूँ, ऐसा अपने को मानकर भीतर देखता है और मोह भाव को बलपूर्वक रोक देता है उसको अपने भीतर अविनाशी कर्मकलक कीच रहित शुद्ध आत्मा रूपी देव विराजमान होकर नित्य दीखता है, जिस का अनुभव आत्मानुभव के द्वारा ही होता है।

आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि ज्ञानी भव्य जीव के अपने अन्दर ही लीन होकर ध्यान करनेसे कर्मरूपी पटल स्वयमेव जायेंगे।

इंगडलोळ्मुळुगिद वोलिप्पुदुमेघवडंगिदच्चवे- ।
ळदिंगळकांति योळ बेरसिदंतेवोलिप्पुदु सिद्धराशियो ॥
संगतवादवोत्न्मेरेवु दात्मननात्मनिंदकं- ।
डंगरिपंददिं नुडिपलेन्नळवे अपराजितेश्वरा ! ॥११८॥

हे अपराजितेश्वर ! आत्मा, आत्मा में आत्मा को आत्मा से देखकर आत्मस्वरूप में लीन होने से क्षीरसागर में डुबोनेके समान आनन्द उठाता है। बादल रहित निर्मल चन्द्रमा का प्रकाश जिस प्रकार प्रतिभाशाली मालूम पड़ता है उसी प्रकार मुक्त हुए सिद्धात्म के समुदाय में स्थित ज्ञानी का प्रकाश देदीप्य-

मान मालूम पड़ता है अथवा शोभता है। उस का अनुभव दूसरे लोग कर सके ऐसा कहने में क्या मैं शक्य हूँ कभी नहीं ? ॥११८॥

118 O, Aparajiteshwar ! The soul appears submerged into the milky ocean (of bliss) in the light of full moon when it sees itself in itself, by itself submerged in the group of perfect souls.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते है कि ज्ञानी आत्मा, आत्मा मे आत्मा को जानकर आत्मस्वरूप मे लीन हो जाय तो क्षीर सागर मे डूबने के समान मालूम होता है और उसी में लीन होकर जैसे क्षीर सागर मे क्षीर का पान करके बहुत आनन्द होता है उसी तरह यह आत्मा अपने आत्मस्वरूप क्षीर सागर में लीन होकर उसी का रस पान करता रहता है। जैसे बादल रहित निर्मल आकाश को देखता है तथा जैसे निर्मल पौर्णिमा की चॉदनी के आकार को देखता है उसी तरह ज्ञानी अपने आत्म-स्वरूप को समझकर उसी में लीन होकर बाहर के पर पदार्थों को भूल जाता है और अपने आत्म प्रकाश मे निश्चित होकर उसी मे रमण करता है।

आत्मा निरंजन है।

जस्सण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।
जाइजरामरणं विय णिरन्जणो सो अहं भणिओ ॥१६॥

णत्थि कला संठाणं मग्गणगुणठाण जीवठाणाइं ।
णाइं लद्धिबन्धठाणा णोदयठाणाइया केइ ॥२८॥
फासरसरूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो ।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥२९॥

भावार्थ:—इसका सार यह है कि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा ही आत्मा के स्वभाव का विचार है। जो मूल द्रव्य के स्वभाव लक्ष्य मे लेवे तो उसे ही निश्चय नय कहते हैं। उसी अपेक्षा से यह आत्मा पूर्ण सिद्ध, कर्ममल रहित, शरीर रहित, रागादि भावो से रहित परमशुद्ध चैतन्य स्वरूप, नित्य निरजन. तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, कपाय व हास्यादि से रहित है। यह सब मोह कर्म के उदय का अनुराग है, पर है, इनसे वस्तुपना है, जीव के स्वभाव मे इसका पता नहीं लगता है। माया मिथ्या, निदान ये तीन शल्य यानी कॉटे भी मोहनीय कर्म के विपाक मैल है आत्मा के निज मूल स्वभाव मे इनका कोई स्थान नहीं है।

कृष्ण, नील कापोत तीन अशुभ व पीत, पद्म शुक्ल तीन शुभ लेश्याए भी आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं, ये भावो के रग के दृष्टात हैं। मन वचन काय के हिलने से योग का परिणमन होता है वह योग जब कपायों के रग से अधिक या कम रंगा होता है तब उसे लेश्या कहते हैं। ऐसी कपाय के रंग से अनुरजित

लेश्या सूक्ष्म सापराय दशवें गुणस्थान तक है। कषाय के रंग से न रंगी हुई केवल योगप्रवृत्ति रूप शुक्ल लेश्या ११, १२, १३, गुणस्थान मे है। जिसके कारण कर्मवर्गणा आत्मा के साथ मिले उसे लेश्या कहते हैं। कर्मों का आस्रव तेरहवें गुणस्थान तक होता है।

जब तीव्र कषाय का उदय होता है तब मन वचन काय की प्रवृत्ति अशुभ होती है—हानिकारक होती है उस समय के भावों को अशुभ लेश्या कहते हैं। अशुभतम कृष्ण है, अशुभतर नील है तथा अशुभ कापोत है । जब कषाय मन्द होता है, परोपकार के भाव में व मन्द राग में प्रवर्तता है तब शुभ लेश्या होती है। शुभ पीत है, शुभतर पद्म है, शुभतम शुक्ल है। जन्म भी आत्मा में नहीं है। स्थूल शरीर औदारिक व वैक्रियिक के सम्बन्ध को जन्म कहते हैं। जरा भी आत्मा के नहीं होता है। औदारिक शरीर के जीर्णपने को जरा कहते हैं। मरण भी उनके नहीं है। आत्मा के स्वभाव में कोई खण्ड या भेद नहीं है, आत्मा के टुकड़े नहीं हो सकते, न आत्मा के भीतर ज्ञान दर्शन वीर्य सुखादि गुणों के भेद हैं। वह अनन्त गुण पर्यायों का अखन्ड खन्ड है। आत्मा के भीतर खन्ड ज्ञान का भेद नहीं है। मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय, खन्ड व क्रमवर्ती ज्ञान है। आत्मा अखन्ड अक्रम व सर्व ज्ञान का समूह है।

आत्मा के भीतर शरीर के छः प्रसिद्ध संस्थान नहीं हैं।

समचतुरस्र न्यग्रोधपरिमन्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन, स्फटिक ये छः संस्थान शरीर के होते हैं। आत्मा के कोई मार्गणाएं नहीं हैं। संसारी जीवों के भीतर कर्मों के उदय की अपेक्षा को लेकर विशेष जो अवस्थाएँ होती हैं उनको मार्गणा कहते हैं; वे अवस्थाएँ चौदह प्रकार की हैं—

(१) गति चार—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

(२) इन्द्रिय पाच—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण।

(३) काय ६—पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, वनस्पति व त्रस।

(४) योग १५—सत्य असत्य, उभय, अनुभय, मनोयोग ४, सत्य, असत्य, उभय अनुभय वचनयोग ४, औदारिक, औदारिकमित्र, वैक्रियिकमित्र, आहारक, कार्मण व ७ काययोग।

(५) वेद तीन—स्त्री, पुरुष, नपुंसक।

(६) कषाय पच्चीस—१६ कषाय ६ कषाय हास्यादि।

(७) ज्ञान आठ—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यय केवल।

(८) सयम सात—असयम, देश संयम, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात।

(६) दर्शन चार—चक्षु अचक्षु, अवधि, केवल।

(१०) लेश्या छः—कृष्णादि।

(१) भव्यत्व —भव्यत्व, अभव्यत्व।

(१२) सम्यक्त्वः—मिथ्यात्व, मिश्र, सासादन, उपशम,

वेदक व क्षायिक।

(१३) संज्ञी दो—सज्ञी, असंज्ञी।

(१४) आहारक दो—आहारक अनाहारक ।

आठ प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों के संयोगवश ये चौदह मार्गणाएँ हैं। आत्माके सहज स्वभाव में इन भेदों का कोई काम नहीं है वहाँ तो अखण्ड एक ज्ञायक भाव है ।

आत्मा के स्वभाव में कोई गुणस्थान भी नहीं है। अशुद्धता को घटाते हुए व शुद्धता को प्राप्त करते हुए मोक्ष महल के ऊपर चढ़ने के लिए जो श्रेणियां या पद हैं उनको गुणस्थान कहते है। मोहनीय कर्म तथा योगों की अपेक्षा से इनके नाम पड़े हैं।

(१) मिथ्यात्व (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत सम्यक्त्व (५) देशविरत, (६) प्रमत्तविरत, (७) अप्रमत्तविरत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्ति करण, (१०) सूक्ष्म सापराय, (११) उपशांत मोह, (१२) क्षीण मोह, (१३) सयोग केवली जिन, (१४) अयोग केवली जिन। इनमें से पहले पाच गुण-स्थान गृहस्थों के व श्रावकों के होते हैं व पचेन्द्रिय पशुओं के भी होते हैं। पहले चार गुणस्थान देव नारकियों के होते है। छठे से बारह तक सात गुणस्थान सयमी साधुओं के होते हैं। अन्त के दोगुणस्थान अरहन्त केवली के होते हैं। सिद्धों के कोई गुण स्थान नहीं है।

इस आत्मा के न कोई जीव स्थान या जीव समास है। जहां

जीवों की जातियों की अपेक्षा समूह किये जावे उनको जीव स्थान कहते हैं। चौदह जीव समास प्रसिद्ध हैं। (१) एकेन्द्रिय बादर। पर्याप्त, (२) एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त, (३) एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, (४) एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त,(५) द्वेन्द्रिय पर्याप्त,(६) द्वेन्द्रिय अपर्याप्त, (७) तेन्द्रिय पर्याप्त, । (८) तेन्द्रिय अपर्याप्त, (९) चौन्द्रिय पर्याप्त, (१०) चौन्द्रिय अपर्याप्त, (११) पचेन्द्रिय असैनी पर्याप्त, (१२) पचेन्द्रिय असैनी अपर्याप्त, (१३) पचेन्द्रिय सैनी पर्याप्त, (१४) पचेन्द्रिय सैनी अपर्याप्त। जब कोई जीव कहीं जन्म लेता है तब अन्तमुहूर्त तक जब तक शरीरादि बनने की शक्ति न प्राप्त करे, अपर्याप्त कहलाता है फिर पर्याप्त हो जाता है या शक्ति न प्राप्त करके मर जाता है।

आत्मा के कोई लब्धि स्थान भी नहीं है,न इसमे क्षयोपशम, विशुद्धि देशना, प्रायोग्य करणब्धि के स्थान हैं, जो सम्यक्त्व की प्राप्ति मे साधन हैं, न इसमे सयम की वृद्धिरूप सयमलब्धि का स्थान है, न इसका आत्मा के स्वभाव मे कोई स्पर्श है, नकोई रस है, न कोई गध है, न कोई वर्ण है तथा न कोई शब्द है। ये सब पुद्गलके भीतर ही कहलाते हैं। कोई भी भेद प्रभेद इस आत्मा के मूल स्वभाव मे नहीं है। मूल मे तो यह अखन्ड ज्ञायक भावरूप चैतन्य प्रभु है। पूर्ण विकसित सूर्य के समान है। स्वभावसे प्रकाश रूप है, समदर्शी है, कृतकृत्य है, परम सतोषी तथा परमानन्दी है ऐसे आत्मा को निरजन कहते हैं, ऐसा ही निरजन मै हूं। इस

तरह अपने आत्मा की भावना करे। इन तीन गाथाओं में जो कुछ वर्णन, मार्गणा गुणस्थान, जीव समास, लेश्या, बंध व उदयस्थान आदि का है उनके ज्ञान के लिए पाठकों को श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती कृत गोम्मटसार जीवकांड में भले प्रकार पढ़कर जानना चाहिये। तब उनको यह भले प्रकार से दिखाई देगा कि कर्म पुद्-गल के संयोग से मेरे आत्मा की क्या २ अवस्थाएँ किस २ तरह होती है, और इससे संसार के नाटक का सब स्वरूप स्वयं प्रगट हो जायगा। आत्मा स्वभाव से संसारी नाटक के कर्तापने व भोक्तापने से रहित है। यह आत्मा अपने स्वाभाविक परिणाम का ही कर्ता व भोक्ता है। इस तरह निरंजन भगवान की भावना करनी चाहिये।

आगे के श्लोक में आत्मस्वरूप का अवलोकन करनेवाले योगी का निरूपण करते हैं।

अवन वर्द़ुके तां वर्दुकु जन्मवदे सफलं विशिष्टला- ।
भवुमदे सर्वसिद्धिगदु मोक्षमोदल् सविचारकोटिगे- ॥
ल्लवगेळदोंदे कट्टकडे तन्नोळे तन्नने ताने कंडु बा- ।
ळ्वनुळिदिर्दवगे भववेक्षणदिन्नपराजितेश्वर ! ॥११६॥

हे अपराजितेश्वर ! आत्मरत योगी का जीना ही सार्थक है अर्थात् उन्हीं का जन्म सफल है। वास्तविक लाभ भी वही है, आत्मध्यान ही सम्पूर्ण सिद्धि का मुख्य साधन है तथा

सभी विचारों का अंतिम विचार भी आत्मविचार ही है। आप अपने को अपने में ही देखकर बाह्य विचारों यानी विषय वासना के विचारों को त्यागे हुए योगी को अब दूसरा भव धारण करने का विचार क्यों होगा ? ॥११६॥

119 O, Aparajiteshwar ! Such a self-indulged Yogi's life is a success. It is his real benefit. Soul contemplation is the chief means to the realisation of highest purpose. The soul thought is the last thought of all thoughts. Seeing himself in his own soul leaving the external thinking why should a Yogi have the thought of next birth ?

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि ऊपर कहे हुए नियम के अनुसार ध्यान करनेवाले योगी का ही इस संसार में जीना वास्तविक जीना तथा उन्हीं का जन्म सफल है। आत्म लाभ ही विशेष लाभ है। एक आत्मस्वरूप में ही सम्पूर्ण सिद्धि है। आत्मा का ध्यान ही आत्मसिद्धि का मूल कारण है। आत्मविचार ही सम्पूर्ण विचारों का अन्त है। अत अपने को आप ही देखकर बाह्य विषयों के प्रति अपने विचार को बिल्कुल हटाकर अपने निजानन्द आत्मरस में लीन होनेवाले योगी को पुनः भव धारण करने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

जिस समय योगी अपने ध्यान में रत रहते हैं उस समय

ऐसा मालूम होता है कि मानो कोई श्रावक किसी निमंत्रित अतिथि को अपने घर में अनेक तरह का मिष्टान्न भोजन करा रहा हो। वह अनिथि वहुत स्वादिष्ट पादार्थ खाकर अपने को आप ही धन्यवाद मान रहा हो तथा परिपूर्ण मिष्टान्न से तृप्त होकर डकार ले रहा हो या स्वादिष्ट भोजन से अपने शरीर का भी ज्ञान भूल गया हो। ऐसे परम योगी अपने आत्मा से उत्पन्न हुये परमानन्दरस से तृप्त होकर वाह्य शरीरादि तथा इन्द्रियों की हलन चलन क्रिया को भूलकर एकाग्रता पूर्वक परमानन्द रस का स्वाद लेते हुए उसी मे तन्मय रहते हैं तव देखने वाले को ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों कोई जगल में सूखे हुए वृत्त की खूटी ही है। ऐसा समझकर अनेक सिंह, शार्दूल, नेवला, मोर, हरिण, गाय, सर्प, गरुड़ इत्यादि पशु पत्ती निर्ग्रन्थ योगिराज के शांतमयी ध्यानस्थ स्वरूप में मुग्ध होकर परस्पर में वैरभाव को छोड़कर क्रीड़ा करते हैं और शात मुद्रा से प्रसन्न होते हैं। जैसे कहा भी है कि —

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपातं ।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशात् केकिकान्ता भुजंगम् ॥
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति ।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं चीणमोहम् ॥२६

भावार्थः—चीण हो गया है मोह जिसका और शान्त हो गया है कलुष कषाय रूप मैल जिसका ऐसे समभावों में आरूढ़

हुए योगीश्वर का आश्रय करके हरिणी तो सिंह के बालक को अपने पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती व प्यार करती है, गऊ व्याघ्र के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से प्यार करती है, मार्जारी हंस के बच्चे को स्नेह की दृष्टि से वशीभूत होकर स्पर्श करती है तथा मयूरी सर्प के बच्चे को प्यार करती है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी जन्म से जो वैरी है उसको मदरहित होकर छोड़ देते हैं। यह साम्यभाव का ही प्रभाव है।

आगे के श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बताया है कि इस प्रकार एकाग्रता प्राप्त होनेवाला तपस्वी धन्य है—

तनुविनोळिर्द सिद्धसदृशात्मनीक्षिसुतंविशोधिसं-।
जनित दोळेननाडिदनदेल्लवुमागममेल्लरिच्चे हे- ॥
च्चिन कळेकर्मनिर्जरे जगत्रयवल्लभनप्प कज्ज वि- ।
न्निनितिर्तेंददर्के मितिमाडुरारपराजितेश्वरा ! ॥१२०॥

हे अपराजितेश्वर ! मेरे शरीर मे रहनेवाले मुक्तात्मा के समान आत्मा को देखते हुए विशुद्धि उत्पन्न होने के बाद आत्मरत योगी अपने मुंह से जो भी कहते हैं वे सभी शास्त्ररूप ही होते हैं, यह आत्मदर्शन सभी को अभीष्ट है। क्योंकि यह आत्मकला को विकसित करके कर्मों की निर्जरा तथा आत्मा को तीन लोक का प्रभु अर्थात् नाथ बनाने का काम करता है। ऐसे आत्मरत योगी की समता कौन कर सकता है ? ॥१२०॥

120. O, Aparajiteshwar ! Whatever word comes out from the mouth a Yogi who has attained to a great spiritual purity by 'contemplating himself as liberated soul, is the scripture itself. This spiritual contemplatson is beneficial to all as it works to evolve the soul destroying the karmas and places it to the sovereignty of three worlds. Who can limit the scope of his sovereignty ?

विवेचन—ग्रन्थकार कहते है कि जो अपने शरीर में स्थित आत्मस्वरूप को देखनेवाले तथा उसी में रत रहनेवाले योगी मुक्तात्मा के समान रहकर ऐसी भावना करते हैं कि मैं अवध्य हूँ, शद्ध हूँ, नित्य निरंजन हूँ, तथा परम निर्मल हूं तो उन्हें तीव्र विशुद्धि प्राप्त होती है और उसके प्रभाव से उस योगी के मुख से जो भी शब्द निकलें उन सभी शब्दों को आगमानुकूल ही समझना चाहिये। यह आत्मदर्शन प्राणी मात्र को अभीष्ट फल देनेवाला है तथा उनके कर्मों की निर्जरा करने के लिये अग्नि के समान है, ऐसा समझना चाहिये। तत्पश्चात् वे अपने तपोबल के द्वारा आत्मा को तीन लोक का प्रभु (स्वामी) बना देते हैं। तदनन्तर यह सिद्धात्मा कौन २ कार्य नहीं कराता, कौन २ कार्य कराता है तथा कितना कराता है, इस बात की कोई सीमा या अन्त नही है। भला इस का अन्त कौन जान सकता है ?

ऐसे आत्मज्ञानी महात्मा योगिराज को बाह्य वस्तु के लोकरजन से, आडम्बर से, पूजा, स्तुति, कीर्ति, लाभ तथा राजा महाराजा या चक्रवर्ती पद आदि से क्या प्रयोजन रहेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं ! ये अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रत्नत्रयस्वरूप आत्मिक साम्राज्य में लीन रहते हुए मोक्ष रूपी शिवरमणी के साथ सदा क्रीड़ा करते है। अर्थात् सदा मुक्तिश्री में मग्न रहते हैं। इसके अतिरिक्त बाह्य पर पदार्थों तथा लौकिक मनोरंजक वस्तुओं से उन्हे कोई प्रयोजन नहीं रहता । ये प्रत्येक वस्तुओं में समताभाव धारण करते है तथा इष्ट अनिष्ट रागद्वेष आदि को समान समझते हैं। कहा भी है कि—

> एकः पूजा रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः
> क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजंगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः ।
> तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
> साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥२७॥ ज्ञा०

भावार्थ—जिस मुनि की ऐसी वृत्ति हो कि—यदि कोई नम्रीभूत होकर पारिजात के पुष्पों से पूजा करे और कोई मनुष्य क्रुद्ध होकर मारने की इच्छा से गले में सर्प की माला पहनावे तो इन दोनों में ही सदा रागद्वेष रहित समभावरूपवृत्ति को धारण करे तो वही योगीश्वर समभावरूपी आराम में (क्रीड़ावन में) प्रवेश करता है और ऐसे समभावरूपी क्रीड़ावन में ही केवल ज्ञान के प्रकाश होने का अवकाश है।

नोऽरण्यान्नगरं न मित्रमहिताल्लोष्टान्न जाम्बूनदं-
न स्रग्दामभुजंगमान्न दृषदस्तल्पं शशाङ्कोज्ज्वलम् ।
यस्यान्तःकरणे बिभर्ति कलया नोत्कृष्टतामीषद-
प्यार्यास्तं परमोपशान्तपदवीमारूढमाचक्षते ॥२८॥

भावार्थ.—जिस मुनि के मन में वन से नगर, शत्रु से मित्र, लोष्ठ से कंचन (सुवर्ण) रस्सी व सर्प से पुष्पमाला, पाषाण-शिला से चन्द्रमा के समान उज्ज्वल शय्या, इत्यादिक पदार्थ अन्त.करण की कल्पना से किंचिन्मात्र भी उत्कृष्ट नहीं दीखते उस मुनि को आर्य सत्पुरुष परम उपशान्तरूप पदवीको प्राप्त हुआ कहते हैं। वनादिक से नगरादिक में कुछ भी उत्तमता जो नहीं मानते वे ही मुनि रागद्वेष रहित साम्यभाव युक्त हैं ।

सौधोत्संगे स्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुङ्कुमे वा ।
पल्यंके कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ॥
शीर्णांके दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तंविकल्पै
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासं ॥

भावार्थः—जिस मुनि का चित्त महलों के शिखर में और स्मशान में, तथा स्तुति और निंदाके विधान में, कीचड़ और केशर में, पल्यंक-शय्या और कांटा के अग्रभाग में पाषाण और चन्द्रकान्त मणिमें, चर्म और चीन देशीय रेशम के वस्त्रों में और क्षीण शरीर व सुन्दर स्त्री में, अतुल्य शान्त भाव के प्रभाव

या विकल्पों से स्पर्शन न करे, वही एक प्रवीण मुनि समभाव की लीला के विलास का अनुभव करता है अर्थात् वास्तविक समभाव ऐसे मुनि के ही जानना चाहिये।

चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवयोगतः ।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्यप्रतिष्ठितम् ॥३०॥

भावार्थ—यह प्रत्यक्ष अचल पर्वतो की श्रेणी कदाचित् चलायमान भी हो जाय तो आश्चर्य नहीं किन्तु साम्यभाव में प्रतिष्ठित मुनि का चित्त उपसर्गों से कदापि नहीं चलता, ऐसा लीन हो जाता है।

आगे ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी तपस्वी जहाँ जहाँ जायेंगे तहाँ २ तीर्थ ही तीर्थ हैं।

रवि नडेदत्तलेल्लवेळ गल्लदेकत्तले युंटेयात्मतत्व त- ।
त्त्रवे मनदल्लिनट्टु नुडिदातन मातुगळेल्ल मोक्षमा- ॥
र्गवे यवनेल्लि निंदनदु तीर्थववं नडेदत्त सर्वरु- ।
त्सवमिदु निन्न मार्गदरहस्य वला अपराजितेश्वरा ! ॥१२१

हे अपराजितेश्वर ! जहाँ जहाँ सूर्य सचार करते हैं तहाँ-तहाँ दिव्य प्रकाश के अलावा क्या अधकार होगा ? कभी नहीं। उसी प्रकार आत्मस्वरूपी प्रकाश जिनके हृदय में स्थित है ऐसे योगी की सभी शब्द वर्गणा मोक्षमार्ग ही है और वे योगी कहीं भी रहे या कहीं भी विहार करें वहां सर्वत्र तीर्थ स्थान व

उत्सव ही उत्सव है। यह आप का इंगित मार्ग नहीं है क्या'? अवश्य है ॥१२१॥

121. O, Aparajiteshwar ! Whenever the sun shines will twere he darkness except light ? In the same way whatever word comes out from a yogi, who is established in his soul-nature, is the path of liberation itself, wherever that Yogi lives is the place of piligrimage itself, wherever that yogi goes there spreads allround happiness. Is this not what you said ?

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसे सूर्य जहाँ २ जायेगा तहाँ २ प्रकाश ही प्रकाश पड़ता जायेगा उसी तरह परम तपस्वी आत्मज्ञानी के तेज पुंज से सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है तथा उनके मुख से निकले हुये उपदेशामृत प्रत्यक्ष मोक्ष मार्ग को दिखलाने वाले होते हैं। वे कहीं भी जायं कहीं भी रहें पर सर्वत्र उत्सव ही उत्सव रहता है। वे जहाँ २ भ्रमण करते हैं वहां वहाँ की सारी पृथ्वी तीर्थ रूप हो जाती है। जहाँ भी वे जायं वहाँ लोगों के लिए तीर्थ मन्दिर या स्वर्ग के समान हो जाते हैं अधिक क्या कहें ? इस तरह सारी वसुन्धरा उनके पावन चरणरज पडने से ही पुनीत हो जाती है। हे भगवन् ! यह सारी महिमा आपके उपदेश का ही फल है, यह गूढतत्त्व है। इस तत्त्व को जो मानव आप की आराधना या आचरण करके

रुचिपूर्वक हृदय में धारण कर लिया है उसी को आप की गूढ़ बातों का ज्ञान हो जाता है और वही आप के समान परम पद को प्राप्त कर सकता है। जिन्होंने आप के मार्ग का गूढ़ तत्त्व नहीं समझा वे व्यर्थ ही झूठा परिश्रम करके ससार चक्र में परिभ्रमण किया करते हैं। उनके व्रत नियम कभी फलदायक नहीं होते और वे मनमाने आचरण करते हुए दुर्गतियों में जाकर अनन्त काल पर्यन्त दुःख भोगते रहते हैं। परन्तु ज्ञानी की जितनी भक्ति आप के प्रति होती है वह सभी श्रद्धापूर्वक होती है और अज्ञानी का शास्त्र स्वाध्याय, पठन-पाठन आदि सभी झूठे ही रहते हैं। जहां आप के प्रति बिना ध्यान से भक्ति होती है वे स्वयमेव अपनी आत्मा को धोखा देकर अन्य को भी धोखा देते हैं। ऐसे जीव शास्त्र की चर्चा भी करते है पर उनका ज्ञान सिर्फ बाह्य ही होता है भीतर नहीं जा पाता। जैसे पत्थर के ऊपर यदि पानी डाला जाय तो वह पानी भीतर न जाकर बाहर ही निकल जाता है उसी तरह अज्ञानी मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा की सभी क्रिया व्यर्थ ही व्यर्थ रहती है जसे कहा भी है कि,—

कुरुते गगासागरगमनं व्रतप्रतिपालनमथवादानं ।
ज्ञानविहीनं सर्वगतेन मुक्तिर्न भवति जन्म शतेन ॥

गगासागर में स्नान करने से या गमन करने से, व्रत का परिपालन करने से अथवा दान देने से सच्चे आत्मा का श्रद्धान

ज्ञान के बिना हजारों वार जन्म लेने पर भी मुक्ति नहीं होती, यह सर्वसमत सिद्धान्त है।

इसीलिये हे भगवन्! आपके अनेकांतात्मक गूढ मार्ग के तत्वको अन्य ज्ञानी जीव ही जान सकता है, अन्य मिथ्यादृष्टी वहिरात्मा नहीं जान सकता। यह वात नितांत सिद्ध है। वे आप के मार्ग की प्राप्ति करने में सदा असमर्थ व प्रमादी वने रहते हैं। तत्त्वसार टीका में कहा भी है कि—प्रमादी मानवों का वचन.

संका कारंवा गहिया विसयवसत्थासुमग्गपब्भट्ठा।
एवं भणंति केईणहु कालो होई झाणस्स ॥१४॥

कितने ही शका शील मानवविषय सुखके प्रेमी, विषय भोगों में आशक्त, विषय भोगो में अपना हित माननेवाले, सुमार्ग रत्नत्रयमयी धर्म से भ्रष्ट होकर कहते हैं कि यह आत्मध्यान करने का काल ही नहीं है।

भावार्थ —कितने ही मानव केवल शास्त्रों की जानकारी व तत्त्वचर्चा करके ही सतोप मानकर वैठ जाते हैं, यानी आत्मध्यान करने का पुरुपार्थ नहीं करते हैं। जव कोई कहता है कि आप आत्मध्यान क्यों नहीं करते? तब उत्तर देते हैं कि यह तो दु:खमा पंचम काल है। इसमे कहाँ से ध्यान होगा? इतनी शक्ति कहा से आयेगी व मोक्ष कहा से होगा अर्थात् इस काल मे मोक्ष

भी नहीं है। और जहां मोक्ष नहीं है तहां मुनि भी इस काल में नहीं होते हैं व ध्यान भी नहीं बन सकता, इसलिये हम मुनि को नमस्कार भी नहीं करते। इस पचमकाल में अणुव्रत व महाव्रत कुछ भी नहीं है, इसलिये जितने भी व्रती ब्रह्मचारी श्रावक तथा मुनि हैं वे सभी मिथ्यादृष्टी हैं। इस काल मे सम्यग्दृष्टी नहीं हैं। इस तरह मिथ्या आरोप देव गुरु शास्त्र पर लगाते रहते हैं और अपने को ज्ञानी तथा पण्डित मानकर अपने माने हुए मनगढ़त से भोले अज्ञानी जीवों पर प्रभाव डालकर अपने स्वार्थ का साध लेते हैं। कोई एक अध्यात्मवाद को पकड़कर व्यवहार धर्म का लोप कर देता है और कोई व्यवहार को पकड़कर निश्चय का लोप कर देता है। व्रत का नाम लेते ही उनकी आखें लाल २ हो जाती हैं। खाने पीने मे अभक्ष्य वस्तुओं के छोड़ने के लिये कहते हैं कि छोड़ने से क्या होता है। आत्मज्ञान का श्रद्धान व भाव शुद्ध होना चाहिये छोडने ओड़ने से कुछ लाभ नहीं। यह सब आडम्बर पुद्गलमय है। पुद्गल ही खाता और पीता है, इसमें मेरे आत्मा का कुछ भी नुकसान नहीं है। मैं इससे अलग हूँ मुझसे क्या मतलब? ऐसे प्रमादी मानव बकवाद करके भगवान् जिनेन्द्रदेव के वचनों का लोपकर अपनी मानी हुई बात का समर्थन करके अपनी विषय वासनाओं की पुष्टि कर लेते है और उनके आश्रित रहनेवाले अन्य जीवों को भी चारित्र से गिराकर अपने माने हुए मत की तरफ खींच लेते हैं। इस तरह प्रमादी मनुष्य दुनिया में अपनी ढोल बजाकर सच्चे

भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए रत्नत्रय धर्म मार्ग का लोप कर देते हैं।

परन्तु इस दु:पमा पचम काल में भी मुनि और श्रावक होते चले आये हैं और इसी प्रकार आगे भी होते रहेंगे। पंचम काल के अन्त तक मुनि धर्म रहेगा, ऐसा योगीन्द्र आचार्य ने परमात्मप्रकाश मे कहा है उसे देख कर शका नहीं करनी चाहिये। भगवान के वचन में शका करना महापाप है। परन्तु इसको न माननेवाले प्रमादी मानव जिनको पूर्ण श्रद्धान रत्नत्रय धम का नहीं है वे हमेशा उनके वचनों का उल्लघन कर ससार सागर में भ्रमण किया करते हैं।

जिनके हृदय में आत्मा तथा परमात्मा के अस्तित्व में ही शका है या जिनको विपय सुख की आकांक्षा या तृष्णा लगी हुई है, जो आत्म सुखकी श्रद्धा नहीं रखते है,जो विपय सुखको ही ग्रहण करने योग्य माने हुए हैं तथा जो विपय भोगों की सुन्दर सामग्री एकत्रित करते रहते हैं व विपय भोगों मे यानी खाने पहनने आदि में लीन रहते हैं, ऐसे मनुष्य सदा संसार मे परिभ्रमण करके अनन्त काल तक कष्ट उठाया करते हैं।

वास्तव में ऐसे मानव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट हैं, ऐसा समझना चाहिये। ऐसे अज्ञानी ऊपर से अपने को धर्मात्मा मान बैठते हैं तथा अपने को तत्त्वज्ञानी का अहकार करते हैं, परन्तु ये वास्तव में तत्वज्ञान से शून्य केवल

विपयाशक्त प्रमादी ही है । जिनको सम्यग्दर्शन का लाभ होगा वह सदा ही स्वानुभव का प्रेमी रहेगा और गृहस्थावस्था में भी जब अवसर मिलेगा तब वह स्वानुभव के लाभके लिये आत्माका ध्यान करता रहेगा, सम्यग्ज्ञानी इस काल मे भी आत्मकल्याण कर सकता है। प्रमाद यथार्थ कार्य की सिद्धि का विरोधी है। विषय भोगोंकी आशक्ति ध्यान मे वाधक है। अत. जो सच्चा सम्यक्त्वी होगा वह नि शकित व नि कांक्षित अग का नियमित रूप से पालने-वाला होगा। वह आत्मा की प्रभावना करने का उद्योग सतत करता रहेगा। अतएव वह कभी ऐसा वचन कहकर अपने को व दूसरे को धोखा नहीं दे सकता । तत्त्वानुशासन में श्री नागसेन मुनि ने कहा है कि:—

येऽत्राहुर्न हि कालोयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ।
तेऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं ॥८२॥

भावार्थ—जो ऐसा कहते हैं कि यह काल ध्यान करने योग्य नहीं है, वे अपने कथन सेस्वय प्रगट करते हैं कि वे श्री जिनेन्द्र-देव के मत को नहीं जानते हैं।

ऐसा कहनेवाले नास्तिकवादियों का समाधान करने के लिये तत्त्वसार के कर्ता देवसेन आचार्य कहते हैं कि—

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं ।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं ॥१५॥

आज भी इस पचम काल के मध्य में लोकवासी मानव आत्मा का ध्यान करके स्वर्ग लोक में जा सकते हैं। वहाँ से च्युत होकर मानव पर्याय मे उत्पन्न होकर निर्वाण पद को प्राप्त कर सकते हैं।

भावार्थ.—पंचम काल में तीन शुभ सहनन नहीं हैं अर्थात् मानवों की हड्डी वज्रवृषभनाराच, वज्रनराच या संहनन रूप नहीं है। तीन उत्तम संहननधारी ही उपशम श्रेणी पर चढ़कर आठवे गुणस्थान पर जा सकते हैं। आजकल तीन हीन सहनन है। इसलिये सातवें गुणस्थान तक ही जाना सभव है। अप्रमत्त स्थान तक पूर्ण धर्म ध्यान है। आगे जो शुक्ल ध्यान है, सो नहीं है। धर्म ध्यान में आत्मा का ध्यान भले प्रकार से किया जा सकता है। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान से धर्म ध्यान या आत्मध्यान हो सकता है। इस धर्म ध्यान में शुभोपयोग मंद कषाय केउदय से गर्भित भी है। इससे विशेष पुण्य का वन्ध कर सकता है और यह जीव स्वर्ग में उत्तम देव हो सकता है। वहाँ से चौथे काल मे उत्पन्न होकर मानव भव से तप साधन कर कर्मों का क्षय करके निर्वाणपद का लाभ कर सकता है।

इसलिये आज भी परम्परा से निर्वाण का भाजन वही होगा जो कि निश्चिंत होकर आत्मध्यान का अभ्यास करता रहेगा। अतएव प्रमाद को दूर कर निर्विकल्प तत्त्व जो-निज शुद्धात्मा है उसको शुद्ध निश्चय नय के द्वारा लक्ष्य में लेकर सद्भावना के

द्वारा स्थिर करनेका या स्वानुभव के लाभका यत्न करना आवश्यक है, जिससे कि स्वात्मानन्दका लाभ हो सके। सम्यक्त्वी कभी भी प्रमादी नहीं होता है, वह सदा निज सुख के स्वाद का प्रयत्न करता रहता है। श्री नागसेन मुनि भी कहते हैं कि:—

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुःश्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनां ॥८३
यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकं ॥८४
ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य श्रुतसागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥८५
चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य सम्प्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥ ८६
सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतं।
धारणासौष्ठवाद्ध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥ ८७
यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि।
तथाध्यानमपि स्थैर्यं लभते ऽभ्यासवर्त्तिनां ॥ ८८

भावार्थ —श्री जिनेन्द्रदेव ने इस पचमकाल में केवल शुक्ल ध्यान का अभाव बताया है। उपशम क्षपक श्रेणियों के नीचे रहने वाले को धर्मध्यान का होना निषेध नहीं किया है। वज्रकाय-धारियों को ध्यान होता है, ऐसा आगम में कहा है। वह वज्र

कायधारियों की अपेक्षा से कहा है, नीचे के तीन सहननवालों की अपेक्षा से नहीं। यद्यपि आजकल श्रुतकेवली के समान आत्मा के ध्याता मुनि नहीं हो सकते, तो भी क्या अल्प श्रुतज्ञाताओं को अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान न करना चाहिये ? अवश्य ही करना चाहिये।

यद्यपि आजकल यथास्थान चारित्र के स्मरण करनेवाले नहीं हो सकते, तो क्या दूसरे तपस्वियों को यथाशक्ति चारित्र नहीं पालना चाहिये ? अवश्य पालना चाहिये। जो कोई साधक भले प्रकार के गुरु उपदेश से आत्मध्यान का अभ्यास निरन्तर करता रहेगा और उसकी धारणा उत्तम हो जायगी तो वह अनेक चमत्कारों को भी देख सकेगा।

जैसे बड़े २ शास्त्र भी अभ्यास के बल से बुद्धि में समझे जाते हैं वैसे ही अभ्यास करनेवालों का ध्यान भी स्थिर हो जाता है ॥१२१॥

आगे ग्रन्थकार कहते हैं कि संसारी अज्ञानी जीवों को सच्चे आत्मतत्त्व का मार्ग भगवान् ने ही बतलाया है।

अरिद्नोल्दु कैविडिरारिद्नीत्तिसिदर यथार्थ दि- ।
दारिदरल्लिये लयवनेय्दि निजवडेदर् जगक्किदुं ॥
आरु शासनं गोळासिदर् जिननीमे जगत्रयैक त्रि -।
रत्तारित वस्तुवं वेळगिदै कृपेयिदंपराजितेश्वरा ! ॥१२२॥

हे अपराजितेश्वर ! इस आत्मस्वरूप के यथार्थ तत्त्व को भक्ति के साथ किस ने देखा, देखकर किसने ग्रहण किया, आत्म तत्त्व में मग्न होकर अपने निजात्मा को किसने प्राप्त किया तथा जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मस्वरूप का तत्त्व किसने समझा दिया ? तो इसका एक मात्र उत्तर यही है कि हे त्रैलोक्याधिपति जिनेन्द्र भगवन् ! उपर्युक्त सभी कार्यों में ज्ञाता द्रष्टा होने के कारण आप ही समर्थ हैं तथा जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को आप अपनी दया दृष्टि से प्रकाशित करनेवाले हैं ॥१२२॥

122. O, Aparajiteshwar ! Who has adopeted this soul naturi with a great absorption, has attained his pure nature after being absorbed in it and has made the world understood its truth ? He is you, O, Jainedra Deva.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे भगवन् ! इस आत्मस्वरूप को पहचानकर प्रेम से कौन ग्रहण किया ? और कौन व्यक्त में लाया ? आत्मस्वरूप जैसा है तैसे को किसने देखा ? व देख कर इस आत्मतत्त्व में ही रत होकर निजात्मा की प्राप्ति किसने कर लिया ? ससार सागर में डूबनेवाले तीनों लोक के अज्ञानी मानव प्राणी को आत्मतत्त्व का बोध किसने किया अर्थात् कौन आत्मतत्त्व का उपदेश देकर संसार से पार लगाया ? तथा तीन लोक का मुख्य अधिपति कौन हुआ ? हे जिनेन्द्र देव ! सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान आपने ही कराया, आप की दया से ही सम्पूर्ण

जगत् के पदार्थों का प्रकाश हुआ है। अन्य कौन प्रकाशन में समर्थ है? कोई नहीं।

हे नाथ! आप ही ने सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मध्यान की प्रेरणा कराके आध्यात्म प्राप्ति का मार्ग सुलभ करके वतलाया है। अतः हे ससारी भव्य प्राणियो! भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुये आत्मध्यान का साधन करो। इस काल में भले प्रकार धर्म हो सकता है, भगवान् जिनेन्द्र देव की वाणी पर विश्वास रक्खो।

धर्म ध्यान की प्रेरणा—

तम्मा अब्भसउ सयामुत्तूणं राय दोसवामोहो।
झायउ णियअप्पाणं जइ इच्छइ सासये सुक्खं ॥१६॥

हे भव्य मानव प्राणी! यदि तुम अविनाशी व अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करना चाहते हो तो रागद्वेष मोह को छोड़कर सदा आत्मा का अभ्यास करो और अपने ही अन्दर आत्मा को ध्यावो, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

भावार्थ—इस कलिकाल में भले प्रकार धर्म ध्यान हो सकता है, ऐसा निश्चय करके हरएक श्रद्धावान् गृहस्थ या साधु चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, को उचित है कि अपने ही आत्मा के भीतर विराजमान सच्चे आत्मिक अविनाशी सुख का स्वाद लेने का उत्सव करे। परम धर्मानुरागी होकर अपने ही शुद्धात्मा और उपयोग को स्थिर करने का या स्वानुभव करने का अभ्यास करे।

आत्मा के ध्यान की प्राप्ति के लिये ज्ञान वैराग्य की जरूरत है। आत्मा व अनात्मा का सच्चा भेदविज्ञान व सम्यग्ज्ञान होना चाहिए जिससे कि यह मालूम हो सके कि मैं आत्मद्रव्य सबसे भिन्न एकाकी ज्ञानानन्द आदि गुणों का अखण्ड पिण्ड हूँ।

रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म तथा शरीरादि नौ कर्म से मैं सर्वथा भिन्न सिद्ध के समान परम शुद्ध हूँ। ऐसा वैराग्य होना चाहिये कि मुझे सिवाय निर्वाण के अन्य किसी क्षणिक इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद या नागेन्द्र, देवेंद्र इत्यादि पद की लालसा नहीं है। सासारिक शरीर भोगों से पूर्ण वैराग्यभाव होना चाहिये। जब पर को पर जान लिया तब पर से ज्ञानी को राग कैसे हो सकता है? ज्ञानी निज आत्मा के दुर्ग को ही अपना निज वास या निज स्थान व उत्तम ठिकाना जानता है। यह ज्ञान वैराग्य गृहस्थ अविरत सम्यग्दृष्टी को भी होता है। वह घर में रहने पर भी जल में कमल के समान अलिप्त रहता है। कषायो के उदय को रोग जानकर आत्मबल की न्यूनता के कारण गृहस्थ न्याय पूर्वक भोगों को भोगता है, परन्तु उसका लक्ष्य आत्मानन्द के भोग में ही वना रहता है। जैसे कोई छात्र विद्या पढ़ना नहीं चाहता है, क्रीड़ा का रुचिवान रहता है तथापि माता पिता के दवाव से विद्या पढ़ता है व परीक्षा में उत्तीर्ण भी होता है। उसी तरह सम्यग्ज्ञानी आत्मा के भीतर रमण करने का प्रेमी होता है, तो भी कषाय के वश रुचि न होने पर भी उसे गृहस्थ के सर्व

कार्य उत्तम प्रकार से करने पड़ते हैं। जैसे बालक अवसर पाते ही खेल में लग जाता है, क्योंकि पढ़ने की अपेक्षा खेलने में उस की गाढ़ रुचि रहती है उसी तरह सम्यग्दृष्टी अवसर पाते ही आत्मा के ध्यान के अभ्यास में लग जाता है।

ध्यानी को रागद्वेष मोह का त्यागने की जरूरत है। उसे व्यवहार नय को गौण करके निश्चत नय की मुख्यता से देखने का अभ्यास करना चाहिये। इस निश्चयदृष्टि में सभी सिद्ध व ससारी जीव जब एक समान शुद्ध द्रव्य दिखाई पड़ेंगे तब राग-द्वेष मोह का कोई निमित्त ही नहीं रहेगा। सम भावका अभ्यास रखना ही ध्यान का साधन है। दु ख व सुख के कारण मिलने पर भी ध्यानी को कर्मों का उदय विचार कर समभावी रहना योग्य है। इस तरह भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ आत्मसाधन का मार्ग या सच्चा तत्त्व है, इस तत्त्व पर सभी की रुचि होना बहुत ही मुश्किल है। इस तत्त्व को भव्य जीव ही पा सकते हैं अन्य नहीं। इस लिये आत्म साधन का मार्ग संसार सागर में डूबते हुए जीवमात्र को बताने के कारण भगवान् जिनेन्द्र देव परम उपकारी व दयालु हैं। इसलिये हे भगवन्! तीनों लोकों के जीवों के लिये आप ही उत्तम देव हैं। ॥१२२॥

अगले श्लोक मे भगवान् सभी में उत्तम हैं ऐसा कहते हैं।

चेलुवर चेल्व चेन्निगर चेन्न सुवीरर वीर सत्कला-।
बलर बलाढ्य बल्लिदर बल्लह देवरदेव नीति नि- ॥

**मलर निधान निच्च भद्मक्कळ माणिक्कांति शांति शी-
तलर शिरोमणी निनगे पासटियारपराजितेश्वरा ! ॥१२३॥**

हे अपराजितेश्वर ! तीनों लोकके उत्तमोत्तमों में उत्तम, सुन्दरों में सुन्दर, महावीरों में वीर, विद्वानों में विद्वान्, कलाकारों में कलाकार, विशेषज्ञों में विशेषज्ञ, ज्ञानियों में ज्ञानी, देवों में देव, नीतिज्ञों में नीतिज्ञ, आत्मनिर्मलों में निर्मल तथा श्रेष्ठ गुणों में आप ही सर्व श्रेष्ठ पुराण पुरुषोत्तम हैं। हे नाथ ! जिस प्रकार छोटे वालकों को रत्न परमप्रिय लगता है तथा वे उसे सर्वदा अपने पास रखना चाहते हैं उसी प्रकार आप भव्य जीवों के लिये परम प्रिय हैं तथा वे आप को अपने हृदयकमल में सदा विराजमान रखने की भावना किया करते हैं। उत्तम क्षमा गुणों से शान्त स्वरूपवाले आप ही रत्न शिरोमणि हैं। भला आपके समान अन्य कौन हो सकता है ? ॥१२३॥

123. O, Aparajiteshwar ! You are the best in the best, most beautiful in the beautiful, most brave in the braves, most learned in the learness, most intellegent in the intelligents, highest knowelrse in the knowers, highest deity in the deities, purest in the pures. You are the Adi-Purush (first ancestor), the only object of our devotion and love, the forehead of all for-giving and peaceful people. Who is else like you ?

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे भगवन्! आप सर्वोत्तम हैं। ससार के सुन्दर पदार्थों में आप से बढ़कर कोई अन्य सुन्दर पदार्थ नहीं है। तेजस्वी महावीर महायोद्धाओं मे आप ही महा योद्धा कहलाते हैं। उत्तमोत्तम अनेक विद्या या चातुर्यों मे आप विद्वान् वा चतुर हैं। संपूर्ण कलाओं में आप ही कलावान् कहलाते है। सभी ज्ञानियों में आप ही त्रिकालज्ञ या त्रिकालदर्शी कहलाते हैं। सम्पूर्ण देवों में आप ही देवाधिदेव महादेव हैं। नीति या न्याय संपूर्ण निर्मल गुणो में आप ही निर्मल गुणवाले हैं। सर्व पुरुषों में आप ही प्रधान पुरुष हैं। जैसे छोटे बच्चे के लिए मोती और माणिक्य रत्न व रत्नों के खिलौने अधिक प्यारे होते हैं और उसी के खेल में वे मग्न होकर अन्य वस्तुओं को भूल जाते हैं उसी तरह सम्पूर्ण संसारी प्राणी के लिये आप रत्न, मोती या मणिक्य के खिलौने के समान हैं तथा आप जिन जीवों के हृदय में प्रवेश करेंगे वे आपके साथ ही खिलौनेके समान खेल में रत हो जायेंगे। आप अज्ञानी जीवों के हृदय को प्रकाशित करते रहते हैं और क्षमागुणों से शान्ति होनेवाले सम्पूर्ण भव्य प्राणियों के लिए शिरोमणि हैं। इसलिये हे जिनेन्द्र देव! हे वीतराग प्रभो! आप के समान इस संसार में अन्य कौन होगा? कोई नहीं। प्रबुद्ध भी आप ही हैं जैसे कि कहा भी है कि—

प्रत्यागात्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदयः।
परमात्मा प्रशान्तात्मा परमात्मात्मनिकेतनः ॥२२॥

प्रबुद्धात्मा—प्रबुद्धः प्रकर्षेण केवलज्ञान सहित आत्माजीवो यस्य सः प्रबुद्धात्मा। प्रबुद्ध अर्थात जिनकी आत्मा केवल ज्ञान की ज्योति से युक्त है वही प्रबुद्ध भगवान जिनेन्द्र शुद्धात्मा है। महात्मा—महान् केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापकः आत्मा यस्य स महात्मा। महान् केवलज्ञान से लोक और आलोक मे व्यापक है आत्मा जिसका वही महात्मा है । आत्ममहोदय —आत्मनो महानुदयो यस्य स आत्ममहोदय., कदाचिदपि न ज्ञानरहित इत्यर्थ। जिस आत्मा का महान उदय है वही आत्ममहोदय है अर्थात् वह कभी भी ज्ञान से रहित नहीं होता । परमात्मा परम उत्कृष्टः केवल ज्ञानी आत्मा जीवो यस्य सः परमात्मा। जो आत्मा परम है, ऊँचा है, केवल ज्ञान युक्त है, व जीववाला है वही आत्मा परमात्मा है। प्रशान्तात्मा—प्रशान्तो घातिकर्मक्षयवान् आत्मा यस्य सः प्रशान्तात्मा। जो आत्मा प्रशान्त है अर्थात् घातिकर्म को क्षय करनेवाला है वही प्रशान्तात्मा है। परात्मा—पर उत्कृष्टः केवलज्ञानोपेतत्वात् परात्मा। दूसरों से उच्च अर्थात् केवलज्ञान के हेतु उच्चात्मा ही परात्मा है अथवा एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी हैं उन सबको निश्चय से समान समझनेवाली आत्मा परात्मा है।

परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठितः।
ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निरूढात्मा दृढात्मदृक् ॥२३॥

परमेष्ठीः—परमे उत्कृष्टे इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र गणीन्द्रादिवंदिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी।

परम तथा उत्कृष्ट इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र, गणेन्द्र आदि द्वारा जिनके चरणों में नमस्कार है वे ही परमेष्ठी कहलाते हैं और जिनकी आत्मा अतिशय युक्त होकर महान् है वेही महिष्ठात्मा हैं। अथवा अष्टम भूमि पर विचरनेवाला आत्मा महिष्ठात्मा है। श्रेष्ठात्मा-अतिशयेन प्रशस्य. श्रेष्ठः अथवा अतिशयेन वृद्धः लोकालोकव्यापी श्रेष्ठ.। श्रेष्ठ. आत्मा यस्येति श्रेष्ठात्मा, केवल ज्ञानापेक्षया सर्वव्यापिजीवस्वरूप इत्यर्थ.। अतिशय से श्रेष्ठ तथा प्रशान्त अथवा अतिशय से वृद्ध लोक अलोक में व्याप्त है श्रेष्ठ आत्म जिसका वही श्रेष्ठात्मा है, केवलज्ञानकी अपेक्षासे व्यापी है, यह भावार्थ है। स्वात्मनिष्ठित —स्वात्मनि निजशुद्धबुद्धैकस्वरूपे अतिशयेन स्थितः स्वात्मनिष्ठितः। जो स्वात्मनिज शुद्ध वुद्ध एकत्व रूप मे स्थित है वही स्वात्मनिष्ठ शुद्धात्मा है। ब्रह्मनिष्ठः —केवलज्ञान रूपी अतिशय से जो ब्रह्म में स्थित है वही ब्रह्मनिष्ठ है। महानिष्ठ.—महती निष्ठा स्थिति. क्रिया यथाख्यातचारित्र यस्येति महानिष्ठः परमौदासीनतां प्राप्त इत्यर्थ.। चारित्र मे जिस प्रकार प्रतिपादित किया गया है तदनुसार वहुत वड़ी निष्ठा स्थिति व क्रिया है जिसकी वह महानिष्ठ कहलाता है। अर्थात् परम उदासीनता प्राप्त हुई है जिसे वही महानिष्ठ है। सार्व —सर्वेभ्यः सद्दृष्टिमिथ्यादृष्टिभ्यः एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय

चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रिय-सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तलब्धपर्याप्तादिजीवानां हितः सार्वः, सर्वप्राणिवर्गहितोपदेष्टकत्वात्। सम्पूर्ण सद्-दृष्टि मिथ्यादृष्टि, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय सूक्ष्म बादर पर्याप्त अपर्याप्त तथा लब्ध पर्याप्त आदि जीवों के लिए जो हितकारी है वही सार्व है सर्वविद्येश्वर —सर्वा चासौ विद्या सर्वविद्या, सकलविमलकेवलज्ञानम्, तस्या ईश्वर. स्वामी सर्वविद्येश्वरः। अथवा सर्वा विद्या विद्यन्ते येषां ते सर्वविद्या श्रुतकेवलिगणधरदेवानगार केवलिन. तेषामीश्वर. सर्वविद्येश्वरः अथवा सर्वासु विद्यासु स्वसमय परसमय सम्बन्धिनीषु विद्यासु लोकप्रसिद्धासु चतुर्दशसु ईश्वर. समर्थः सर्वविद्येश्वर । सम्पूर्ण विद्या,सकल विमल केवलज्ञान के ईश्वर सर्व विद्येश्वर कहलाते हैं अथवा सर्व विद्यायें हैं जिनके वे सर्वविद्या हैं यानी श्रुतकेवली गणधर अनगार केवली के ईश्वर सर्वविद्येश्वर कहलाते हैं। अथवा [स्वसमय परसमय लोकप्रसिद्ध समस्त विद्याओं के जानने में जो सबसे अधिक समर्थ (ज्ञाता) है वह सर्व विद्येश्वर कहलाता है।

प्रश्नः—वे सर्व विद्यायें कौन २ सी हैं ?

उत्तर —एकादश अग, चौदह पूर्व व चौदह प्रकीर्ण सर्व विद्यायें है।

प्रश्न·—चौदह विद्यायें कौन २ है ?

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द निरुक्त ये छः अंग

हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद, ये चार वेद कहलाते हैं। मीमासा, पूर्वमीमांसा, एक मीमासा, तथा न्याय का विस्तार नीति शास्त्र, धर्म शास्त्र, अट्ठारह स्मृतियां तथा अट्ठारह पुराण तिनके अन्त भेद लोक से जानना चाहिये।

आगेके श्लोकमें यह कहते हैं कि हे भगवन्! ये सभी आपके ही नाम हैं अन्य किसीके भी नाम नहीं हैं। इसलिये लोकमें आप एक समर्थ और चतुर हैं। अन्य कोई भी नहीं है। इसलिये मुझे आप ही की शरण है।

आगे—ग्रन्थकार अपनी लघुता बतलाते हैं:—

जडमतियैसे नां परम निन्न गुणंगळ नेल्लमं मनं- ।
त्रिडिये समर्थनल्लेनदरिं किरिद षिडिदिर्पे नेते वल् ॥
कोडदोळगेष्टु निल्वद्दु समुद्रजलं वरकांचनाद्रिक- ।
न्नडि योळगेष्टु तोपुदवधारिसु नीनपराजितेश्वरा ! ॥१२४

हे अपराजितेश्वर! आप हमारी विनीत प्रार्थना सुनने की कृपा करें। हे नाथ! मैं वहुत अल्पज्ञ हू, जिससे कि आपके अपार गुणों को समझने में सर्वथा असमर्थ हूं। जिस प्रकार घड के थोडे से जलमें सूर्य व चन्द्रमा का प्रकाश तथा दर्पण में विशाल सुमेरु पर्वत का प्रतिविम्ब दिखाई देता है उसी प्रकार हे भगवन्! मैं भी आप के अगाध गुणों में से थोड़ा सा गुण ग्रहण कर सका हूँ ॥१२४॥

124. O, Aparajiteshwar ! Listen my humble request that I am a man of little intelligence unable to understand your all the qualities. How much water fills in the pitcher how much a mirror can reflect of Meru mountain? A little. So too I have grasped a litte of your qualities.

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में भगवान् के प्रति अपनी लघुता बतलाते हुए कहा है कि.—

हे भगवन् ! मेरी तरफ लक्ष्य देकर सुनो ! कि मैं अत्यन्त मंद बुद्धिवाला तथा आपके सम्पूर्ण गुणों को जानने मे मैं सर्वथा असमर्थ हूँ । घड़े मे पानी कितना समा सकता है ? और दर्पण में विशाल पर्वत कितना दीखेगा ? अर्थात् बहुत ही अल्प दीखेगा उसी तरह मेरे हृदय में आपका महान् स्वरूप भी बहुत अल्प दीखता है । उसी को मैने अल्प बुद्धि के द्वारा थोड़ा सा ग्रहण किया है ।

श्रुत पारग इंद्रादिक देव, जाकी थुति कीनी कर सेव ।
शब्द मनोहर अरथ विशाल, तिस प्रभुकी बरनों गुनमाल ॥
विबुधवन्द्य पद मैं मतिहीन, होय निर्लज्ज थुति मनसाकीन ।
जल प्रतिबिंब बुद्ध को गहे, शशि मंडल बालक हो चहै ॥
गुन समुद्र तुम गुन अविकार, कहत न सुरगुरु पावे पार ।
प्रलय पवन उद्धत जलजंतु, जलधि तिरै को भुज बलवन्तु ॥

सो मैं शक्तिहीन थुति करूँ, भक्तिभाव वश कुछ नहीं डरूँ।
ज्यों मृगि निज सुत पालन हेत, मृगपति सन्मुख जाय अचेत॥
मैं शठ सुधी हंसन को धाम, मुझ तव भक्ति वुलावे राम।
ज्यों पिक अंब कली परभाव मधु ऋतु मधुर करै आराव॥

हे भगवन् ! श्रुत शास्त्र में पारगत इन्द्रादिक देव मनोहर शब्दों के साथ जिनका अर्थ विशाल है ऐसे आप की स्तुति करते है। ऐसे प्रभु की स्तुति मै (मानतुगं आचार्य) अनज्ञ निर्लज्ज होकर इस प्रकार करता हूं कि जिस प्रकार एक वालक जल में प्रतिविम्वित चन्द्रमा को देखकर मूर्खता व निर्लज्जता के कारण उसे पकड़ने की कोशिश करता है। आचार्य आगे कहते हैं कि हे भगवन् ! आपके गुण रूपी समुद्र जिसमें कोई विकार नहीं है उसका वर्णन करते हुए देवताओं के इन्द्र भी जव पार नहीं पाते हैं तव मैं अल्पज्ञानी कैसे पा सकता हूँ ? जिस समुद्र में भयानक जलचर ठसाठस भरे हुए हैं और जो प्रलय काल के पवन से वड़ी २ हिलोरें लेता है उसे तैरने में कौन समर्थ हो सकता है ? आचार्य मानतुग आगे चलकर अपने आप को भगवान् की भक्ति तक के अयोग्य समझते हैं और कहते हैं कि हे भगवन् ! मुझ में आपकी स्तुति करने की शक्ति नहीं है। फिर भी मैं भक्ति के वश में आकर आपकी स्तुति करने से उसी प्रकार नहीं डरता हूं जिस प्रकार हिरण अपने प्यारे वच्चे

कीं रक्षा के हेतु मृगपति (शेर) तक का सामना करने से नहीं डरता है। आगे के छद में कवि कहते हैं कि मै शठ हूँ और दूसरों को रिझानेवाला पात्र हूं लेकिन फिर भी मुझे भगवान् का प्रेम इस प्रकार भक्ति को वाचाल कर रहा है कि जिस प्रकार वर्षा ऋतु में कोयल आम्र मंजरी को देखकर स्वयं ही मीठे २ गान करने लग जाती है।

आगे ग्रन्थकार भगवान् के प्रति भक्ति प्रगट करते हैं —

चंदोलविंदे न्निदिरोळोप्पदे निदुं करंगळं नोस- ।
ल्गोंदिसि देवदेव करुणाकर विन्नपवात्म सिद्धियि- ॥
न्नेंदे नगप्पु देंदोडेले कंद कडंग दिरिदुं नाळे ये- ।
म्मंदवे यप्पेयेंदु नुडिगेळ्वे नदेदं पराजितेश्वरा ! ॥१२५॥

हे अपराजितेश्वर ! भक्ति के साथ आप के निकट बैठकर दोनों हाथों को संपुटित करके आप के चरण कमलों में अपना मस्तक नवाकर "हे भगवन् ! मुझे आत्मसिद्धि कब प्राप्त होगी" इस प्रकार की मेरी प्रार्थना करने पर आपके कमल मुख से ऐसे शब्द सुनने का सौभाग्य मुझे कब प्राप्त होगा कि "हे बेटा ! तू घबड़ाकर शीघ्रता मत करो। इस प्रकार का अभ्यास करने से तू शीघ्रातिशीघ्र हमारे समान बन जायगा" ॥१२५॥

125. O, Aparajiteshwar ! When shall be fit to be replied by you, when I ask that " O, deity

of deities, incarnation of kindness, when shall I realise my true self, "that" O, Son do not be impatient you shall be like us soon.

विवेचन—ग्रन्थकार भगवान् के प्रति भक्तिवश प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्! भक्ति के साथ आपके पवित्र चरणों के निकट आकर दोनों हाथों को कमल की कलिका के समान जोड़कर आप के चरणकमलों में अपना मस्तक रख कर हम आप से वारबार प्रार्थना करते हैं कि—हे देवाधिदेव, दयाधर्मोत्पत्ति के स्थान रूप हे दयानिधे, हे जिनेन्द्र देव भगवन्! मुझे आत्मसिद्धि कब प्राप्त होगी?

भक्त की ऐसी प्रार्थना सुनने पर भगवान् कहते हैं कि—हे भव्यात्मन्! हे वत्स! तुम घबड़ाकर शीघ्रता मत करो। यदि तुम श्रद्धापूर्वक इसी प्रकार की भावना करोगे, तो शीघ्र ही हमारे समान होकर परम सुख के धाम मे पहुँच जाओगे। इस प्रकार भगवान् अपने मुख से प्रत्यक्ष मुझे बेटा कहकर मेरे मस्तक पर अपना पवित्र वरद हस्त कब रक्खेंगे तथा साक्षात् भगवान के वचन सुनने का कृपा पात्र मैं कब बनूँगा? हे भगवन्! मुझे अपनी भक्ति का योग्य पात्र शीघ्र बनाइये, हे नाथ! मैं देशभूषण नामक मुनि संसार से घबड़ाकर अपने संपूर्ण परिग्रह व इन्द्रिय वासनाओं को त्यागकर भक्तिरस के लिये पिपासित आप के चरण कमलों में जल का अन्वेषण करते हुए प्यासे

पपीहे के समान संसार से पागल होकर लवलीन हूं। इसलिये हे भगवन ! आप साक्षात् होकर हमें अपना उपदेशामृत पान कराके अपनी शरण में शीघ्रातिशीघ्र लगा लीजिए। अब अधिक समय तक तमाशा न देखकर मेरे ऊपर शीघ्र अपनी अमोघ कृपा कीजिये, यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है ॥१२५॥

आगे के श्लोक में ग्रन्थकार का भगवान् के प्रति भक्ति के साथ विशेष उद्गार वर्णन करते हैं।

मुन्नमनेकरं भवदिनेत्ति यशोनिधियादे यादोडें ।
निन्न दयागुणक्कदु विशेसमे मूर्खन नतिरौद्रनं ॥
नन्न पवित्र माडिदोडे दोड्डपेसर्वनकीति देब भू- ।
तेन्नदिरोप्पुगोळ्नगदिरै शरणागपराजितेश्वरा ! ॥१२६॥

हे अपराजितेश्वर ! आप पहले अनेक संसारी जीवों को ससार से पार उतार कर यश के पात्र हुए तो इससे क्या हुआ ? क्या वह आपके दयागुण का विशेष कार्य है ? मूर्ख अज्ञानी आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान परायण मुझ जैसे को पवित्र करने से आपका महान् नाम व यश फैल जायगा। हे स्वामिन् ! ये सभी बातें अतिशयोक्ति हैं,हे भगवन्, मेरी बात को मान लीजिये हँसिये नहीं क्योंकि यह हँसी की बात नहीं है। अतः शीघ्र ही मेरी रक्षा कीजिये ॥१२६॥

126. O Aparajiteshwar ! It is no great thing that you have liberated so many soul in the past

But liberating me who is a foolish, cruel absorbed in ill thoughts, shall really make you famous. Do not tell me Lord, that these are exaggerations things of laughter. I tell you truth Save me, Lord

विवेचन—ग्रन्थकार भगवान के प्रति प्रार्थना के रूप में कहते हैं कि हे भगवन ! आप पूर्वकाल में संसारसागर में डूबते हुए अनेक जीवों को उठाकर किनारे पर लगाने के कारण उत्तम यश के पात्र हुये तो क्या हुआ ? क्या आप का यह दया भाव विशेष कार्य कहलायेगा ? नहीं। जो लोग रत्नत्रय को धारण करके दुर्द्धर तप के द्वारा स्वयं कर्मों की निर्जरा कर चुके हैं ऐसे लोगों के तारने में मैं आप का कोई विशेष महत्व नहीं समझता; पर यदि मुझ जैसे मंद बुद्धिवाले मूर्ख, दया हीन, तत्त्व श्रद्धान व रत्नत्रय धर्मश्रद्धान से विमुख, रौद्रध्यानरत, दीर्घसंसारी, पापाचारी, दशधर्म विहीन पापी को संसार से मुक्त करके परम पवित्र करेंगे, तो आप बहुत बड़े यशस्वी कहलायेंगे। क्योंकि हे भगवन् ! यह अतिशयोक्ति है । हे दयानिधे ! मैं सचमुच संसार के भयानक दुःखों से दुःखी होकर आप के पावन चरण-कमलों में पड़कर बारबार प्रार्थना करता हूं कि हे नाथ ! मेरी बातों पर अविश्वास तथा मेरी मूर्खता पर हास्य न करके यथा शीघ्र मुझ दीन पर दया करो ।

हे भगवन् ! और भी मेरे पापों का पारावार नहीं है । मुझसे

प्रमाद वश जान या अनजान में जोकोई पाप हो गये हैं, उन सबका निराकरण मै करता हूं:—

हे भगवन ! इर्यापथ सम्बन्धी प्राणियों की विराधना होनेपर, किये हुये दोषों का मैं निराकरण करता हूं । मेरे मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और कायगुप्ति से रहित होते हुए, शीघ्र चलने में प्रथम ही स्वस्थान से निकलने में, ठहरने में गमन करने में, सिकोड़ने पसारने रूप पैरों के हिलाने चलाने मे, श्वासोच्छ्वास लेने मे अथवा दो इन्द्रिय आदि प्राणी के ऊपर प्रमाद पूर्वक चलने में, वीजो के ऊपर होकर चलने में हरितकाय पर होकर चलने मे, मल मूत्रके प्रक्षेपण करने मे, थूकने श्लेष्म कफ डालने, कमण्डलु, आदि उपकरण के रखने मे जो मैने एकन्द्रिय जीवों को, दो इन्द्रिय जीवों को, तीन इन्द्रिय जीवों को, चार इन्द्रिय जीवों तथा पचेन्द्रिय जीवों को, अपने अपने स्थान पर जाते हुये को रोका हो, अपने इष्ट स्थान से उठाकर अन्य स्थान मे क्षेपण किया हो, परस्पर में सहनन पीड़ा पहुँचाई हो उनका एक जगह पुज किया हो, मारा हो, सताप पहुँचाया हो, खण्ड २ किया हो, मूर्छित (बेहोश) किया हो, कतरा हो विदारा हो, ये जीव अपने स्थान में से ही स्थित हों अथवा अपने स्थान से दूसरे स्थान को जाते हों उस समय उनकी उक्त प्रकार से उक्त स्थानों में विराधना की हो तो जब तक मैं भगवत् अर्हतों को—प्रति-क्रमण का उत्तर गुण स्वरूप अर्थात् किये हुये दोषों का निराकरण

करने का कारण होने से उत्कृष्ट जीवों की विराधना से उत्पन्न हुये दोषों को दूर करनेवाला और जीवों की विराधना से उपार्जन किये हुये दुष्कृत्यों से शुद्ध करनेवाला ऐसा नमस्कार करूँ तब तक जिससे पाप का उपार्जन होता है, जिस से दुराचार सेवन किये जाते हैं ऐसे कार्य का त्याग करता हूँ अर्थात् तब तक इनसे ममत्व भाव छोड़ता हूँ।

आगे के श्लोक में भगवान् की महिमा का वर्णन करते हैं—

श्री शुभवेत्त मेरुनगदिद्रदिशास्थितवत्सकावती- ।
देशदोळिर्दपै विजित घाति चतुष्क जगत्रयार्चिता ॥
लेशमादोडं पुदिद पुद्गलदल्लिरलारेनय्य स- ।
वेंश शरण्य गण्य तळुवें शरणागपराजितेश्वरा ! ॥१२७॥

हे अपराजितेश्वर ! ज्ञानावरणीय,दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय इन चारों घातिया कर्मों को जीते हुए तीनों लोकों के भव्य जीवके द्वारा पूजनीय हे भगवन्! आप अतिशय शोभासे युक्त, मंगल कारी, श्रेष्ठ, मेरु पर्वत की पूर्व दिशामें रहने वाली वत्सकावती नामकी नगरी में रहते हैं; हे भगवन् ! इस पुद्गल में मैं कितने दिन तक बन्द रहूँ ? अब एक पल भर भी मैं इसमें रहना पसंद नहीं करता हूँ, अर्थात् इसमें मैं रहना नहीं चाहता हूँ, सभी के स्वामी हे जिनेन्द्रदेव शरणागतपाल ! अब हमें मुक्त करने में देरी किस बात की है ? ॥१२७॥

127. O, Aparajiteshwar ! the winnerof four ghatia karmas, worshipped by three words. How many days have I to live in the matter I do not want to live even for a moment. O, Lord of lord, the noblest. Save me.

विवेचनः—ग्रन्थकार की अन्तिम प्रार्थना है कि हे भगवन् ! आपने ज्ञानावर्णीय, दर्शनावर्णीय, मोहनीय और अन्तराय ऐसे चार घातिय कर्मों को नाश करके तथा जीत करके तीनों लोक के सम्पूर्ण जीवों के द्वारा पूजनीय होकर सम्पूर्ण जगत् में अपनी कीर्ति या आत्मस्वरूपी ज्ञान का प्रकाश चारों ओर फैलाया है। आप की शोभा के योग्य तथा मगलमय महामेरु पर्वत की पूर्व दिशा में वत्सकावती नामके सुन्दर नगर में आप विराजमान रहते हैं।

इस श्लोक का सार यह है कि ग्रन्थकार रत्नाकर कवि ने पूर्व विदेह क्षेत्र में रहनेवाले अजितवीर्य नामके बीसवें तीर्थंकर का इस श्लोक में वर्णन किया है क्योंकि उन तीर्थंकरों पर उनकी अधिक भक्ति व प्रेम दीखता है और प्रत्येक श्लोक के अन्तिम चरण में अपराजितेश्वरा इत्यादि विशेषणो के द्वारा उन्हे सम्बोधित किया गया है। अपराजित शब्द इसलिये घोषित किया गया है कि अनन्त वीर्यशाली भगवान् को कोई भी वादी प्रतिवादी पराजित नहीं कर सकता और वे वीतराग पद को प्राप्त हो गये हैं। इसलिये उनको दूसरा अपराजित नाम से सम्बोधित किया

गया है और उनका उद्देश्य यह भी था कि मैं भी इन भगवान् के समान अपराजित होकर रहूँ। यानी मैं भी उस भगवान् अपराजितेश्वर के समान शरीर से परे रहूँ। इसलिये मेरा नाम अपराजित है। इस आशय को लेकर यह अपराजितेश्वर शतक नामक काव्य तैयार किया गया है।

अन्तिम प्रार्थना ग्रन्थकार की यह है कि हे दीनदयालुदयानिधे ! हे भगवन् ! इस ससार से मै अत्यन्त भयभीत हुआ हूँ। हे नाथ ! इस दु.ख रूपी जड़ में, इस पुद्गलमय शरीररूपी कैदखाने मे मै कहाँ तक पड़ा रहू ? हे भगवन् ! इस शरीर मे पांच मिनट भी रहना मुझे भयानक प्रतीत होता है। इसलिये शीघ्र ही इस गड्ढे से उठाकर किनारे से लगाओ, यही मेरी अन्तिम प्राथना है और मेरे हृदय मे यही भावना रहे कि.—

शास्त्राभ्यासो जिनपदनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम् ॥
सर्वस्यापि प्रियहितवचो, भावना चात्मतत्त्वे।
सम्पद्यन्तां मम भव भवे, यावदेतेऽपवर्गः ॥

भावार्थ—हे जिनेश्वर ! जब तक मोक्ष न हो तब तक भव भव मे इतनी बातें प्राप्त हों। (१) शास्त्र स्वाध्याय में सदा प्रवृत्ति बनी रहे। (२) जिनेन्द्र भगवान् के चरणों मे सदैव भक्ति बनी रहे। (३) उत्तम पुरुषों की सगति बनी रहे। (४) महान् पुरुषों के गुणों की कथा करने में रुचि रहे। (५) दूसरों की निन्दा करने मैं सदैव मौन बना रहूँ। (६) सबसे हितमित प्रिय वचन बोलूं।

(७) आत्मतत्त्व के विचार में लीन रहूं। इसी प्रकार की पवित्र भावना मेरे हृदय में सदा बनी रहे।

जिनपद् यद्भक्तिर्भावना जैनतत्त्वे ।
विषयसुख विरत्तिर्मित्रता सत्यवर्गे ॥
श्रुतिशमयम शक्तिर्मूकतान्यस्यदोषे ।
मम भवतिवोधो, यावदाप्नोति मुक्तिम् ॥

हे वीतराग ! मेरे हृदय में सदैव आप के चरणों की निर्मल भक्ति बनी रहे। जैनागम के अभ्यास मे सदैव जिज्ञासा बनी रहे। शास्त्र के पठन में रुचि, शांति परिणामों और ध्यान की शक्ति बढ़ाने में मैं सदा प्रयत्न शील रहूं। दूसरों के दोषों मे मौन हो जाऊ। जबतक मुझे पूर्ण केवल ज्ञान की प्राप्ति न हो जाय तब तक इसी प्रकार की निर्मल भावना बनी रहे।

मेरे हृदय में यही भावना रहे—

मैं हाथ जोड़ नवाय मस्तक, वीनऊं तव चरण जी।
सर्वोत्कृष्ट त्रिलोकपति जिन, सुनो तारण तरण जी॥
जाचूं नहीं सुरवास पुनि, नर राज परिजन साथ जी।
बुध जाचहूं तव भक्ति भव भव दीजिये शिवनाथ जी॥

हे परमात्मन् ! मै न तो इन्द्रका पद चाहता हूँ और न चक्रवर्ती पद। मेरे हृदय में तो यही भावना है कि सदैव आपके चरणों की भक्ति बनी रहे।

मैं आप से यही वर चाहता हूं—

दोष रहित जिनदेव जी, निजपद दीज्यो मोहि ।
सब जीवन के सुख बढ़े, आनन्दमंगल होय ॥

हे भगवन् ! आप दोषरहित हैं मुझे आप अपना पद दीजिये । जिससे सब जीवों को सुख मिले और आनन्द की प्राप्ति हो ।

अनुभव माणिक पारखी जौंहरी आप जिनेन्द्र ।
ये ही वर मोहि दीजिये, चरण शरण आनन्द ॥

हे सर्वज्ञदेव ! आप अनुभव रूपी मणि के पारखी हो, मुझे इसी प्रकार का वर दीजिये जिससे कि मैं भी आपके समान बनूं और त्रिकाल आप के चरणों की शरण को प्राप्त कर आनन्द को प्राप्त करूं । मैं चाहता हूं—

यद्यस्ति नाथ भवदंघ्रि सरोरुहाणां ।
भक्तेः फलं किमपि सन्तत सञ्चितायाः ॥
तन्मे त्वदेक शरणस्य शरण्य भूयाः ।
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥

हे नाथ ! आप के चरण कमलों की भक्ति का फल यही हो कि मै सदैव आप के चरणों की भक्ति करता रहू । इस लोक और परलोक दोनों में ही मेरे हृदयमे आप की विशुद्ध भक्ति बनी रहे ।

प्रति दिन इस प्रकार की भावना रहे—

दुक्खखओ, कम्मखओ, बोहि लाहो सुगइ गमणं ।
सम्मं समाहिमरणं जिनगुण सम्पत्ति होउ मज्झं ॥

हे जिनेश्वर ! मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, मुझे बोधि लाभ की प्राप्ति हो। उत्तम गति की प्राप्ति हो। सम्यग् समाधि की प्राप्ति हो और मुझे निजात्म रूपी सम्पत्ति की प्राप्ति हो।

मेरे हृदय में ऐसी भावना बनी रहे—

सुश्रद्धा मम ते मते, स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते ।
हस्तांवञ्जलये कथा श्रुतिरतः, कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ॥
स्तुत्यां व्यसनं शिरोनति परं, सेवे दृशी येन ते ।
तेजस्वी सुजनोऽहं सुकृति तेनैव तेजः पते ॥

हे भगवन् ! मेरी आप के प्रति निर्मल भक्ति है। इसलिए मेरी सुश्रद्धा है। मेरी मति सदा आपके चरणों मे बनी रहे। मेरे मन में आप की स्मृति बनी रहे, मैं सदा आप की अर्चना करता रहूँ, दोनों हाथों द्वारा सदैव आप की पूजा करता रहूँ, कानों द्वारा आप की कथा सुनता रहू, और आँखों द्वारा आप के दर्शन करता रहूँ। हे जिनेश्वर ! मुझे आप की स्तुति करने का व्यसन है। मेरा मस्तक आप के लिये ही झुकता है। इसलिये हे वीतराग ! मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूं, पुण्यवान् हूँ, और तेरा तेज मेरे भीतर आ गया है इसलिए मैं भी तेजस्वी हूं,

हे भगवन् ! मैंने आप की स्तुति न तो राग से की है और न द्वेष से, क्योंकि आपने राग द्वेष दोनों को त्याग दिया है। मेरे मन में आप के गुणों की भक्ति है। इसलिए आप की स्तुति मैंने की है ? ॥१२७॥

भगवान का ग्रन्थकार की प्रार्थना पर अभय वचन

त्रिगत्स्वामिगळिर्द्पर्धरेयोळीगळ्दूरवल्लिर्दोडी ।
विजयार्धं हिमवद्वयं निषधमेवी नाल्कु पेर्गोडेगळ् ॥
प्रजेगड्डैसिद्वैसेकाएवेरिमडतीराधनं माडिरो ।
निजदिदेस्मपराजिश्वरनुमं श्रीमदर स्वामियं ॥१२८॥

इस समय इस पृथ्वी में भी त्रैलोक्याधिपति ऐसे महान् तीर्थंकर दूर में हैं वहाँ रहने पर भी इस विजयार्द्ध पर्वत, हिमवान पर्वत, महाहिमवान पर्वत, निषध पर्वत ऐसी चार दिवारें प्रजाओं की आड़ में खड़ी हुई हैं, शका मत करो अच्छे तरह भाव लगाकर पूजा करो। यदि इस तरह मन लगाकर पूजोगे, स्तुति करोगे तो निश्चय पूर्वक अपराजितेश्वर अनन्तवीर्य स्वामी और श्रीमदर स्वामी का साक्षात् दर्शन करोगे ॥१२८॥

128. The Lord of the universe, the Tirthankar lives, even at present, encircled by Vijayardh Himvan, Maha Himvan, Nishdha moun-

tains. Harbour no doubt and worship the Tirthankar with devotion If you worship with devotion than certainly will you self Aparajiteshar Anantavirya and Simandhar Swami

ग्रन्थकार के निवेदन के प्रति भगवान् श्रीअरहन्तदेवका आदेश है-हे भव्य जीवात्मन्! घवराओ मत, क्योंकि इस हुंडावसर्पिणी काल नामक पचम काल मे इस पृथ्वी में भी तीर्थंकर विदेह क्षेत्र में अर्थात् दूरी पर मौजूद हैं। परन्तु उनके सद्भाव होते हुए भी उनका दर्शन होना अप्राप्य है। इसका कारण यह है कि उनकी आड़ में विजयार्द्ध पर्वत, हिमवान पर्वत, महाहिमवान और निपध पर्वत हैं। इसलिये उनके दर्शन नहीं हो पाते। अतएव मेरे वचनों पर विश्वास रक्खो। हे भव्य जीवो! सच्चे दिल से यदि तुम श्रद्धा रक्खोगे तो तुम अवश्य ही अपराजितेश्वर भगवान् श्रीमन्दर स्वामी के दर्शन करोगे, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

ई जिन कथेयनु केल्लिदवर पाप, बीज निर्नाशन वड्डु।
तेज वहुडु पुण्य वहुडु मुँदालिदपराजितेश्वरन काणुवरु॥

अर्थ—इस जिनेश्वर की कथा को जो सुनेंगे उनका पाप बीज नष्ट होगा। तेज की वृद्धि होगी। एवम् पुण्य वन्ध होकर अन्त में अपराजित पद को पावेंगे।

प्रेमदिंदिद् नोदिद्रे पडिद्रे के ल्लूद रामोद वुदु वर बरु ।
नेमदि सुरागि नाले श्री मन्दर, स्वामिय काण्वरतिं योक ॥

अर्थः—इस कथा को जो प्रेम से पढ़ेंगे तथा सुनेंगे वे आमोद को प्राप्त होंगे और नियम से देवपद को प्राप्त कर अत में विदेह क्षेत्र में जाकर प्रेम से श्रीमन्दर स्वामी का दर्शन करेंगे ।

तलमेलु पोर गोल गेन्नदे सर्वत्र,तल तल्लि सुव चिन्मयांगा ।
वेल गेरु तेन्नंम दो लिरु सुख, सुलभ चिदम्बर पुरुषा ॥

नीचे ऊपर और बाहर कम ज्यादा रूप में कम बढ़ती न रहते हुए तीनों लोक में समान तथा सर्वत्र प्रकाश से चमकने वाले चिन्मयांग (चित्र तथा चिन्मूर्ति जिनका आत्मस्वरूप है) ऐसे सुख की सुलभता से भव्य जीव को प्राप्त कर देनेवाले हे चिदम्बर पुरुष ! मेरे हृदय में हमेशा प्रकाशमान होते हुए आप स्थिरता पूर्वक बने रहो ऐसी मेरी भावना है ।

महाकवि रत्नाकर के अपराजितेश्वर शतक नाम के कानड़ी ग्रन्थ का अनुवाद करने की उत्कठा मेरे हृदय में उत्पन्न हुई । पर मुझ में इतनी योग्यता नहीं थी कि इस बड़े भक्तिरस पूर्ण उत्तम ग्रन्थ का अनुवाद राष्ट्र भाषा हिन्दी मे करता क्योंकि हमारी मातृ भाषा कर्नाटकी है । इसलिये हिन्दी के अनुवाद करने में त्रुटियां रह जाना स्वाभाविक है । क्योंकि छद्मस्थ पुरुषों द्वारा

प्रयत्न करने पर भी गलतिया होना संभव है। इसलिए विवेकी पुरुषों को दोष छोड़कर गुण ग्रहण करना चाहिये इस ग्रथ में महा कवि ने भक्ति रस के रूपमें बड़े ही सुन्दर ढग से अध्यात्म रस का वर्णन किया है जिसके पढ़ने सुनने से पाठकों को अपूर्व रस का आस्वादन होगा और उनकी आत्मा में शान्ति की प्राप्ति होगी।

श्रीमद् देवेन्द्रकीर्ति योगीश्वर के चरण कमलों में भ्रमर के समान रहनेवाले कवि हंसराज अपरनाम रत्नाकर महाकवि द्वारा अपराजितेश्वर शतक नामका ग्रन्थ समाप्त हुआ।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमोगणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलम् ॥

दीपावली, वीर निर्वाण स० २४८२ दिनाङ्क १४-११-५५

एम.एल. जैन के प्रबन्ध से
सन्मति प्रेस, २०१६ किनारी बाजार देहली में मुद्रित